मध्यकालीन काव्य

सम्पादक

डॉ० विनय कुमार : डॉ० मुरलीधर श्रीवास्तव

बिहार विश्वविद्यालय

भारती भवन

प्रकाशक :
भारती भवन, पटना ४

मुद्रक :
धर्मयुग प्रेस, पटना-३

मूल्य : ६·००

सोल एजेण्ट्स :
भारती भवन (डिस्ट्रीब्यूटर्स)
पटना-४

विषय-क्रम

आमुख

प्रत्येक भाषा के साहित्य के अतीत और वर्त्तमान में, कालप्रवाह के साथ, वैचारिक और सांस्कृतिक परिणतियों के फलस्वरूप, कुछ शताब्दियो के बाद, प्राचीन और नवीन का भेद स्पष्टत: लक्षित होने लगता है। इतिहासकार इस कालप्रवाह को स्थान-स्थान पर खण्डित कर आदि, मध्य और आधुनिक नाम देकर किसी भाषा और साहित्य की ऋजु-कुंचित गतिविधि, प्रगति, परम्परा और विकास को उपस्थित करता है। हिन्दी के इतिहास पर विचार करते ही इतिहास का यह सत्य—प्राचीन और नवीन का अन्तर—जितना उभरकर हमारे मानस पट पर अंकित हो उठता है उतना भारत की किसी अन्य भाषा के इतिहास में नहीं होता। हिन्दी-साहित्य का प्राचीन और नवीन, अतीत और वर्त्तमान केवल भावधारा के अनेक आवर्त्त-परिवर्त्त, मोड़ और दिशा के भेदों के कारण ही विभिन्न नहीं है वरन् आर्यावर्त्त के अधिकांश में व्याप्त, समय-समय पर, भाषा की दृष्टि से भी काव्यक्षेत्र में जो विविध प्रयोग हुए उनका भी यह परिणाम हुआ कि हिन्दी का प्राचीन अर्थात् मध्यकालीन काव्य आधुनिक काव्य से अधिक भिन्न लगता है। बँगला, मराठी, गुजराती इत्यादि के मध्यकालीन और आधुनिक काव्य की भाषा में इतनी और इस प्रकार की अनेकरूपता नही मिलती। मध्यकाल में हिन्दी-क्षेत्र में ब्रजभाषा और अवधी का महत्त्व तथा प्रभुत्व अधिक है पर बहुतेरी रचनाएं जो अन्य जनपदी रूपों में हुई उन्हें भी हम हिन्दी का अंग मानते हैं। अत: हिन्दी के 'मध्यकालीन काव्य' को 'हिन्दी की अनेक जनपदी बोलियों का काव्य' भी हम कह सकते हैं।

आदिकाल में, जब अपभ्रंश का साहित्य जीवित था, उसके कुछ बाद से ही कई ऐसी रचनाएँ मिलने लगती हैं जिन्हें हम कभी 'अपभ्रंशाभास', कभी 'पुरानी हिन्दी' और कभी 'हिन्दी का प्रारम्भिक रूप' मानकर हिन्दी की आरम्भरेखा को बहुत पीछे खीचने लगते हैं। ७वीं से १४वीं शती तक भाषा के विविध और प्राय: अदृढ़प्रमाणाश्रित उपलब्ध पद्यों के आधार पर हम हिन्दी के आदिकाल पर विचार करते हैं। उसके बाद परम्परा से प्रसिद्ध महाकवि चन्द का पृथिवीराजरासो (रासउ) का उदय होता है। इस काव्य के वर्त्तमान रूप की प्रामाणिकता इतिहास और साहित्य के इतिहासशोधकों की परीक्षा का विषय बन गयी है और उसका अन्तिम परीक्षाफल अभी तक प्रकाश में आने की स्थिति में नहीं जान पड़ता। इसके पूर्व की जो-कुछ सामग्री प्रामाणिक रूप में उपलब्ध है वह भाषा के विविध रूपों के विकास और इतिहास की दृष्टि से ही विशेष महत्त्व की है। इतिहास के मध्यकाल में ही हिन्दी का

आदिकाल पड़ता है। पृथिवीराज की पराजय के बाद कुटियों के सन्तों-महात्माओं की वह वाणी हिन्दीभाषी जनता की झोपडियों में गूंजने लगती है जिसपर हमें आज भी उचित गर्व है। अत: 'मध्यकालीन काव्य' से अभिप्रेत है हिन्दी-साहित्य के मध्य-काल के बीच रचित वे काव्य जो निर्गुण-सगुण, ज्ञान-भक्ति तथा उनके भेदों से सम्बद्ध हैं तथा वे ऐहिक काव्य भी जो रीतिकाल में शृंगारी काव्य की सहज प्रेरणा के फलस्वरूप प्रबल हो गये। हमारे मत में भारत मे सदा से दो धाराएँ बहती रहीं— एक आमुष्मिक और दूसरी ऐहिक। जब-जब हमारे जीवन में आमुष्मिकता बढ़ी, महात्मा और सिद्धपुरुषों के आविर्भाव के फलस्वरूप अध्यात्म का प्रखर प्रवाह आया, भारतीय साहित्य अधिक विरागोन्मुख और धार्मिक हो गया, पुन. बाढ़ का पानी उत-रने और बह जाने पर ऐहिक काव्य रचे जाने लगे। अवतारोपासना पर आश्रित भक्ति के प्रवाह के कारण रसिकनागर कृष्ण की प्रेममूला भक्ति मे एक प्रकार से आध्यात्मिकता और ऐहिकता का संगम बनाने का प्रयास दीखता है। हिन्दी-क्षेत्र में भक्ति-आन्दोलन विष्णु के अवतार राम और कृष्ण पर ही आश्रित होकर विकसित हुआ। वैष्णव भक्ति हिन्दी में प्रमुखतः राम और कृष्ण की भक्ति के रूप में ही उदित और विकसित हुई। विष्णु की भक्ति से प्रेरित काव्य नही के बराबर हैं।

भारत की किसी अन्य आधुनिक भाषा में लगभग एक ही कालावधि मे अपनी अनेक उपभाषाओं में काव्य नही रचे गये। यह हिन्दी का ही वैशिष्ट्य है कि मध्यकाल में हिन्दी में एक से अधिक भाषारूप में काव्यप्रणयन का आरम्भ हुआ। इन रूपों में विशेष महत्त्व तो अवश्य ही व्रजभाषा और अवधी का हैं; पर डिंगल-राजस्थानी, पूरबी-मैथिली इत्यादि मे भी रचनाएँ होती रही। हिन्दी में 'पूरब' और 'पछाँह' का अर्थ आर्यावर्त का पूर्वी और पश्चिमी भाग नही, हिन्दी-क्षेत्र का पूरब और पच्छिम होता है। भारत के हृद्देश— कुरु-पाञ्चाल और ब्रह्मावर्त्त—की पवित्र भूमि के परि-पार्श्व के दो रूपों— व्रजी और अवधी—को अन्य जनपदी रूपों के ऊपर महत्त्व दिये जाने का एक कारण धार्मिक-सास्कृतिक भी जान पड़ता है, क्योकि अवताराश्रित सगुण भक्ति के उपास्यदेव कृष्ण और राम की जन्मभूमि की ये भाषाएँ है। इनके पूर्व राजाश्रित काव्यों की भाषा पर राजपूत राजाओं के सत्ता-केन्द्रों के परिपार्श्वप्रदेश की भाषा का प्रभाव स्पष्ट है जो शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित है। हिन्दी की पूर्वी सीमा मिथिला में राजाश्रय में पोषित भाषा-काव्य रचे जा रहे थे। विद्यापति ने अपभ्रंश की परम्परा का निर्वाह मात्र अवहट्ठ की 'कीर्त्तिलता' द्वारा किया। वस्तुतः उनके मानस का रस मैथिली की पदावली में ही छलकता है। इस प्रकार मध्यकालीन काव्य के अन्तर्गत हिन्दी के अनेक स्थानीय और जनपदी प्रयोगों के दर्शन होने है। हिन्दी जनभाषा थी, प्राकृत जन की भाषा थी और जबतक सुशिक्षित-सुसंस्कृत पण्डितों ने

इस जनभाषा को काव्य-भाषा के रूप में अपनाया नहीं तबतक अधिकतर अशिक्षितों की रचनाओं में तद्भव रूपों का बाहुल्य बना रहा और एक ही शब्द अनेक रूपों में मिलता रहा; अक्षरी, लिपिविन्यास आदि की विविधता और बहुरूपता तथा प्राय: लिपिकारों के अल्पज्ञान और प्रमाद के कारण भी शब्दों में विकृति दीखती रही। यह बात निर्गुणधारा और प्रेममार्गी धारा के काव्यो पर विशेषत: लागू है क्योंकि प्राय: वे साधक ओर फकीर शिक्षित नहीं थे, प्राय: वे समाज के निम्नस्तर के थे और सिद्धान्तत: भी पुस्तकीय ज्ञान को साधना से कम महत्त्व देते थे। दूसरी ओर सगुण के उपासक सूर और तुलसी पण्डितकुल के संस्कृत, काव्यपरम्परा से सुपरिचित भागवत तत्त्व के पूर्ण ज्ञाता और शास्त्रपरम्परा के व्याख्याता कवि थे। संस्कृत के आध्यात्मिक काव्य के मधु को इन दो महाकवियों ने अपने 'सागर' और 'मानस'-रूप पद्य में सम्पुटित कर दिया। पुन: संस्कृताभिमानी केशव ने 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचना द्वारा मधुर ब्रजभाषा को अर्थगौरव भी प्रदान किया। इस प्रकार १६वीं शती तक ब्रजभाषा सम्पूर्ण हिन्दी-क्षेत्र की सर्वमान्य और सामान्य काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी। हिन्दी के आदिमहाकवि चन्द अपने भाषा के ज्ञान और प्रचण्ड पाण्डित्य का प्रदर्शन कर ही चुके थे। अत: सूर, तुलसी, केशव इत्यादि संस्कृतज्ञ कवियों ने कबीर, जायसी आदि की जनभाषा को काव्यभाषा के उपयुक्त बना दिया।

हिन्दी के अनेक भाषारूपों में रचे मध्यकाल के काव्य हिन्दी की व्यापकता के सबसे पुष्ट प्रमाण हैं। लगभग १८५७ वि० तक मुख्यत: ब्रजभाषा हिन्दी-क्षेत्र की काव्य-भाषा बनी रही। पर लगता है कि हिन्दी-प्रदेश की नागर जनता में बोलचाल में खडीबोली का काफी प्रचार हो चुका था और मुसलमानों के बीच इसका प्रवेश हो जाने के कारण यह व्यवहार की सर्वसुबोध भाषा बन गयी थी। अत: १८०० वि० के लगभग, जब अँगरेजी शासन जम रहा था, खड़ीबोली का लोकव्यवहार में स्थान था। यही कारण है कि गद्य में प्रवेश करने के लिए खड़ीबोली को ब्रजभाषा-गद्य से कोई विवाद नही करना पडा, वह शीघ्र ही गद्य-पद्य में क्षिप्रवेग से चल पडी। परिस्थितियों की प्रेरणा से युग की बदलती हुई आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए 'आगरा-दिल्ली की खडीबोली' का एकछत्र राज्य गद्य-प्रदेश पर स्थापित होते देर न लगी, क्योंकि वह आकाशवेलि नही थी जो ऊपर से आकर सहसा छा गयी हो, वह भी उस कुरु-पाञ्चाल की भूमिजा भाषावेलि थी जिस भूमि के पास-पड़ोस की ही ब्रजभाषा हिन्दी की सामान्य काव्य-भाषा बनी हुई थी। १८५७ वि० के आसपास यह अनुभव होने लगा कि अँगरेजी राज उत्तरभारत में जड पकड़ चुका है और सत्ता, शक्ति तथा व्यापार का केन्द्र अब अँगरेजों की राजधानी में रहेगा। इस प्रकार वैचारिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक दृष्टि से युगान्तर के लक्षण प्रकट हो रहे थे और मध्यकाल का अव-

मान होनेवाला था, ऐसा उस काल के दूरदर्शी महानुभाव अनुभव करने लगे थे। यद्यपि काल की दृष्टि से आधुनिक काल १८५७ वि० के बाद आरम्भ हो जाता है पर हिन्दीभाषी समाज के मानस के उसकी धर्म-चेतना और समाज-चेतना को मथने और झकझोरनेवाला प्रथम आन्दोलन आने मे अभी लगभग अर्धशती की देरी थी। विक्रम की बीसवी शताब्दी में प्रवेश के साथ ही हिन्दी-प्रदेश मे नवयुग की आगमनी बजने लगी और शिक्षितो का मानस प्रखर तरगाघात से हिल्लोलित हो उठा। वस्तुतः हिन्दी-प्रदेश मे १९०० वि० के बाद से ही नवयुग का आरम्भ हुआ। आधुनिकता की सतत प्रेरणा, लोकहित की स्फूर्त्ति, निजभाषा-उन्नति को सब उन्नति का मूल मानने में अखण्ड विश्वास तथा उदार हृदय लेकर जब काशी के 'कवि हरिचंद' भारतेन्दु के रूप मे साहित्याकाश में उदित होकर अमृत-वर्षा करने लगे तब यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दी-साहित्य का मध्यकाल बीत चुका और वह आधुनिक युग में चरण रख चुका है।

मध्यकाल और आधुनिक काल के सम्बन्ध में हमारी क्या दृष्टि है, यह किञ्चित् स्पष्ट करना आवश्यक है। हम इस सकलन के माध्यम से हिन्दी के प्राचीन काव्य का एक ऐसा प्रतिनिधि संग्रह देना चाहते हैं जो मध्यकाल के हिन्दी मानस का दर्पण हो, जिसमें हिन्दीभाषियों का राग-विराग, आशा-आकांक्षा, हर्ष-अमर्ष, ज्ञान और भक्ति, शौर्य और तेज सब-कुछ व्यक्त हो। इसमे सहज समाधि और सुरति-योग में लीन रहनेवाले अध्यात्म के गायक कबीर और सत दादू की निर्गुण वाणी है तो बन्द आँखों से मोहन की रूप-माधुरी देखनेवाले सूर के लीला-पद भी, मिथिला के आम्र-कुञ्जों में शृंगार के विटप-शृंग पर बैठकर कूजनेवाले कविकोकिल के रसपुंज गीत, प्रेम की पीरवाले फकीर सूफी जायसी की गूढ व्यञ्जनावाली प्रेम-कहानी पद्मावत के अंश भी। पुष्टिमार्गी कृष्णोपासक कवियों के युगल-लीला-विहार के साथ रामभक्ति की मन्दाकिनो प्रवाहित करनेवाले गोस्वामीजी की कृतियाँ तथा शृंगार की रीतिबद्ध और रीतिमुक्त धारा के सुकवियो की प्राणस्पर्शी रचनाएँ, शृंगार के अनूठे दोहे, सवैये और कवित्त भी यहाँ संकलित है। हिन्दू-स्वातंत्र्य के रक्षकों और वीरों का यशोगान करनेवाले भूषण और लाल की ओजस्वी रचनाओं के भी उद्धरण है और सूक्ति की प्रवृत्ति को भी इस संकलन में प्रतिनिधित्व प्राप्त है। इस प्रकार यह 'मध्यकालीन काव्य' अपने ढंग का एक ऐसा संग्रह है जिसमें मध्यकाल की सभी प्रवृत्तियाँ और काव्यविधाएँ भी मिल जाती हे। यह संकलन विशेषकर विश्वविद्यालयों के उच्चसाहित्य और प्रतिष्ठा के विद्यार्थियो की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है, पर इसकी उपयोगिता उनके लिए भी है जिनके लिए मूल कृतियाँ सुलभ नहीं हैं।

प्रत्येक धारा की विशेष प्रवृत्तियाँ हैं और उस धारा में बहनेवाले सभी कवियों मे कुछ समान विशिष्टताएँ है। काव्यधाराओं और प्रवृत्तियों पर समीक्षा की दृष्टि से

हिन्दी में कुछ इतिहास और आलोचनाग्रन्थ भी निकले हैं पर ऐसे संकलन नहीं मिलते जिनमें इन काव्यधाराओं के स्रोत और प्रवाह को उचित भूमि प्राप्त हो ।

विश्वास है, यह संकलन एक अभाव की पूर्त्ति सिद्ध होगा ।

वसन्तपंचमी, १६६४ —सम्पादक

मध्यकालीन काव्य की पीठिका

काल अनादि-अनन्त चिरप्रवहमान तत्त्व है। वह निरवधि और अखण्ड है। यह कथन तत्त्वतः सत्य है, पर मानव की मनीषा जब काल पर व्यवहारतः विचार करने में प्रवृत्त हुई, तब उसे आदि-मध्य-अवसान की कल्पना करनी पडी। मनीषी मानव ने चिन्तन-क्षण को 'वर्त्तमान' मानकर, विगत कालखण्ड को 'भूत' और अनागत को 'भविष्य' कहकर अभिहित किया। अतीत का पूर्वभाग आदिकाल है, जिसकी सीमा निर्धारित कर उसके परवर्त्ती काल को मध्यकाल मान लिया जाता है। इतिहास उसी का विवरण हो सकता है, जो घटित हो चुका है; इति + ह + आस, ऐसा ही हुआ, यह तो अतीत के सम्बन्ध में ही कहा जा सकता है। अतः काल-विभाजन के प्रसंग मे आदि और मध्य की सीमा का निर्धारण करना पडता है। साहित्य के इतिहास में आदि-काल और मध्यकाल की सीमाएँ भाषा-भेद, अवस्था-भेद और साहित्यगत प्रवृत्ति-भेद आदि के आधार पर निर्धारित होती है। शुक्लजी ने जब हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे काल-विभाजन करते समय आदिकाल और मध्यकाल की सीमाएँ निर्धारित कीं तब उनके मन मे कुछ ऐसी ही बातें थी। "जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला आता है।······जनता की चित्त वृत्ति बहुत-कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनु-सार होती है।" इस व्यवस्था के अनुसार, शुक्लजी ने आदिकाल स० १०५०-१३७५ और मध्यकाल सं० १३७५-१९०० तक माना है। यहाँ इन सीमाओं के औचित्य-अनौचित्य पर विचार करना हमारा इष्ट नही है (यद्यपि व्यक्तिगत रूप से मध्यकाल को मै १९०० तक ले जाने के पक्ष मे नही हूँ) और चूँकि इस काल-विभाजन को अनेक विद्वानों ने प्रायः स्वीकार कर लिया है, नामकरण मे जो भी भेद दिखाई पडे, अतः हमने भी इस सीमा को ही मुख्यतः मानकर यह संकलन प्रस्तुत किया है।

यह मध्यकाल ही हिन्दी का स्वर्णकाल है, सर्वाधिक समृद्ध काल है। इसी काल में हिन्दी की प्रमुख बोलियों––व्रजभाषा, अवधी और खड़ीबोली तथा हिन्दी-क्षेत्र की सीमान्त बोलियो डिंगल और मैथिली––को काव्यभाषा का रूप मिला और इस प्रकार हिन्दी के इन पच प्रमुख रूपों का साहित्य उदित और विकसित हुआ। मध्यकाल के ही अन्त में खड़ीबोली गद्य का आरम्भ हुआ, यद्यपि इसके छिट-पुट और बिखरे प्रयोग अनेक सन्त कवियों की रचनाओ मे मिलते है। इसी काल मे हिन्दी अपभ्रंश के प्रभाव और परम्परा से मुक्त होकर देशभाषा के रूप मे विकसित हुई और उसका साहित्य

यथार्थ में जनसाहित्य बना। विद्यापति से हरिश्चन्द्र तक—लगभग साढे पॉच सौ व की इस अवधि मे ही हिन्दी में उन महाकवियों का उदय हुआ जिनकी रचनाओं हिन्दीभाषी समाज की भावनाओं और आकाक्षाओं का, धार्मिक और सांस्कृतिक चेत का, सामाजिक और राजनीतिक भावों का स्वर मुखरित हुआ है और जिनके काव्य मे हम हिन्दी-क्षेत्र के जातीय, सामाजिक और धार्मिक जीवन का सुस्पष्ट प्रतिबिम देखते है।

मध्यकाल के पूर्व हिन्दी में एक ही महाकवि उत्पन्न हुआ चन्दबरदाई, जिस हिन्दी का प्रथम महाकाव्य 'पृथ्वीराजरासो' या 'रासउ' रचकर कीर्ति पायी। पर य हिन्दी का दुर्भाग्य है कि जिस रूप मे यह काव्य अब उपलब्ध है और उसके पाठ क लेकर, उसकी प्रामाणिकता को लेकर विद्वानों मे जैसा तीव्र विवाद है, उसके कारए यह कहना कठिन है कि इसका कितना अश शुद्ध है और कितना मिथ्या, कितना अश मूल लेखक का है और कितना क्षेपक।[1] आदिकाल मे रचित अनेक बौद्ध (सिद्ध) य जैन (अपभ्रश) पद्यात्मक कृतियाँ वस्तुत. समुदायविशेष की कृतियाँ होने के कारए शुद्ध काव्य की कसौटी पर कसी जाने पर मूल्यवान नही है। उनमे अनेक केवल भाषा के प्राचीन रूपो को और उसके अनेक भेदो को प्रस्तुत करती है अथवा हमारी धर्म-प्राण सस्कृति के तत्कालीन स्वरूप की प्रकाशिका होने के कारण ही महत्त्वपूर्ण समभी जाती है।

मध्यकाल में हिन्दी-काव्यक्षेत्र अनेक बोलियो या विभाषाओं के जलप्रवाह से उर्वर हुआ है। भाषा की दृष्टि से उस समय की स्थिति पर विचार करना आवश्यक है। 'हिन्दी' नाम वस्तुतः किसी प्रदेशविशेष की भाषा का नही है। वह अब उस क्षेत्र की सभी बोलियों का एक व्यापक नाम है, जो क्षेत्र हरियाना-सीमा के पूर्व मे आरम्भ होकर बंगाल के पश्चिमी छोर तक और दक्षिण में मध्यप्रदेश के हिन्दी-भाषी क्षेत्र तक फैला है। इस विशाल भाग को मध्यकाल में, मुस्लिम शासनकाल मे, 'हिन्दोस्तान' भी कहा जाता था तथा उस 'हिन्दोस्तान' नाम के कारण अब भी बंगाल और दक्खिन में हिन्दीभाषी लोगों को 'हिन्दुस्तानी' कहा जाता है। मध्यकाल का आरम्भ निर्गुण-धारा के सन्त कबीर से होता है। फिर राधाकृष्ण की रसकेलि के मैथिली में गायक, मिथिला की संस्कृत-पण्डितपरम्परा के विद्वान् कवि महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर का उदय होता है। कुछ काल बाद प्रेमाख्यान-धारा के प्रसिद्ध सूफी फकीर जायसी की अवधी की प्रबन्ध-रचना 'पद्मावत' का प्रणयन होता है। उसके बाद व्रजभूमि के प्रथम रससिद्ध कवि सूरदास की सरस-मधुर व्रजभाषा-पदावली का 'सागर' उमड़ता है। आरम्भ में आमुष्मिक भावना का जो प्रखर प्रवाह वेग से बढ़ता दिखाई पड़ता है,

१. डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सुसम्पादित 'पृथ्वीराजरासउ' देखें। चिरगाँव, झाँसी से प्रकाशित।

उसके साथ ही विद्यापति की पदावली मे कृष्ण-काव्य अपने श्रृंगारी आवरण में ऐहिकता की भावना मे भी युक्त है। विद्यापति जयदेव की परम्परा के कवि है। प्रेम का तत्त्व कबीर, विद्यापति और जायसी तीनों में विद्यमान है। कबीर को ज्ञानमार्गी कहना कबीर के साथ न्याय नही है। वे भी भक्ति के ही एक रूप के प्रचारक है, यह हम आगे दिखलाने की चेष्टा करेगे। वे उपनिषदों के ऋषियों की परम्परा के ही ब्रह्म के साक्षी कवि है, जिनमे ज्ञान और दिव्य प्रेम का अपूर्व मिलन हुआ है। जायसी मे ईश्वरीय प्रेम (इश्क हकीकी) और लौकिक प्रेम (इश्क मजाजी) की युगपत् अभिव्यक्ति एक ऐतिहासिक कथानक के माध्यम से हुई है। मध्यकाल के आरम्भ के तीन प्रमुख कवि है कबीर, विद्यापति और जायसी। यह कैसा सयोग है कि इनमें से दो मुसलमान है, सस्कृतपरम्परा से सर्वथा असपृक्त और तीसरे है सस्कृत के पण्डित, महामहोपाध्यायो की परम्परा के मिथिला के राजकवि। प्रायः हम इसे ध्यान मे नही रखते कि इन तीनो महाकवियों के उदयकाल में समय का व्यवधान अधिक नही है। पर इन कवियो की भाषा में बहुत अन्तर है। कदाचित् इनमे कोई भी दूसरे के काव्य से परिचित नही था।

मध्यकाल में काव्यभाषा का स्वरूप

इस काल के विभिन्न कवियों की देशभाषा और उनके द्वारा प्रयुक्त काव्यभाषा पर हम अब विचार करें। कबीर उस काशी के है, जो आर्यावर्त की सास्कृतिक राजधानी के रूप में सदा से प्रसिद्ध रही है। उनकी मातृभाषा काशी-मगहर के बीच की भाषा होनी चाहिए। उसे 'पूरबी' कह सकते है और उसपर पुरानी भोजपुरी की छाया पडी है। जायसी की भाषा अवध के पश्चिमी भाग की अवधी है और विद्यापति की मैथिली। जायसी ने जायस से पास-पड़ोस की जनभाषा में 'पद्मावत' रचा; कबीर ने पूरबी में 'साखी' और 'सबद' लिखे। कबीर और जायसी दोनों ने असंस्कृतज्ञ होने के कारण तद्भव शब्दों को ही महत्त्व दिया। पण्डितकुलोत्पन्न संस्कृतज्ञ विद्यापति की पदावली में तत्सम का खुलकर प्रयोग हुआ है। मिथिला के ज्योतिरीश्वर के 'वर्णरत्नाकर' की भाषा मे भी संस्कृत पदो की प्रचुरता है। सूरदास ने व्रजभूमि की जनभाषा में ही 'सूरसागर' के पदों की रचना की, उस मण्डल के अन्य अष्टछाप के कवियों ने भी व्रज की बोली मे ही कृष्णलीला का गान किया। इन हिन्दू कवियो में, जिनमें ब्राह्मणजातीय कवि अधिक है, संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग स्वाभाविक है। भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव से उस समय देशभाषा में भागवत, रामायण और पुराणों का पठन-पाठन विद्वज्जनों में बढ़ने लगा था, अतः स्मृतिपुराणप्रतिपादित धर्म के उदय के फलस्वरूप भाषा में संस्कृत शब्दों का प्रवाह वेग से आया। केवल अपभ्रंश-परम्परा की लीक पर चलनेवाले कवि उस भाषा में अपभ्रंश-रूपों का प्रयोग कर रहे

थे, अन्यथा १४वीं शती के बाद हिन्दी-क्षेत्र की जनभाषाओं में जो साहित्य रचा जाने लगा, वही वास्तविक अर्थ मे जनसाहित्य है--जनता की तत्कालीन देशभाषा का साहित्य है। सोलहवीं शताब्दी तक रचा गया अपभ्रंश या अपभ्रशप्रभावित काव्य समकालीन भाषा का काव्य नही है। वह तो पूर्वागत कई शताब्दी पूर्व प्रचलित काव्यभाषा का ही प्रतिनिधित्व करता है। खडीबोली-क्षेत्र (मेरठ-दिल्ली की पार्श्व-वर्त्ती भूमि) में उस काल मे कोई काव्य नही रचा गया, जिससे तत्कालीन खड़ीबोली के रूप का ज्ञान हो। दिल्ली के अमीर खुसरो की पहेलियाँ और मुकरियाँ आदि--यदि उनकी भाषा प्रामाणिक मान ली जाय--केवल इसका प्रमाण है कि खड़ीबोली खुसरो के समय प्रचलित थी। लगभग उसी समय खडीबोली 'दक्खिन' में गोल-कुण्डा-बीजापुर राज्यों तक पहुँच चुकी थी, क्योकि दक्खिन में उस बोली में, जिसे 'दक्खिनी' या 'दक्खिनी हिन्दी' कहा जाता है, मुसलमानों द्वारा पद्य-रचना होने लगी थी।

सूरदास और अष्टछाप के कवियों ने ही व्रज की 'बोली' को काव्य रचकर इतना समृद्ध और सशक्त बना दिया कि वह 'व्रजभाषा' हो गयी और काव्यभाषा के रूप में प्रचलित हुई। तुलसीदास ने अपनी मातृभाषा अवधी को, अवधनरेश रामचन्द्र की भूमि की भाषा को, 'रामचरितमानस' रचकर प्रतिष्ठित किया। किन्तु उनके उदय-काल में व्रजभाषा हिन्दी-क्षेत्र की मुख्य काव्यभाषा बन चुकी थी, अतः उन्होंने भी उस भाषा में अनेक काव्य रचे। कृष्ण और राम को इष्टदेव माननेवाले कवि सूरदास और तुलसीदास द्वारा व्रजभाषा और अवधी को काव्य में स्वीकार करने का कारण स्वा-भाविक था, क्योंकि उन कवियो की मातृभाषा क्रमशः व्रज की बोली और अवधी थी। साथ ही, ये भाषाएँ उन प्रदेशों की जनभाषाएँ भी थीं जिन्हें कृष्ण और राम की अवतरण-भूमि बनने का सौभाग्य प्राप्त था। खड़ीबोली उस समय विद्यमान थी, जैसा कि खुसरो और दक्खिनी के कवियों की रचनाओं से प्रमाणित होता है; पर जब खड़ीबोली का सम्बन्ध मुस्लिम शासन के केन्द्र दिल्ली से हो गया और उसमें फारसी, अरबी, तुर्की इत्यादि के शब्दों का तेजी से मिश्रण होने लगा तब धर्मनिष्ठ हिन्दू कवियों को उस बोली में मुस्लिम गन्ध आने लगी और उसके प्रति उनकी रुझान नही रह गयी। हिन्दी के किसी हिन्दू कवि ने उस काल में खड़ीबोली को क्यो नही अपनाया, इसके कारणों पर विचार करना आवश्यक है। अमीर खुसरो की 'खालिकबारी' या फारसी-हिन्दी-पद्यबद्ध कोश इस बात का प्रमाण है कि उस समय मुसलमानों में फारसी का व्यवहार था और वे हिन्दी शब्दों का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे। हिन्दी शब्दों को उस पुस्तक में हम जिस रूप में पाते हैं, देखने से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस समय के अपभ्रंश-काव्यों में प्रयुक्त अपभ्रंश-रूपों को खुसरो हिन्दी नहीं कहते

हैं, वे उन रूपों को हिन्दी नाम देते हैं, जो उस समय की खड़ीबोली, ब्रजभाषा और अवधी के क्षेत्रों मे प्रचलित थे। इससे यह प्रमाणित होता है कि खुसरो के समय अपभ्रंश जनभाषा नही थी।

निर्गुणमार्गी सन्तो की भाषा पर जब हम विचार करते है तो हमारी यह धारणा और भी पुष्ट हो जाती है कि कबीर के उदय के समय अपभ्रंश-भाषा जनभाषा नही थी। अपभ्रंश में वहुत काल तक रचनाएँ होती रही, पर उन रचनाओं की भाषा जनता मे —विशुद्ध हिन्दी-क्षेत्र की जनता मे—कभी बोली नही जाती थी। 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति की 'पदावली' से मिथिला की भाषिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। 'कीर्तिलता' की अवहट्ठ-भाषा मिथिला की पूर्वागत काव्यभाषा है और 'पदावली' की भापा मिथिला की समकालीन भाषा। सन्तों ने अपनी देशभाषा[1] मे ही रचनाएँ की है। जो सन्त जहाँ का था वहाँ की भाषा मे ही उसने उपदेश किया। सन्तो की रचनाओं को 'बानी' कहना भी इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। सन्तों की भाषा उनकी वाणी (बानी) है—अर्थात् उनकी बोलचाल की भाषा है। प्रायः ये सन्त शिक्षित नही थे, इनमें शायद कुछ निरक्षर भी थे। समाज के निम्नस्तर के होने के कारण इन्हे पढ़ने की सुविधा भी न थी। सिद्धान्ततः भी सन्तमार्ग में पुस्तकीय ज्ञान की निन्दा की जाती थी। सन्तों मे भाषाविवेक की आशा व्यर्थ है। वे प्रायः उपदेश करते हुए रमते रहते थे या किसी स्थान पर जम जाते थे और वही से अपना उपदेश मौखिक रूप में देते थे। प्रायः सन्तो के शिष्यों या अनुयायियो ने ही अपने गुरु की 'बानियों' का संग्रह किया था। पहुँचे हुए सन्तो ने स्वयं पुस्तक-रचना का कष्ट नही उठाया। हो सकता है कि कुछ सन्तों ने मसि-कागद का स्पर्श भी किया हो, पर प्रायः ऐसा नही हुआ है। कबीर ने तो स्पष्ट ही कहा है—'मसि कागद छूयो नही. कलम गही नहि हाथ'। अतः सन्तों की भाषा मे एकरूपता की आशा करना और व्याकरणिक दृष्टि से स्थिरता या शुद्धता को खोजना उचित नही। व्याकरणसम्मत भाषा वह लिख सकता है जो शिक्षित हो और साहित्य का ज्ञाता हो। सन्त-बानी में हमे अशिक्षित जनता की भाषा का रूप ही मिलता है। एक ही शब्द के कई रूप इस बात के प्रमाण है कि उस समय किसी एक रूप को शुद्ध नही माना जाता था। छन्द के अनुरोध से या पादपूर्ति आदि की सुविधा के लिए शब्दो मे विकृति कर दी जाती थी। संत हिन्दी-क्षेत्र के सभी भागो में पैदा हुए। कबीर, नानक और दादू के जन्मस्थानों मे कितनी दूरी है! सबकी भाषा के आधार पर हिन्दी संत-साहित्य की भाषा पर

---

१. मध्यकाल में 'देशभाषा' शब्द का ही प्रयोग मिलता है। 'मातृभाषा' शब्द संस्कृत का पुराना समस्त शब्द नहीं है। जहाँ तक मेरा ज्ञान है, यह शब्द प्राचीन संस्कृत-साहित्य में नही मिलता। जान पड़ता है कि यह अँगरेजी के 'मदर टंग' का अनुवाद कर नवीन संस्कृत-समास है। 'देसी नाममाला', देशभाषा, देश्य भाषा, 'देसिल बयना' इत्यादि प्रयोग देखें।

विचार नही हो सकता। सबकी भाषा की अपनी विशेषताएँ है। एक सन्त की बानी का दूसरे प्रदेश में प्रचार हो जाने के बाद उस सन्त की भाषा पर स्थानीय भाषा का रंग चढा दिया जाता था। मुख्य उद्देश्य था सन्त के उपदेश का प्रचार और प्रसार, मूल-भाषा की शुद्धता की रक्षा इष्ट नही थी। अतः सन्त-बानी की भाषा मे व्यवस्था, स्थिरता और एकरूपता नही मिलती। इन सन्तो ने कही-कही खड़ीबोली का प्रयोग किया। इसका एक कारण यह भी है कि इनके उपदेश हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए थे। ये सत्यधर्म के उपदेष्टा थे, किसी धर्मविशेष के प्रचारक नही थे। दक्खिनी का पद्य १४वी शती के बाद मिलने लगता है। सन्त-साहित्य में खड़ीबोली के छिटपुट प्रयोग मिलते है। हिन्दुओं के बीच खडीबोली बहुत दिनों तक 'काव्य की उपेक्षिता' बनी रही। अवधी और ब्रजभाषा ही हिन्दू कवियो की दुलारी या लाडली बोलियाँ थी।

मध्यकाल मे जब बाद में रीतिकाव्य रचा जाने लगा तो शृंगारी काव्य के नायक-नायिका-रूप मे कृष्ण और राधा प्रतिष्ठित हुए। इसके पूर्व कृष्णभक्त कवियों ने राधा-कृष्ण-लीला का गान ब्रजभाषा में ही किया था। अतः रीतिकाव्यधारा में ब्रजभाषा ही सामान्य काव्यभाषा बन गयी। एक समृद्ध काव्यभाषा के रूप मे ब्रजभाषा को कृष्णभक्ति-काव्य में ही स्थान मिल चुका था, अतः रीतिकाल में अवधी ब्रजभाषा से हार गयी। अवधी के सबसे प्रतापी और तेजस्वी कवि तुलसीदासजी भी 'विनयपत्रिका' 'गीतावली' आदि मे ब्रजभाषा का प्रयोग कर काव्यभाषा के रूप मे उसकी महत्ता या उपयुक्तता को स्वीकार कर चुके थे। इस प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि जब फोर्ट विलियम कॉलेज के अँगरेज अधिकारियों ने हिन्दी के खडीबोली-रूप में गद्य लिखाने का निश्चय किया, तब उसके भाषा-मुंशी लल्लूजी लाल कवि ने ब्रजभाषा से खडीबोली में उल्था या रूपान्तर किया था। जब विद्यापति की पदावली चैतन्यप्रवर्तित भक्ति-आन्दोलन मे सादर स्वीकृत हुई तब उसे भी बगाल ने 'ब्रजबुलि' के नाम पर ग्रहण किया। यह भी इस बात का प्रमाण है कि ब्रजभाषा उस समय अवधी से अधिक लोकप्रिय हो चुकी थी। कवियों मे ब्रजभाषा की ओर झुकाव का एक कारण यह भी था कि ब्रजभाषा में गीत-शैली या पदावली-शैली का विकास हो चुका था। अवधी ने प्रबन्धकाव्य की दिशा में ही, 'पद्मावत' और 'मानस' की रचना के बाद, अपनी उत्कृष्टता प्रमाणित की थी। कृष्णकाव्य शृंगारी काव्य के सदृश होने के कारण भी अधिक लोकप्रिय था। अष्टछाप के कवियों द्वारा संवर्धित और रीतिकालीन आचार्यों और कवियों द्वारा पोषित ब्रजभाषा सम्पूर्ण हिन्दी-क्षेत्र में फैल गयी। राजस्थान के राणावश की मीराँबाई ने कुछ रचनाएँ अपनी मातृभाषा मेवाडी मे की, पर जब वे अपने आराध्य की लीलाभूमि ब्रज में आयीं तब उन्होंने भी ब्रजभाषा मे पद रचे।

विद्यापति ने अपनी मातृभाषा या देशभाषा मैथिली में पदावली के पद रचे। इन

पदों का आदर्श जयदेव का 'गीतगोविन्द' है । विद्यापति जयदेव के पथ पर चलने के ही कारण 'अभिनवजयदेव' कहे जाने लगे। उनकी प्रेरणा का उत्स संस्कृत का 'गीतगोविन्द' है । विद्यापति की 'पदावली' व्रज में पहुँची थी या नही, इसका यद्यपि अब तक कोई प्रमाण नहीं मिला है; पर सूर और विद्यापति के पदो मे कई स्थलों पर आश्चर्यजनक साम्य है । जान पडता है कि मध्यकाल में भी, यातायात की असु-विधाएँ रहने पर भी, एक ही रुचि, प्रवृत्ति और साधना के दूरस्थ समानधर्मा सह-पथिक परस्पर मिल जाते थे । मीराँ और जीव गोस्वामी के मिलन की बात कही जाती है ।

अपने देश में समय-समय पर भाषाओं के उदय, प्रसार और विकास का इतिहास देखने से हमें यह ज्ञात होता है कि यहाँ भाषाओं में जागरण किसी महान् धर्मप्रवर्तक या नवीन धार्मिक आन्दोलन के आरम्भ के साथ हुआ है । बुद्धदेव के आगमन के समय बौद्धपालि की उन्नति हुई, प्राकृतों की उन्नति हुई; जैनधर्म के कारण प्राकृत और अपभ्रंश की भी श्रीवृद्धि हुई । भक्ति-आन्दोलन के कारण देशभाषाओ मे काव्यरचना आरम्भ हुई । दूसरा कारण राजाश्रय है । हर्षवर्धन के बाद जब राजपूत-शक्ति का उदय उत्तरभारत मे हुआ और आर्यावर्त की राजशक्ति राजस्थान की ओर दृढ हुई, तब पश्चिमी अपभ्रंश और डिगल मे काव्य रचे जाने लगे । जब कोई भाषा राजाश्रय या धर्माश्रय पाकर साहित्यभाषा बन जाती है और जब उसे नियमो की शृखला मे जकड़-कर स्थिर बनाने का प्रयत्न किया जाता है तब कुछ शताब्दियों के बाद वह जनभाषा से दूर पड़ जाती है । कुछ कवि पुरानी भाषा से चिपके रहते है और प्राचीन भाषा का मोह त्यागना उनके लिए कठिन हो जाता है । खडीबोली के एक सौ साल तक गद्य में प्रयोग के बाद भी कुछ विद्वान् पद्यभाषा के रूप में उसका विरोध करते थे, यह हम देख चुके हैं । जब अपभ्रंश जीवित भाषा नहीं रह गयी थी, तब भी भारत के पश्चिमी भाग में चारण-भाटों और जैन मुनियो द्वारा वह पोषित होती रही । उन अपभ्रंश और अपभ्रंशाभास डिगल के कवियों ने अपनी समकालीन भाषा में लिखना आवश्यक नही समझा । अपभ्रंश के कुछ लक्षणों को देखकर उसके वैयाकरणों ने उसके भी स्थिर नियम बनाकर उसे बाँधना चाहा । इसका फल यह हुआ कि अप-भ्रंश जीवित जनभाषा से दूर पड गयी । जनभाषा मे स्वाभाविक गति से परिवर्तन होते रहे, पर अपभ्रंश का रूप स्थिर हो गया । देशभाषाओं (आर्यावर्त की आधुनिक भाषाओं) के आरम्भ के बहुत काल बाद तक अपभ्रंश में कविगण कविता रचते रहे । विक्रम की चौदहवी शताब्दी मे देशभाषाओं का निश्चय ही उदय हो चुका था, पर अभी तक उस काल के देशभाषा के काव्य नहीं मिले है ।

भारत में धार्मिक या सम्प्रदायगत भेद भी भाषा के क्षेत्र मे मिलते है । प्राकृतों के कुछ भेद स्थानीय है--जैसे मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री, पैशाची

इत्यादि । ऐसे भेद किसी विशाल देश में स्वाभाविक हैं । पर बौद्धप्राकृत और जैन-प्राकृत का भेद धार्मिक भेद है । पालि का सम्पूर्ण साहित्य बौद्धधर्म से सम्बद्ध है । वैदिकमार्गीय हिन्दुओं ने पालि भाषा मे अपना साहित्य प्रस्तुत नही किया । पालि-भाषा को वैदिक मतावलम्बियों ने समृद्ध नही किया । जैनधर्मीय ग्रन्थ भी पालि मे नही मिलते । परवर्ती बौद्धकाल में बौद्धों ने संस्कृत के एक विशेष रूप को, जिसे सकर बौद्धसस्कृत रूप कहते है, अपनाया । इसी प्रकार अपभ्रंश के अनेक स्थानीय रूपों के साथ जैन-अपभ्रंश और सामान्य अपभ्रंश का भेद किया जाता है । भाषा के इस प्रकार के धार्मिक भेद दूसरे देशो मे नहीं मिलते । हमे लगता है कि भाषाक्षेत्र मे वर्जन की यह नीति हिन्दी के खडीबोली रूप के साथ भी अपनायी गयी थी । क्या अमीर खुसरो और दक्खिन के मुसलमानों द्वारा इस रूप के अपनाये जाने और उसमें मुसलमानों की भाषाओं--यथा फारसी-अरबी-तुरकी आदि--के मिश्रण को देखकर ही हिन्दू लेखकों ने आरम्भ मे उसकी उपेक्षा की ? मध्यकाल मे हिन्दू लेखकों ने प्रायः खडीबोली हिन्दी का उसी प्रसग में प्रयोग किया है जहाँ कोई मुस्लिम पात्र या मुस्लिम वातावरण हो । हिन्दी और उर्दू दोनो एक ही बोली के दो रूप है, 'हिन्दुई खडी-बोली' हिन्दी है और मुसलमानी खड़ीबोली उर्दू । अभी कुछ दिन पूर्व तक देहातों में खड़ीबोली का प्रयोग करने पर गाँव के लोग कह उठते थे--क्या अरबी-फारसी छाँटते हो ? भाषा के रूपों के साथ धर्म का सम्बन्ध जोडना ठीक नहीं है, पर इस देश मे प्राचीनकाल मे भी ऐसा हुआ था, यह पालि, बौद्धप्राकृत, जैनप्राकृत, जैन-अपभ्रंश, बौद्धसंस्कृत इत्यादि भेदो पर विचार करने पर मानना पड़ता है ।

जब श्रौत-स्मार्त्त धर्म का प्रभाव हिन्दी-क्षेत्र पर बढा और अवैदिक मार्गों का प्रभाव मन्द होते-होते लुप्त हो गया, तब देवभाषाओं में संस्कृत की प्रतिष्ठा पुनः बढी और सस्कृत धर्मग्रन्थों और काव्यों के प्रभाव के फलस्वरूप तत्सम शब्दों की ओर हिन्दी कवियों का झुकाव बढा । तुलसीदास और केशवदास संस्कृत के महान् पण्डित भी थे और भाषाकवि भी । सूरदास के 'सूरसागर' को देखने से यह स्पष्ट होता है कि वे 'भागवतपुराण' और 'हरिवश' के पूरे ज्ञाता थे और साहित्यशास्त्र और अलंकार-शास्त्र के भी अच्छे जानकार थे । विद्यापति ने लगभग एक दर्जन संस्कृत पुस्तको की रचना की थी । अतः इन सस्कृतज्ञ ब्राह्मण कवियों की भाषा मे संस्कृत शब्दावली अधिक है । सन्तो मे सुन्दरदास ही संस्कृत के और काव्यशास्त्र के पण्डित है । अन्य सन्त विद्वान् नहीं, साधक हैं, त्यागी पुरुष हैं, जिनका ध्येय अपने आध्यात्मिक अनुभव को सामान्य जन तक पहुँचाना है, भाषा और साहित्य का ज्ञानप्रदर्शन करना नही । अतः हम यह देखते है कि जब हिन्दीक्षेत्रीय समाज मे श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित धर्म प्रबल हुआ तब संस्कृत के शब्दों का प्रवेश वेग से बढ़ा । उस समय ऐसे सैकडों शब्द हिन्दी में सस्कृत से सीधे आये । उनमें प्राकृत और अपभ्रंश के नियमानुसार

विकार नही हुए। हिन्दी में सैकडों ऐसे तद्भव है, जो प्राकृत-अपभ्रंश-रूपों की अपेक्षा संस्कृत-रूप के अधिक निकट है। निर्गुणी सन्त प्रायः शूद्र या पिछड़ी जाति के थे। सन्तो और प्रेमाख्यानक कवियों में तद्भव शब्द अधिक मिलते है। 'सूर-सागर', 'मानस' ओर 'विनयपत्रिका' मे भाषा का स्तर सभी स्थलों में एक समान नही है। सूर के पदों में प्रायः तद्भव और तत्सम का सन्तुलन है, पर ऐसे पद भी 'सूर-सागर' मे मिलते हैं जिनमे तत्समता की ओर पलड़ा झुका हुआ है। विषय की गम्भीरता के कारण 'मानस' का बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड अयोध्याकाण्ड की अपेक्षा अधिक तत्समुखी है। किसी कवि की भाषाशैली प्रायः उसकी शिक्षा, संस्कार, प्राचीन साहित्य के ज्ञान इत्यादि पर निर्भर करती है। अवधी में 'पद्मावत' और 'मानस' दोनो रचे गये। एक की भाषा ग्रामीण अवधी तो दूसरे की परिष्कृत अवधी। इस अन्तर का प्रमुख कारण है दोनो महाकवियों के मानसिक आवेष्टन में भेद। मात्र तद्भव शब्दों द्वारा गूढ भावव्यंजना 'पद्मावत' की चरम उपलब्धि है। तुलसी सरल और कठिन तद्भवमुखी और तत्समुखी दोनो प्रकार की अवधी लिखने में समर्थ है। व्रजभाषा पर भी उनका पूरा अधिकार है। भाषा की कसौटी पर परखने पर भी तुलसीदास के समकक्ष कोई नही टिकता।

पृथ्वीराज की पराजय के बाद हिन्दी-क्षेत्र में कोई प्रतापी हिन्दू नरेश नही हुआ। जब मध्यदेश मे गहरवारों का आधिपत्य हुआ तब उस वश ने देशभाषा को प्रश्रय नहीं दिया। यह राजवश सस्कृत का प्रोत्साहक और वैदिकधर्मानुयायी था। काशी और कान्यकुब्ज-(कन्नौज) प्रदेश इनके अधीन थे। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, इस राजवश ने देशी भाषा और उसके साहित्य को अपनी राजभाषा मे आश्रय नही दिया "और यही कारण है कि जहाँ तक उनका राज्य था, वहाँ तक का कोई देश-भाषा का साहित्य सुरक्षित नही रह सका। अन्तिम पीढ़ियो में ये लोग देशी भाषा के साहित्य को प्रोत्साहन देने लगे थे, किन्तु तब तक दुर्भाग्य का प्रहार हुआ और सम्पूर्ण उत्तरी भारत विदेशी शासन से आक्रान्त हो गया।"[1] अतः उस काल में हिन्दी-क्षेत्र में कवियो को राजाश्रय नही मिला। कवियो की रचनाएँ धर्माश्रय या लोकाश्रय पाकर ही जनता में प्रसारित होती है। राजाश्रय मे कवियो को संरक्षण मिलता है, पर धर्माश्रय और लोकाश्रय राजाश्रय से अधिक स्थायी है। भक्तिकाल में भक्तो और सन्तों का साहित्य लोकाश्रय और धर्माश्रय पाकर समस्त हिन्दी-क्षेत्र मे फैला। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी यह भी कहते हैं कि गहरवारों के शासनकाल में समूचा हिन्दी-भाषी क्षेत्र स्मार्त्तमतानुयायी था। इस राजवंश के क्षीण होने पर अजमेर और कालिजर में राजपूत-शक्ति स्थापित हुई, पर ये दोनों क्षेत्र शुद्ध हिन्दी-क्षेत्र के बाहर

---

१. 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' पृ० ३५।

है। इन राज्यों में आश्रित राजप्रशस्तिगायक चारण-भाटों का रचा हुआ काव्य अपभ्रंश और राजस्थानी या डिगल मे है। हिन्दी-क्षेत्र मे भक्ति-आन्दोलन के पूर्व सबमे अधिक प्रभावशाली धार्मिक सम्प्रदाय गोरखपंथी नाथ योगियों का था। कबीर ने बार-बार इस सम्प्रदाय के 'जोगियों' की चर्चा की है और गोरखनाथ का भी उल्लेख किया है। जान पड़ता है कि उस काल मे अपनी सिद्धियों और चमत्कारों के कारण हिन्दी-क्षेत्र पर गोरखपंथियो का ही सबसे अधिक प्रभाव था। 'गोरखपुर' और 'गोरखा' जाति आदि नाम इस प्रभाव को सूचित करते है। कबीर को गोरखपंथ, भक्ति मे विरहित होने के कारण, पसन्द नही था। गोरखपंथ सिद्धान्ततः शैवमत से सम्बद्ध, हठयोग से पुष्ट, सिद्धियो मे विश्वास करनेवाला मार्ग है। इस मार्ग मे भक्ति मे अधिक ज्ञान और योग का महत्त्व था। आर्यावर्त के पूर्वाचल में उसके पूर्व बौद्धधर्म की वज्रयानशाखा के सिद्धों का प्रभाव था। पर जब यह बौद्धधर्म की शाखा सिद्धपीठ नालन्दा और विक्रमशिला से उखड गयी और इसके सिद्धो को नेपाल होते हुए तिब्बत जाकर शरण लेनी पड़ी, तब इसका प्रभाव हिन्दीभाषी क्षेत्र से समाप्त हो गया। कबीर सिद्धों में किसी बौद्ध सिद्ध का नाम नही लेते, गोरख भी इन सिद्धो मे किसी को महत्त्व नही देते। तिब्बत से जो चौरासी सिद्धों की सूची मिली है उसी मे हमे यह ज्ञात होता है कि गोरख और मत्स्येन्द्रनाथ को बौद्धों की सिद्ध-सूची मे भी स्थान मिला है। सिद्ध-साहित्य की भाषा अपभ्रंश है, पर 'गोरख-बानी' जिस रूप मे उपलब्ध है, वह पुरानी हिन्दी है।

हिन्दी-क्षेत्र के पश्चिमी भाग की भाषिक स्थिति पर पुनर्विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि दिल्ली के पतन और बाद मे काशी-कन्नौज के गहरवार-वंश की पराजय के बाद आर्यावर्त की छाती पर तुर्कों का शासन पूर्णतः स्थापित हो गया। अपभ्रंश और डिगल काव्यपरम्परा के ग्रन्थ राजपूतों के शासन-केन्द्रो मे ही लिखे जाने लगे। रासो-परम्परा के ग्रन्थों की भाषा का आनन्द लेनेवाले राजपूतों के हाथो की तलवारें गिर चुकी थीं और हिन्दी-क्षेत्र के कवियो को अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र राजाओं का आश्रय पाना दुर्लभ हो गया था। राजपूत-राजश्रय मे ही रासो-परम्परा के वीरगाथा-काव्य रचे गये थे। श्री हजारीप्रसादजी का तथा कुछ अन्य विद्वानों का अनुमान है कि मूल-रूप में 'पृथ्वीराजरासो'[1] अपभ्रंश मे ही रचा गया था, बाद मे उसकी भाषा का डिगल मे रूपान्तर कर दिया गया। व्रज और अवधी में रचित काव्यों को कभी राजाश्रय प्राप्त नहीं हुआ। अवध के जायसी, काशी के कबीर, व्रज के अष्टछाप के कवि, तुलसी-दास और नाभादास इत्यादि सन्त और महात्माओं को न राजाश्रय की अभिलाषा थी और न उनलोगो के काल में उन प्रदेशो मे प्रतापी स्वतन्त्र हिन्दू नरेश थे जो उन्हें राजाश्रय देते। व्रजभूमि, अवध और पूरब के काशी-अंचल, सब पर तुर्कों का आधिपत्य

१. डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'पृथ्वीराजरासउ' रूप दिया है।

था। पूर्वीय भारत में केवल मिथिला में विद्यापति के समय तक एक हिन्दू राजवंश बना रहा। अतः मिथिला की राजसभा में ही संस्कृत और स्थानीय देशभाषा मैथिली को राजाश्रय मे फलने-फूलने का अवसर मिला।

दिल्ली में मुसलमानी शासन सुदृढ होने के बाद हिन्दी के एक रूप—मेरठ मे सरहिन्द के बीच की बोली—मे फारसी-अरबी-तुर्की के शब्दों का मिश्रण आरम्भ हो गया। यह खडीबोली उसी जनपद की बोली थी जिसे प्राचीनकाल मे 'कुरु-पांचाल' कहते थे तथा महाभारत-काल में जिसकी राजधानी हस्तिनापुर या इन्द्रप्रस्थ प्रसिद्ध थी। यही प्राचीनकाल में धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र था। खडीबोली इस कुरुप्रदेश की ही बोली थी जिसमें मुसलमानो की विदेशी भाषाओं (फारसी-अरबी-तुर्की आदि) का मिश्रण आरम्भ हुआ। चूँकि भारत में मुसलमान कई मुस्लिम देशो से आये थे, अतः उनके साथ फारसी-अरबी-तुर्की सभी तरह के शब्द आये। अधिक शब्द फारसी के थे और मुसलमानों ने फारसी को ही राजभाषा का पद दिया।

इस प्रकार दिल्ली-स्थित मुस्लिम राजाश्रय में खडाबोली पर फारसी रंग चढने लगा। इस आर्यावर्तीय भाषा को अरबी (फारसी) लिपि का जामा पहनाकर मुसलमान शासक-वर्ग ने हिन्द की जनभाषा के रूप मे अपना लिया। अब वह खडी-बोली, जो शरीर से हिन्दवी या हिन्दी थी, मुस्लिम लिबास में, मुस्लिम शब्दावली के मिश्रण और अरबी लिपि के आवरण में, 'हिन्दुई' नही लगने लगी। अपने इस रूप मे वह हिन्दू कवियों की कविप्रिया नही बन सकी। एक कारण यह भी था कि इस कुरुप्रदेश की निकटदक्षिणवर्तिनी व्रज की बोली 'व्रजभाषा' हिन्दू कवियों द्वारा ग्रहण की जा चुकी थी। इस खडीबोली का रूप, जो अमीर खुसरो के नाम पर प्रचलित मुकरियों और पहेलियों में प्राप्त है, देखने से इतना प्रमाणित होता है कि अमीर खुसरो के समय खडीबोली दिल्ली के पास-पडोस की भाषा थी। जब मुस्लिम शासकों ने 'दक्खिन' (दक्षिणापथ) की ओर पैर बढ़ाया और वहाँ के स्वतन्त्र हिन्दू राज्यों को ध्वस्त कर अपने शासन-केन्द्र स्थापित किये, तब उत्तरभारत के मुस्लिम शासक-वर्ग के साथ यह बोली दक्खिन मे प्रतिष्ठित हो गयी। वहाँ उत्तर की यह खड़ीबोली 'दक्खिनी' के नाम से मुसलमान राजन्यवर्ग की जनभाषा या व्यवहार की भाषा के रूप में प्रचलित हुई। मुसलमानी फौज के सिपाहियो, सरदारो, उमरावो, सौदागरों और अमला-हाकिमों के द्वारा इस 'हिन्दी' बोली का क्रमशः सभी मुस्लिम शासन-केन्द्रों मे प्रवेश हुआ। धीरे-धीरे यह मुस्लिम शिष्टवर्ग में सम्मान पाने लगी और मुस्लिम शासन के सहयोगी हिन्दुओं के बीच भी इसका व्यवहार बढने लगा। १८०० वि० के पूर्व तक यह बोली दिल्ली-आगरा-लखनऊ इत्यादि से दूरस्थित बडे-बडे शहरो में भी—जैसे निजाम-राज्य में हैदराबाद, बीजापुर, गोलकुण्डा आदि में ओर पटना, मुर्शिदाबाद, कलकत्ता आदि पूर्वीय भारत के बड़े नगरों में—हिन्दू-मुस्लिम

समाज में व्यवहार और पारस्परिक सम्पर्क की भाषा बन चुकी थी। अतः जब पलासी के युद्ध के बाद अँगरेजो का शासन बंगाल मे स्थापित हुआ तो उन्होने यह अनुभव किया कि यह बोली ही 'हिन्दुस्तान'[१] की सामान्य भाषा है। इसे यूरोपियो ने 'हिन्दुस्तानी'[२] नाम दिया। १८०० वि० के पूर्व तक यह वस्तुत. 'बोली' ही थी; 'भाषा' या साहित्य-भाषा तो यह तब बनी जब इसमें पुस्तकें रची जाने लगी। अँगरेजों ने जब गद्य की पुस्तके लिखवाने का निश्चय किया तब इस बोली का गद्य लिखाना उन्हें अभीष्ट जान पडा। अँगरेजो की दृष्टि आरम्भ से ही व्यावहारिक थी। उन्हें शासन और व्यापार करना था। अँगरेजों ने बंगाल का राज्य मुस्लिम शासकों को पराजित कर प्राप्त किया था। मुस्लिम शासकों की राजभाषा फारसी थी; पर बोलचाल मे वे जिस भाषा का व्यवहार करते थे वह फारसी नहीं, फारसी शब्दो के मिश्रण से बनी हिन्द की ही एक बोली थी, जिसे वे कभी 'हिन्दी' कभी 'रेखता' और कभी 'जबान-ए-उर्दू' कहते थे। यूरोपियनो ने इस बोली को 'हिन्दुस्तानी' नाम देकर ग्रहण किया। यह नाम शायद उन्हे इसलिए अधिक उपयुक्त लगता था कि अहिन्दीभाषी क्षेत्र में उस काल मे विशिष्ट अर्थ में 'हिन्दोस्तान' हिन्दीभाषी क्षेत्र को कहा जाता था, हिन्दीभाषियों का परिचय 'हिन्दुस्तानी' कहकर दिया जाता था। अँगरेजों ने इस 'हिन्दुस्तानी' के दो प्रचलित रूपो के भेद को भी खूब समझ लिया था। उन्होने यह देखा कि सामान्य शिक्षित नगरवासी हिन्दू अपनी हिन्दुस्तानी मे फारसी-अरबी के शब्दो का अधिक प्रयोग नही करता और फारसी पढे-लिखे मुसलमान या मुस्लिम शासन में योग देनेवाले राजभाषा फारसी में अभ्यस्त हिन्दू अमले ही हिन्दुस्तानी में ऐसे शब्दो का अधिक मिश्रण करते है। फारसी को राजभाषा होने के कारण महत्त्व मिला था, वही बगाल और अवध के नवाबो के दरबार और अदालतो मे प्रयुक्त होती थी। अतः उनकी दृष्टि में उर्दू का, हिन्दुओं के बीच प्रचलित हिन्दुस्तानी के सरल रूप खडीबोली से अधिक महत्त्व था। डॉ० गिलक्रिस्ट अपने समय में यूरोपियनो के बीच सबसे बडे हिन्दुस्तानी के जानकार थे। वे हिन्दुस्तानी के उस रूप के जबर्दस्त हिमायती थे जिसे उर्दू कहते है, क्योंकि उस रूप का घनिष्ठ सम्बन्ध तत्कालीन मुस्लिम राजभाषा फारसी से था। पर वे जब फोर्ट विलियम कॉलेज मे 'प्रथम हिन्दुस्तानी के प्रोफेसर' नियुक्त हुए और अपने भाषा-मुंशियो के सम्पर्क में आये, तब उन्हे यह अनुभव हुआ कि केवल उर्दू का सवर्धन और पोषण करने से उनका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। हिन्दुओ के बीच जो हिन्दुस्तानी का रूप प्रचलित है, अर्थात् जिस रूप में फारसी-अरबी शब्दों का मिश्रण नही होता, वह रूप भी सीखना हिन्दुओं से सम्पर्क

१. फारसी लिखने के लिए अरबी लिपि में कुछ नये अक्षर जोड़े गये।

२. 'हिन्दुस्तानी' या 'हिन्दोस्तानी' दोनों शब्दों से यूरोपियनों का अभिप्राय था, हिन्दी-क्षेत्र की व्यापक भाषा, जो हिन्दू-मुस्लिम शिष्ट समाज और व्यापार के क्षेत्र में प्रचलित थी।

स्थापित करने के लिए आवश्यक है। अतः उन्होने अपने भाषा-मुंशी लल्लूजी लाल कवि को उस रूप में भी गद्य की पुस्तक लिखने को प्रोत्साहित किया। गद्य का रूप कथा-साहित्य मे ही मिलता है, अतः डॉ० गिलक्रिस्ट की प्रेरणा से ही लल्लूजी ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'चन्द्रावती' अथवा 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की थी। डॉ० गिलक्रिस्ट और उस समय के दूसरे यूरोपियन अधिकारियों द्वारा उर्दू को प्रोत्साहन और उसके प्रति पक्षपात को इसी सन्दर्भ में देखना चाहिए। हम देखते है कि दिल्ली के लालकिले में, मुस्लिम राजाश्रय मे, जिस प्रकार 'जबान-ए-उर्दू' का पोषण हुआ था उसी प्रकार 'फोर्ट विलियम' के नाम पर स्थापित फोर्ट विलियम कॉलेज में उर्दू और खड़ीबोली के गद्य को राजाश्रय मिला। इस कॉलेज मे न तो खडी-बोली का जन्म हुआ था, न आविष्कार; यहाँ खड़ीबोली गद्य को मात्र राजाश्रय प्राप्त हुआ था। खड़ीबोली का पद्य सन्तों की 'बानी' मे या वीर-रस के काव्यों मे इधर-उधर बिखरे रूप मे मिल जाता है। खड़ीबोली-गद्य के लिए कुछ उदाहरण भी इसके पूर्व के मिले हैं या मिल सकते है, पर १८६० वि० के पूर्व न 'खड़ीबोली' शब्द का प्रयोग मिलता है और न उसके पूर्व खडीबोली-गद्य की परम्परा का आरम्भ।

अतः १३७५-१९०० वि० के बीच रचित काव्यों का उचित ज्ञान होने के लिए व्रजभाषा और अवधी की प्रकृति और प्रवृत्ति का परिचय आवश्यक है, इसके अध्येता से हिन्दी-क्षेत्र की पश्चिमी सीमा की भाषा राजस्थानी और पूर्वी सीमा की मैथिली के सामान्य ज्ञान की भी अपेक्षा की जाती है। पुनः आदिकाल की काव्य-भाषाओं——अपभ्रंश, अपभ्रंशाभास, अपभंशमिश्रित डिंगल, पुरानी राजस्थानी आदि——का भी कुछ ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि मध्यकाल में भी इन भाषाओं का प्रभाव सर्वथा समाप्त नही हुआ था। जब तक कोई बोली साहित्य-रचना द्वारा पूर्णतः भाषा के रूप में प्रतिष्ठत नहीं हो जाती और जब तक उसमे किसी महान् कृति की रचना नही हो जाती, तब तक वह स्थिर नही होती और उसके पूर्व तक उसमें विविध प्रयोगों के कारण अव्यवस्था की स्थिति बनी रहती है। किसी प्रचण्ड प्रतिभा के लेखक के उदय के बाद उसकी भाषा मानदण्ड बन जाती है और उसके बाद उसके सहवर्ती और परवर्ती साहित्यकार उस महालेखक की भाषा-लीक पर चलने लगते है। खड़ीबोली-गद्य के इतिहास से इस प्रकार की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। लल्लूजी के पूर्ववर्त्ती, सहवर्ती या परवर्ती सभी लेखक खडीबोली-गद्य के प्रयोक्तामात्र थे, उन सबो ने अपनी मति-गति के अनुसार उसे रूप दिया था। यही कारण है कि उसमे व्यवस्था और एकरूपता तब आयी जब हरिश्चन्द्र-जैसे महान् लेखक का उदय हुआ तथा उनकी भाषा के प्रभाव से खड़ीबोली का स्थिर रूप सँवरने-निखरने लगा। ऐसी ही अवस्था सभी बोलियो के प्रथम बार साहित्य-भाषा बनने के समय हुई होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। स्थानभेद मे एक ही बोली के अनेक भेद मिलते हैं। पूर्वागत भाषा के प्रभाव से मुक्त

होने मे भी समय लगता है । प्राकृतो का प्रभाव अपभ्रंश पर और अपभ्रंश का परवर्ती भाषा पर कुछ काल तक बना रहना स्वाभाविक है । सिद्धसाहित्य की सन्ध्या-(संझा) भाषा अपभ्रंश का मानक रूप नही है । वह अपभ्रंश का एक पूर्वी भेदविशेष ही मानी जा सकती है। सभी सिद्ध एक ही स्थान के नही थे । उनमे अधिकतर भारत के पूर्वभाग के थे । इसी से दोहाकोश की भाषा को कभी हिन्दी का, कभी बँगला का और कभी उड़िया का प्राचीन रूप मानने का विद्वानों ने आग्रह किया है । जायसी और तुलसीदास की अवधी मे भी स्थानीय भेद के कारण अन्तर है । अष्टछाप के कवियो के बाद ही ब्रजभाषा ने स्थिर रूप ग्रहण किया । हमारी ऐसी धारणा है कि कबीर ही हिन्दी के प्रथम कवि है जिन्होने समकालीन देशभाषा मे, जनभाषा मे, अपना सन्देश दिया । इसके पूर्व गोरखनाथ की 'बानी' मिलती है । पर उसकी भाषा न तो प्रामाणिक है और न परिपक्व । कविरूप मे गोरखनाथ से कबीर बहुत ऊँचे है । सिद्धो मे भी कोई कबीर के धरातल तक नही उठ सकता । उसके बाद विद्यापति और जायसी आते है । जायसी ने जनभाषा अवधी में 'पद्मावत' की रचना की । सूर और तुलसी की लेखनी का ही प्रताप है कि ब्रजभाषा और अवधी समृद्ध और सशक्त भाषाएं बनीं । कबीर और जायसी मुसलमान है । सूर और तुलसी स्मृति-पुराण-समर्थित भक्तिमार्ग के सगुणोपासक भक्त । विद्यापति संस्कृत-कवियो के दाय को लेकर मैथिली को समृद्ध करते है । इन हिन्दू ब्राह्मण कवियो की भाषा में संस्कृत-शब्दावली का प्रचुर प्रयोग हुआ है ।

मध्यकाल की अनेक काव्यभाषाओ का उल्लेख करने से पाठक को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि ये भाषाएँ परस्परसम्बद्ध नही है और इनमें अन्तर अधिक है । प्रायः सर्वनामों के रूपान्तर, कारक-विभक्तियों और क्रिया के कालबोधक प्रत्ययों में भेद होने के कारण ही हर भाषा मे अन्तर दिखाई पडता है । मूलधातु सबमें एक है । वस्तुतः ये सब भाषाएँ किसी एक भाषा की उपभाषा जान पडती है । वह एक भाषा हिन्दी है जिसकी ब्रजभाषा, अवधी, खड़ीबोली, मैथिली इत्यादि उपभाषाएँ है, जिन्हे मध्यकाल में किसी समय साहित्य-भाषा बनने का गौरव मिला था । हिन्दी की कुछ उपभाषाएँ या बोलियाँ इस गौरव से वंचित रहीं; पर वे भी उस काल में अपने सीमित क्षेत्र मे जनभाषा के रूप मे जीवित थी । कबीर मे भोजपुरी बोली की विद्यमानता के प्रमाण मिलते है । उन उपभाषाओं मे, जिन्हे साहित्य-भाषा बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, संस्कृत-शब्दावली का प्रयोग सामान्यतः हुआ है। संस्कृत के तत्सम और तद्भव दोनों रूपो को हम उन भाषाओं में पाते है । कवियों ने इच्छानुसार कहीं तद्भव रूप का प्रयोग किया है । प्रेमाख्यानधारा और सन्त-बानी में तद्भव रूपों का बाहुल्य है, पर अन्य धाराओं में तद्भव और तत्सम दोनो रूप मिलते हैं । मात्र तद्भव शब्दों को लेकर भी उत्कृष्ट काव्य रचा जा सकता है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण

'पद्मावत' है। इसके बाद ऐसा कोई काव्य प्रेमाख्यानधारा के बाहर नहीं मिलता जिसमें तद्भव का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' इस रूप में दिखाई पड़े। भाषिक दृष्टि से मध्यकालीन काव्य का गम्भीर अनुशीलन होना चाहिए।

हिन्दी वस्तुतः उस बड़े क्षेत्र की अनेक उपभाषाओं या बोलियों का एक समुच्चयबोधक नाम है जिस क्षेत्र मे अवधी, व्रजभाषा और खड़ीबोली, राजस्थानी, मैथिली और भोजपुरी में भी समय-समय पर रचनाएँ होती रही है। हिन्दी एक छोटे और सीमित क्षेत्र की भाषा नही है, अतः उसमें अनेक उपभाषाओं का साहित्य होने के कारण एकरूपता का प्रश्न उठाना ही अनुचित है। अवधी, व्रजभाषा आदि के क्षेत्र भी इतने बड़े है जितने यूरोप के कुछ देशों के क्षेत्र। इस प्रसग मे यह उल्लेख्य है कि मध्यकाल का कोई महाकवि अपनी भाषा को 'भाषा' के सिवा और कोई नाम नही देता। मेरे जानते हिन्दी की विविध उपभाषाओं के आधुनिक नाम––अवधी, मैथिली, भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, खड़ीबोली इत्यादि––अँगरेजी शासनकाल मे प्रचलित हुए है। 'व्रजभाषा' नाम १६वी शताब्दी के बाद सुनाई पड़ने लगता है; पर सूरदास या अष्टछाप के किसी कवि ने कदाचित् इस शब्द का व्यक्तिवाचक सज्ञारूप मे प्रयोग नही किया है। नीचे इसकी पुष्टि के लिए कुछ प्रमाण संकलित है।

जायसी–– आदि अन्त जसि कथ्था अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।

तुलसी–– भाषाबद्ध करब मै सोई। मोरे उर प्रबोध जेहि होई।

का भाषा का सस्कृत, प्रेम चाहियतु साँचु।

विद्यापति–– देसिल बयना सबजन मिट्ठा।

बालचन्द विज्जावइ भाषा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।

('देसिल बयना' 'देशभाषा' का ही पर्याय है।)

कबीर–– बोली हमरी पूरबी[1] ताहि न चीन्है कोइ।
हमरी बोली सो लखै जो पूरब का होइ॥

"सो एक दिन नन्ददास के मन ऐसी आई॥ जो जैसे तुलसीदासजीने रामायण भाषा करी है। सो हमहूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें॥"

––'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता।'

'भाषा' शब्द समास के उत्तरपद के रूप मे प्रथम बार 'व्रजभाषा' शब्द मे ही दिखाई पड़ा। इससे व्रजभाषा का अपनी समकालीन बोलियों मे सर्वाधिक महत्त्व प्रमाणित होता है।

---

१. कबीरपंथी टीकाओं में पूरब की बोली का आध्यात्मिक अर्थ किया गया है। प्रयाग के पूर्व के भाग को अब भी उत्तरप्रदेश में प्रायः 'पूरब' और वहाँ के वासियों को 'पुरबिया' कहा जाता है।

'भाषा' शब्द देशभाषा या देश्य भाषा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।[1] हेमचन्द्र ने 'देशी नाममाला' मे देशभाषा शब्द का अपभ्रंश से अन्तर बतलाया है। देशभाषाओ का काव्य मध्यकाल के आरम्भ मे ही मिलता है। आदिकाल सामान्यत. अपभ्रंश का काल है। उस समय के जिन वीरगाथाकाव्यो या रासोकाव्यो की चर्चा होती है, उनका वर्त्तमान रूप भी १३७५ वि० के बाद का ही प्रमाणित होता है।

अतः भाषा की दृष्टि से हिन्दी की उपभाषाओं मे रचे हुए प्रमुख काव्य मध्यकाल के है और यह काल हमारे साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण काल है।

निर्गुण तत्व और कबीर

निर्गुण और सगुण

भारतीय दर्शन में ब्रह्म वह परमतत्त्व है जिसका वर्णन करने का प्रयत्न करने पर भी ऋषियों ने उसे अनिर्वचनीय कहकर अपनी असमर्थता स्वीकार कर ली है। सभी दृश्य पदार्थो से भिन्न और परे बताने के लिए उस अवाङ्मनस्गोचर परमतत्त्व का निषेधरीति से वर्णन किया गया, उसे अणुरूप में और विराट्-रूप मे समझाया गया, उसकी एकता और सर्वता का नाना रूपों में व्याख्यान किया गया; पर अन्त मे 'नेति-नेति' कहकर अपनी बौद्धिक सीमा के कारण असमर्थता स्वीकार करने को ऋषि विवश हुए। वह ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी तथा निर्गुण और सगुण से परे भी। ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतियाँ 'वह है' (ॐ तत् सत्) के आगे कुछ कह नही सकी। 'वह है' से 'वही है' और 'उसे छोड़कर और कुछ नहीं'—इस 'तत्त्व' (तत् + त्व) का ऋषियो ने

---

१. मेरी धारणा यह है कि यद्यपि 'बोली', 'बयन' और 'भाषा' का प्रायः एक ही अर्थ है, पर व्यवहार में कुछ अन्तर जान पड़ता है। जब किसी 'बोली' में पुस्तकें रची जाने लगती हैं, साहित्य लिखा जाने लगता है तब वह 'बोली' 'भाषा' का पद पा लेती है; बोली = लपित रूप, भाषा = लिखित रूप। प्रत्येक भाषा के ये दो रूप होते हैं— लपित और लिखित; 'कलोकियल' और 'लिटरेरी'। संस्कृत में 'भाषा' का प्रयोग 'बोली' के अर्थ में होता है। पाणिनि ने लौकिक संस्कृत के लिए 'भाषा' का प्रयोग किया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि संस्कृत उस काल में लौकिक भाषा थी। वेदभाषा को 'दैवी वाक्' कहते हैं।

लल्लूजी के समय खड़ीबोली 'बोली' थी, बाद में वह 'भाषा' कहलाने लगी। बंगाल में एक समय 'व्रजबुलि' शब्द का प्रचार था। हो सकता है कि उस समय 'व्रजबोली' शब्द का प्रयोग जनता में प्रचलित हो।

व्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोइ।
मिलै संसकिरत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होइ॥ —भिखारीदास : काव्यनिर्णय

अनुभव किया है। 'ब्रह्म सत्यम्' इसका अनुभव कर लेने पर दूसरे किसी 'सत्य' (सत्ता) का प्रश्न ही नहीं उठता। 'ब्रह्म सत्यम्' के बाद 'जगत् मिथ्या' मानना आवश्यक है। एक की ही सत्ता है; सत्य सदा एक ही होता है, दो नही। 'वह एक है' (एक सत्), 'उस एक का विप्रों ने वहुधा वर्णन किया है' (एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति)। उस एक तत्त्व को ही परमतत्त्व माना गया; जिसके परे कुछ नही, जिससे वडा कुछ नही, जिसके बाहर कुछ नही, जिसमें ही सब-कुछ है; या जो वह सब-कुछ है, जिसकी कल्पना की जा सकती है। वही तत्त्व, वह भारतीय दर्शन का सारसर्वस्व 'ब्रह्म' है। पुनः उसके सम्बन्ध में कहा गया—सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म। वह सत् (सत्य) है, वह चित् (ज्ञान) है, वह अनन्त है। वह सभी सान्त पदार्थों से भिन्न है। सान्त बुद्धि उसे ग्रहण नही कर सकती सान्त के लिए वह अनन्त अग्राह्य है। पर उसकी सत्ता का अनुभव होता है; वह वाणी, मन और इन्द्रिय से परे भले हो। वह एक है, ऐसा एक जिसमे सर्व समाया हुआ है। वह अणुतम से सूक्ष्म और महत्तम से महान् है (अणोरणीयान् महतो महीयान्)। ब्रह्म की अखिलता, पूर्णता, सर्वता और अनन्तता के चमत्कारपूर्ण कथन से श्रुति और उपनिषद्ग्रन्थ भरे पडे है। वह ब्रह्म निर्गुण-सगुण-भेद से ऊपर है, परे है। किन्तु तत्पदवाच्य वह ब्रह्म व्याख्यान के लिए निर्गुण और सगुण भेद से कथित हुआ। वह एक ही नाना रूप में अपना विस्तार करता है। वह अव्यक्त ही इस जगत् में व्यक्त है। वह त्रिगुण से बँधकर जगत्-रूप में व्यक्त हुआ। वह त्रिगुण के योग से बहु हो गया। उसकी अपनी इच्छा से ही ऐसा हुआ (एकोऽहं बहुस्याम्)। अखिल सृष्टि उसका सगुण रूप है। सूर्यचन्द्रादि से प्रकाशित यह आकाश, रजकण से सुमेरु तक यह पृथ्वी, जलविन्दु से अपार लगनेवाला महासागर, अणु से लेकर विराट् रूप में दृश्यमान सकल पदार्थ—सब उस ब्रह्म के ही व्यक्त रूप हैं। उपनिषदों में उस परमतत्त्व का जो वर्णन है, वह कहीं निर्गुण रूप में है और कही सगुण रूप में भी। उसे सच्चिदानन्द कहकर भी हम उसमें चित् (चेतन) और आनन्द गुण का योग कर ही देते है। वह चिद्घन है, वह आनन्दघन है। यह भी उसका ('तत्' का) गुणकथन है। ब्रह्म के सगुण रूप का पुराणो में विस्तार से प्रतिपादन हुआ। वेदों मे ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों का प्रतिपादन हुआ है। सगुणोपासना का अवताराश्रित रूप वेदों में न हो, पर अनेक श्रुतियों मे ब्रह्म के गुणों का उल्लेख हुआ है। निर्गुण और सगुण का भेद तात्त्विक दृष्टि से दर्शन का विषय है। वेदों में त्रिदेवों की कल्पना भी बीजरूप में विद्यमान है, तेंतीस देवों का भी सविस्तर उल्लेख है। किन्तु ऊपर से दीखनेवाले बहुदेववाद के बीच 'एको देव.' की भावना भी श्रुतियों में विद्यमान है। निर्गुण-सगुण का भेद प्राचीन काल से चला आता है। वेदान्त में, वेदों के अन्तिम भाग मे, जिसे उपनिषद् कहते है, उस ब्रह्म का विशद विवेचन है जिसे वेदो का अन्त (लक्ष्य) कहा गया है। वेद ब्रह्म का ही

प्रतिपादन करते है। ब्रह्म का अर्थ 'वेद' भी है। उपनिषदों में ब्रह्म का विवेचन ही नही, ब्रह्मानुभव और ब्रह्मानन्द का वर्णन भी है। ऋषियों ने ब्रह्म का समाधिस्थ होकर 'दर्शन' किया था और उसकी उपासना का मार्ग भी बताया था। ये ऋषि ब्रह्म के साक्षी थे, अतः साक्षात्कार करनेवाले ऋषियों का ज्ञान ही 'दर्शन' कहलाता है। ब्रह्मद्रष्टा ऋषियो का ब्रह्मानुभव ही भारतीय दर्शन का विषय है। ब्रह्म तो अखिलव्यापी परमतत्त्व का, ब्रह्माण्डव्यापी शक्ति का, कॉस्मिक एनर्जी का नाम है। वह निराकार है और साकार भी—साकार इस अर्थ मे कि सब आकारो मे वही व्याप्त है। उपासना का विषय बताते हुए उसे ईश, ईश्वर, एकदेव, परमदेव कथित किया गया।[1] उपनिषद्ग्रन्थ मात्र ज्ञान का प्रतिपादन करते है, जिनका ऐसा मत है उनसे मैं सहमत नहीं हूँ। उपनिषदो में 'उपासना' (भक्ति) भी है। उसे हम निर्गुण उपासना अथवा निर्गुण भक्ति कह सकते हैं।[2]

त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु, शिव—की कल्पना के बाद विष्णु (विश्व मे व्याप्त तत्त्व) की उपासना का मार्ग विकसित हुआ। इस प्रकार वैष्णवभक्ति का आरम्भ हुआ। विष्णु या उनके नारायण-रूप की भक्ति का मार्ग 'भक्तिमार्ग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ काल बाद ऐतिहासिक महापुरुषो को भी—उनके अमित विक्रम, तेज और धर्मपूर्ण आदर्शजीवन के कारण—देवत्व और प्रभुत्व से मण्डित कर दिया गया। पहले राम और कृष्ण को और बाद मे बुद्धदेव को भी प्रभु या भगवान् के रूप में स्वीकृत किया गया। सत्ययुग के बाद त्रेतायुग मे या उसके बाद अवताराश्रित भक्ति का उदय हुआ होगा। आदियुग में अथवा सत्ययुग में ब्रह्म की उपासना और ओंकार की ही महिमा थी। त्रेता मे कर्मकाण्डमय यज्ञों के प्रचलन के कारण ब्रह्म की उपासना का मार्ग कुछ शिथिल पड़ गया। द्वापर में कृष्ण ने उपनिषदों का सारसर्वस्व 'गीता' के रूप मे प्रस्तुत किया। द्वापर के अन्त मे अवताराश्रित भक्तिमार्ग का प्रवाह वेग से बढ़ा। किन्तु अतिप्राचीन काल में ब्रह्म की उपासना का मार्ग, उपनिषदों के आधार पर, प्रशस्त था। विष्णु की भक्ति और बाद में राम-कृष्ण की भक्ति का मार्ग चल पड़ने के बाद सगुण-निर्गुण का भेद इस रूप में माना जाने लगा कि विष्णु या उनके अवतारों में भक्ति सगुण भक्ति है और ब्रह्म या शब्दब्रह्म ओंकार आदि की उपासना करनेवाले निर्गुणोपासक। पुराणों के प्रभाव से सगुण भक्ति का वेग से प्रभाव बढ़ा। किन्तु प्राचीन निर्गुण भक्ति या निर्गुण ज्ञान का मार्ग कभी बन्द नही हुआ। साधकों और

---

१. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

२. 'उपनिषद्' और 'उपासना' शब्दों के गठन को देखिए—
उप + नि + सद्; उप + आस् + अनट् + टाप्।
'सद्' और 'आस्' धातुओं के अर्थ पर विचार करें।

योगियों के बीच निर्गुण की यह उपासना चलती रही। बुद्धदेव के बाद बौद्धधर्म में दो शाखाएँ फूटीं। हीनयान और महायान में बौद्धधर्म के दो रूप दिखाई पड़े। 'महायान' पौराणिक अवतारवादी प्राचीन आर्यधर्म के ढंग पर विकसित हुआ। बाद मे बौद्धधर्म में भी कई भेद हो गये—शून्यवादो, वज्रयानी, सहजयानी। पर योग-साधना और गुह्य मार्ग के रूप मे निर्गुणमार्ग की रीति से बौद्ध साधकों ने भी उपासना-पद्धति चलायी। ज्ञान और योग की प्रतिष्ठा अध्यात्म के क्षेत्र में सदा रही, चाहे धर्म का कोई रूप रहे। हिन्दू-धर्म में भी सिद्ध और सन्तों की परम्परा मे निर्गुण की उपासना चलती रही। नाथपन्थ में योगियो के बीच निर्गुण भावना बनी रही। यह बात सही है कि इस पन्थ के सिद्धों ने ज्ञान और योग को अधिक महत्त्व दिया और अपने मार्ग का सम्बन्ध शिव से जोड़ा, पर निर्गुण भाव को इस पन्थ ने कभी नहीं विस्मृत किया। हिन्दी में कबीर के पूर्व नाथपन्थ में और बौद्ध सिद्धो की चर्चा में निर्गुण उपासना मिलती है। कबीर के पूर्व जब उत्तरभारत में भी दक्षिण से उठा हुआ भक्ति-आन्दोलन प्रबल प्रवाह के रूप में उमडता आया, तब निराकार-निर्गुण के उपासकों ने उसमें भक्ति-तत्त्व का मिश्रण आवश्यक समझा। भक्ति के दक्षिणी आचार्यो ने भक्ति-सिद्धान्त को नारदीय भक्तिसूत्र, विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक प्रस्थान-त्रयी के भाष्यग्रन्थ इत्यादि के आधार पर ही विकसित किया था। स्वामी रामानन्द इस भक्तिप्रवाह के स्रोत को उत्तरापथ पर लानेवाले भगीरथ थे। उन्होंने भक्ति का सन्देश सुनाया और श्रुति-स्मृति-पुराण-सम्मत भक्ति का प्रचार किया। इस भक्ति-प्रवाह के जीवनदायी शीतल स्पर्श से सभी प्रभावित हुए। रामानन्द देशभाषा में उत्तर-भारत मे भक्ति के प्रबल प्रचारक के रूप में उदित हुए। इसका परिणाम हुआ कि निर्गुण ज्ञान और योग मे निष्ठा रखनेवाले अध्यात्मप्रेमी सन्तों पर भी उनके भक्ति-सन्देश का प्रभाव पड़ा। भक्ति को ग्रहण करने का अधिकार सबको था। इस भक्ति-मार्ग मे दक्षिण में शूद्र, अस्पृश्य और स्त्रियों को भी प्रवेशनिषेध नहीं था।

स्वामी रामानन्द के व्यक्तित्व से जहाँ एक ओर द्विज प्रभावित हुए वहाँ अनेक शूद्र और सच्ची आध्यात्मिक भूखवाले जुलाहा कबीर भी। कबीर को रामानन्द से विधिवत् दीक्षा मिली या नही, पर कबीर ने उन्हें ही अपना गुरु मान लिया। 'राम-नाम' का मन्त्र रामानन्द से लेकर कबीर ने निर्गुण भक्ति का प्रचार किया। कबीर अपने पूर्ववर्त्ती सिद्धों, योगियों और सन्तों की साधना से परिचित थे। उन्हे ऐसा लगा कि नाथपंथ के योगी और सिद्ध हठयोग और सिद्धियों के चक्र में पड़कर सच्चे आध्यात्मिक आनन्द से वंचित रह गये है। सिद्ध दो प्रकार के थे—एक, जिनका सम्बन्ध मत्स्येन्द्रनाथ-गोरखनाथ की परम्परा से था; दूसरे, जो कबीर से कई सौ वर्ष पूर्व भारत के पूर्वभाग में वज्रयान से सम्बद्ध थे। तिब्बत से प्राप्त ८४ सिद्धों की सूची में और 'वर्णरत्नाकर' की सिद्ध-सूची में अनेक सिद्धों के नामों में अन्तर है।

कुछ नाम दोनो सूचियों मे मिलते है। कबीर किसी ऐसे बौद्ध सिद्ध का नाम नहीं लेते जिनके पद्य 'दोहाकोश' या 'बौद्ध गान ओ दोहा' मे है। वे नाथपन्थी गोरखनाथ-मत्स्येन्द्रनाथ आदि सिद्धो और योगियों से ही परिचित जान पड़ते है। बौद्ध सिद्ध विक्रमशिला और नालन्दा के ध्वस्त हो जाने के बाद नेपाल या तिब्बत की ओर चले गये और जान पड़ता है कि उनका बचा-खुचा प्रभाव भी बारहवी-तेरहवी शताब्दी के बाद समाप्त हो गया। पर उस सिद्ध-साधना की शब्दावली के अनेक शब्द कबीर के समय योगियों और साधकों में, विशेषकर गोरखनाथ के कनफटे साधुओं में, प्रचलित थे। कबीर ने इस शब्दावली को अपने पूर्ववर्ती सन्त-समाज में और समकालीन नाथ-पन्थियों में सुना होगा। अतः हम उस शब्दावली को देखकर कबीर पर उनके प्रभाव का अनुमान कर लेते है। पर यदि हम कबीर द्वारा उन शब्दों के प्रयोग को ध्यान से देखें तो यह ज्ञात होगा कि वे उन आध्यात्मिक शब्दों में भी नवीन अर्थ भर देते हैं और उनका अपने ही अर्थ मे प्रयोग करते है। ऐसे शब्दों मे शून्य, सहज, खसम, गगन इत्यादि उल्लेख्य हैं।

निर्गुणमार्ग में कबीर की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है भक्ति का—प्रेममूलक भक्ति का—योग। कबीर मध्यकाल में निर्गुण भक्तिमार्ग के सबसे बड़े प्रचारक है और उनके समकालीन और परवर्त्ती सभी सन्तों ने उनके आध्यात्मिक महत्त्व और व्यक्तित्व की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। कबीर रामानन्द के विधिवत् दीक्षित शिष्य हुए या नहीं, पर वे उन्हें ही अपना गुरु मानते है। रैदास रामानन्द के शिष्य थे, कबीर ने तो रामानन्द को चरण पकड़कर गुरु मान लिया था। रामनाम का मन्त्र गुरु से पाकर, निर्गुण ब्रह्म को राम नाम देकर उसी के प्रति अपनी भक्ति उन्होंने अर्पित की। कबीर के पदों को 'ग्रन्थ साहब' में स्थान देकर उनके महत्त्व को स्वीकार किया गया। कबीर को ज्ञानमार्गी मानना उचित नही। निर्गुण का नाम लेने से ही ज्ञान-मार्गी हो जाना आवश्यक नही। शुक्लजी ने उन्हे ज्ञानाश्रयी शाखा में स्थान दिया है। हम यह दिखलायेंगे कि कबीर निर्गुण राम की भक्ति—प्रेमा भक्ति—के उपदेशक थे। रैदास ने कबीर का नामदेव, त्रिलोचन, सधना इत्यादि के साथ उल्लेख किया है।[1] अतः कबीर अपने समकालीनों में भक्तों की श्रेणी में सादर स्मरण किये जाते थे। नानक कबीर के भजन गाया करते थे और उनके सिद्धान्तों पर विश्वास करते थे। सबने उनका भक्त के रूप मे ही स्मरण किया है। 'भक्तमाल' का भी यही मत है।[2]

---

१. नामदेव कबीर तिलोचन सधना सेन तरै।
कह रविदास, सुनहु रे संतहु हरि जिउ ते सबहिं सरै।—रैदास
'सैन' ने 'कबीर अरु रैदास संवाद' में कबीर को रैदास का 'गुरभाई' कहा है।
—हि० सा० आ० इ०, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ३५२

२. भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो।
जोग जग्य व्रतदान भजन बिनु तुच्छ दिखायो॥—भक्तमाल

कुछ विद्वान् यह कहते है कि निर्गुण मत में कबीर का झुकाव इस्लाम के प्रभाव से हुआ, क्योंकि इस्लाम दृढ़ता से निराकार ईश्वर का प्रतिपादक धर्म है। इस्लाम निराकार (खुदा) को मानता है; पर कबीर का राम इस्लाम का खुदा नही, उपनिषदों का ब्रह्म है। उनका राम खुदा की तरह दुनिया का कठोर शासक नहीं, वह घट-घटवासी, सर्वव्यापक, अविनाशी, परमतत्त्व है, जो भक्ति से रीझता है। इस्लाम और सूफी-सिद्धान्त में विरोध है, इसी से सूफी फकीरो को मुसलमान शासकों ने पीड़ित और दण्डित किया तथा उन्हें इस्लाम का शत्रु समझा। सूफी-सिद्धान्त वेदान्त का मुसलमानी संस्करण है। 'अनलहक' की रट लगानेवाले, 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'सोऽहम्' का अनुभव करनेवाले अद्वैतवादी भक्त हैं। वे हजरत मुहम्मद के इस्लाम के अनुयायी नही हैं। कबीर ने अपने उपदेश को स्पष्ट शब्दों में 'ब्रह्म-विचार' कहा है। वे उपनिषदों से परिचित है। उपनिषदों में 'तत्त्वमसि' का उपदेश है, उसमें याज्ञ-वल्क्य और जनक का सवाद है और दत्तात्रेय को उसी 'रस' (ब्रह्मरस) का स्वाद मिला था। कबीर 'रस' शब्द का प्रयोग करते है––

तत्त्वमसी इनके उपदेशा। ई उपनिषद कहै संदेशा॥
जागबलिक औ जनक सँवादा। दत्तात्रेय वहै रस स्वादा॥

'वहै रस' क्या 'रसो वै सः' की याद नही दिलाता? वे वेदान्त के कनक-कुण्डल-न्याय, विवर्तवाद इत्यादि से पूर्ण परिचित जान पड़ते है। वे इस्लाम के कट्टर एके-श्वरवाद मे नहीं, उपनिषदों के सर्वेश्वरवाद मे निष्ठा रखते है।[1] आत्मा-परमात्मा की पारमार्थिक एकता में उनका दृढ विश्वास है। वे परब्रह्म के तेज का वर्णन करते है, अल्लाह या खुदा के प्रताप का नही।[2] जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है।[3] वे अपने अनन्त भगवान को नारदी भक्ति निवेदित करते है।[4] वे न मुहर्रम करते हैं, न रोजा रखते है। मांसाहार के भी वे कट्टर विरोधी है। उनके कुल में ईद-बकरीद, गोवध सब होता था; पर वे उनसे अलग रहते थे।[5] उन्हें किसी हिन्दू राजा ने नही, मुसल-

---

बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा।
नीच कुल जोलाहरा भइओ गुनीय गहीरा॥—भगतधनंजी

१. मुसलमान कौ एक खुदाई। कबीर को स्वामी घटि-घटि रहा समाई॥

२. पार ब्रह्म के तेज का कैसा है उन्मान।
कहिबे कू शोभा नहीं देख्या ही परमान॥

३. ब्रह्मण्डे सो प्यण्डे जानि।

४. अपरम्पार का नाउँ अनन्त। कहै कबीर सोइ भगवन्त॥
भगति नारदी मगन सरीरा। इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा॥

५. जाके ईद बकरीद कुल गऊ रे बध करहि मानिअहि सेख सहीद पीरा।
जाके बाप वैसी करी पूत ऐसी करी तिहु रे लोक परसिध कबीरा॥—रैदास

मान शासक ने हाथ-पाँव में जंजीर बँधवाकर नदी में फेक दिया था। इस्लाम के बाह्य धर्माचार को उन्होंने कभी स्वीकार ही नही किया। केवल जुलाहा के घर में पलने से ही क्या वे मुसलमान हो गये ? वे हृदय से हिन्दू थे, विश्वास से हिन्दू थे। यदि उनकी धर्मभावना और अध्यात्म पर विचार कर निर्णय दिया जाय तो वे प्रेम-मूला भक्ति मे निष्ठा रखनेवाले सच्चे योगी है; न मुसलमान है और न रूढ़ अर्थ में हिन्दू।

प्रेमतत्त्व का या भक्ति का जैसा मिश्रण वेदान्ततत्त्व के साथ कबीर की 'बानी' में मिलता है, वैसा उनके पूर्व भारतीय साहित्य में नही मिलता। प्रेमतत्त्व का योग कृष्णकाव्य में अवश्य है। निर्गुण की उपासना मे यह तत्त्व उपनिषदों के बाद कहीं दीख पड़ा तो इस सन्तकाव्य में, जिसके प्रथम कवि कबीर है। कबीर के बाद जायसी आदि प्रेमाख्यानक कवियों मे उस दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति भी अत्यन्त मार्मिक है; पर वह धारा स्पष्टतः सूफी-सिद्धान्त से प्रभावित है। जायसी ने कबीर को नारद की भक्ति-परम्परा में माना है।[1] यदि कबीर सूफी प्रभाव में माने जाते तो जायसी इस रूप में कबीर का उल्लेख नही करते। उनके कथन का संकेत है कि कबीर नारदी भक्ति की परम्परा मे हैं।

कबीर ने ब्रह्म को ही 'राम' नाम दिया और उसकी उपासना भक्ति-प्रीति अर्पित करके की। कभी-कभी वे वैष्णवों मे प्रचलित हरि, गोविन्द आदि नाम भी देते हैं, उसे साई (स्वामी) नाम से भी सम्बोधित करते है। अपने प्रिय प्रभु के लिए केवल एक उर्दू शब्द का कबीर ने प्रयोग किया है, वह शब्द है 'साहेब'। यह भी प्रभु के अर्थ में आया है। पर इस शब्द को देखकर उनपर मुस्लिम प्रभाव मान लेना ठीक नही है। जान पड़ता है कि यह शब्द मुस्लिम काल में इतना प्रचलित हो चुका था कि तुलसीदास जैसे कवि भी इसका प्रयोग करने में सकुचाये नहीं।[2] मुसलमान-समाज के अग होने के कारण कबीर का इस 'साहेब' से लगाव होना अधिक स्वाभाविक है।

कबीर के विषय में शुक्लजी के कारण यह भ्रान्ति हिन्दी-साहित्य के अध्येताओं में फैल गयी है कि वे ज्ञानाश्रयी है या ज्ञानमार्गी धारा के कवि है। ज्ञान का आश्रय कबीर ने नहीं लिया, वे तो भक्त्याश्रयी कवि हैं। वे ज्ञानी भक्त कहे जा सकते हैं, क्योंकि ऐसा ही भक्त भगवद्गीता के अनुसार श्रेष्ठ है। वस्तुतः कबीर भक्तियोग में विश्वास करते हैं। 'निर्गुण राम, निर्गुण राम' की रट लगानेवाले कबीर की भक्ति में प्रेमा भक्ति या परा भक्ति के तत्त्व का योग है। कबीर सदा नारदी भक्ति की

१. ना—नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे सों मैं हारा ॥—'अखरावट'
२. गई बहोरि गरीबिनवाजू। सलरसबल साहिब रघुराजू ॥

प्रशंसा करते है। अपने निर्गुण राम में वे नारद की भक्ति के अभिलाषी थे।[1] कबीर भक्ति को प्रकट करने के लिए आये थे। इस सम्बन्ध मे हम नीचे कुछ प्रमाण सकलित करते हैं, जिन्से इसकी पुष्टि होती है--

भक्ति द्राविडे ऊपजी, लायो रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्तद्वीप नवखण्ड ॥

भगति प्रताप राख्यबे कारण निज जन आप पठाया।
नाम कबीर साँच परकास्या तहाँ पीपै कछु पाया ॥ --पीपा

कासी बसे जुलाहा एक। हरि भगतिन की पगड़ी टेक ॥
-- कबीर साहिब की परचई

भगति नारदी मगन सरीरा। इहि बिधि भव तिरि कहै कबीरा ॥
भर्मक बाँधल ई जगत कोइ न करै विचारा।
हरि की भक्ति जाने बिना, भव बूड़ि मुआ संसारा ॥--कबीर

गुण गावै रविदासु भगतु जै देव त्रिलोचन।
नामा भगतु कबीर सदा गावहि समलोचन ॥--गुरुग्रन्थसाहब

ब्रह्मानन्द के लिए कबीर ने सरल शब्द 'रामरस' का प्रयोग किया है जिससे छककर भक्त बराबर मदमत्त (मैमन्त) बना रहता है। इस रस को कबीर ने महारस कहा है।

छाकि पर्‌यो आतम मतिवारा।
पीवत रामरस करत बिचारा ॥

हरिरस पीया जानिये जे कबहुँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत रहे नाही तन की सार ॥
रामरस पाइया रे ताथै बिसरि गयो रस और ॥

आठहू पहर मतवाल लागी रहै, आठहू पहर की छाक पीवै।
आठहू पहर मस्ताना माता रहै, ब्रह्म की घौल में साध जीवै ॥
रामरस पीआ रे।
तातै बिसरि गये रस और ॥ --क०ग्र०, पद ५५ (पारसनाथ तिवारी)

प्रेमतत्त्व से विरहित होने के कारण ही हठयोग, सिद्धि और चमत्कारों से युक्त जोगियों (गोरखपथियों) की निन्दा कबीर ने की। वे ऐसे जोगियों को निन्दा या उपहास के भाव से 'जोगिया' कहते हैं। हम पहले कह चुके है कि कबीर ने बौद्ध सिद्धों

---

१. भक्ति नारदी रिदै (हृदै) न आई काछि कूछि तनु दीना।

और नाथपंथ में प्रयुक्त आध्यात्मिक शब्दावली के अनेक शब्द ले लिये—जैसे शून्य, निरजन, अलख, खसम, गगन, उन्मनि, सहज, सुरति, निरति इत्यादि—पर सबमें अपना विशिष्ट अर्थ भरा है। ये सब शब्द वज्रयान, सहजमार्ग, शून्यवादियों या नाथ-पथ के साधकों और सिद्धो मे प्रचलित थे; पर सबको अपनी प्रेममूलक भक्ति का रंग चढ़ाकर कबीर ने अपनी वानी में ग्रहण किया है। इन शब्दो को देखकर श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पूर्व के सम्प्रदायों और पंथों का प्रभाव कबीर पर दिखलाने का श्रम किया है, पर कबीर के सिद्धान्त और उन सम्प्रदायो में अन्तर के कारण 'कबीर' मे उन शब्दों के विशिष्ट अर्थ को स्पष्ट नही किया। आत्मा और परमात्मा के बीच दाम्पत्य भाव और गाढ़ प्रेमसम्वन्ध की अभिव्यक्ति कबीर की विशेषता है।[1] कबीर भक्तो मे जयदेव और नामदेव का नाम लेते है और उन्हें 'भक्ति का प्रेमी' कहते है—

गुरु प्रसादी जैदेउ नामा। भगति के प्रेमि इनही है जाना।

'भक्ति के साथ प्रेम' यह न सिद्धचर्या के पदों मे है और न नाथपथ में। कबीर पर पूर्ववर्त्ती आध्यात्मिक साधको में किनका प्रभाव पड़ा और वे किस पंथ के सम्पर्क मे आये अथवा किस पंथ की विचारधारा से उनका परिचय था, यह जानने के लिए हमे अन्त साक्ष्य को ही अधिक महत्त्व देना चाहिए। इस अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कबीर नारद, जयदेव, नामदेव, रामानन्द और गोरखनाथ का नाम लेते है। कबीर के आसन्नपूर्व जो अध्यात्म-क्षेत्र में धाराएँ बहती थी, उनमे एक है गोरखपंथ और दूसरी है भक्तिधारा, जो दक्षिण में नामदेव के द्वारा प्रवाहित हुई और जिसे उत्तर मे रामानन्द लेकर आये। गोरखपंथ के सिद्धों और योगियों का प्रभाव अध्यात्म-क्षेत्र में जनता के बीच अधिक था। निर्गुण तत्त्व इस पंथ मे भी मान्य था, पर इस पथ में हठयोग, सिद्धिचमत्कार, कायाशुद्धि के लिए कठिन साधना आदि का इतना आदर था कि कबीर को इन कनफटे 'जोगियों' में भक्तितत्त्व का अभाव दीख पड़ा। अतः कबीर गोरखपंथ से असन्तुष्ट जान पड़ते है और उनकी बानी में उनका असन्तोष जगह-जगह व्यक्त हुआ है। कबीर ने भक्तितत्त्व जयदेव, नामदेव में और स्वामी रामानन्द के उप-

१. इस दाम्पत्य भाव के कारण ही सब जीव को कबीर 'राम की नारी' मानते हैं और राम को 'भतार'।

एक अंड ॐकार ते सब जग भया पसार।
कहहि कबीर सब नारी राम की अविचल पुरुष भतार॥—रमैनी
हरि मोर पीव भाई हरि मोर पीव।
हरि बिन रहि न सकै मोर जीव॥
हरि मोरा पिउ मैं हरि की बहुरिया॥
राम बड़े मैं तनक लहुरिया। —क०ग्र०, पद ११
दुलहिनी गावहु मंगलचार। हम घरि आये राजा राम भरतार॥ —क०ग्र०, पद ५

देशों मे पाया। मध्यकालीन धार्मिक इतिहास से यह ज्ञात होता है कि रामानन्दजी अपने समय के सबसे बड़े भक्तिप्रचारक थे। वे प्राचीन शास्त्रों में प्रतिपादित भक्ति-मार्ग का, जिसके प्राचीन प्रचारक नारद है, उपदेश देते थे। दक्षिण में यह भक्ति वेग से आलवारों के बीच कई सौ वर्ष से बह रही थी, भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता का प्रति-पादन और व्याख्यान दक्षिण के आचार्यो द्वारा हो चुका था। इस उमडती भक्तिधारा को उत्तरभारत मे लानेवाले स्वामी रामानन्द है। उनके जीवन-वृत्त का ठीक और पर्याप्त रूप से ज्ञान नही है। पर 'भक्तमाल' आदि ग्रन्थों के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि रामानन्द उदार वैष्णव थे। व्यवहार में वे जातिभेद को स्वीकार भी करते हों, पर भक्ति के क्षेत्र मे वे शूद्र और श्वपच को भी भक्ति का अधिकारी मानते थे। भक्तिमार्ग सबके लिए खुला था, उसपर नीच जाति के पुरुषो और नारियों को भी चलने का अधिकार था। इस आन्दोलन ने जनभाषा का माध्यम स्वीकार किया। अपभ्रश को, जिसका प्रचार हिन्दी-क्षेत्र के साहित्यप्रेमियों और राजसभा में था और जो अब जनभाषा नही थी, त्यागकर भक्तिमार्गी कवियो ने तत्कालीन देशभाषाओं में भक्ति का प्रचार आरम्भ किया। भक्तिपोषक प्रचुर काव्य संस्कृत में दक्षिण और उत्तर में भी रचा गया था, रामभक्ति और कृष्णभक्ति के सैकड़ों श्लोक प्राचीन संग्रहों मे मिलते है। रामकथा के आधार पर नाटक और काव्य रचे गये थे। हरिलीला का गान संस्कृत में भी हुआ। इन प्रवृत्तियों को हम १२वी शताब्दी से ही सस्कृत में पाते है। गीतिकाव्य के क्षेत्र में भक्तितत्त्व के सर्वप्रिय कवि बंगभूमि के जयदेव हुए, जिनका 'गीतगोविन्द' अपूर्व है। मध्यकाल मे रामानुज ने शकर के अद्वैत तत्त्व से अपना मतभेद व्यक्त किया और अपने मत की पुष्टि प्रस्थानत्रयी के आधार पर ही की। उन्होने विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करते हुए भक्तिमार्ग को सुदृढ़ किया। बाद में भक्तिमार्ग के अनेक आचार्य हुए,[1] जिनके प्रचार के फलस्वरूप भक्तिमार्ग दक्षिण से उत्तर की ओर आया। श्रीसम्प्रदाय के स्वामी राघवानन्दजी की एक गद्दी काशी में १४वी शताब्दी मे थी। कहा जाता है कि रामानन्दजी इनसे ही दीक्षित हुए थे और उनके द्वारा भक्ति का प्रचार हुआ।

स्वामी रामानन्द अपने समय में परम तेजस्वी महात्मा हुए। लगता है कि कबीर, इन भक्ति के महान् प्रचारक को शूद्र और नीच जातियो को भी भक्ति की दीक्षा देते देखकर, आकृष्ट हुए। कबीर मे बचपन से ही धार्मिक संस्कार प्रकट हुए और वे अध्यात्मसाधना में लीन रहते थे। उनमें अध्यात्म की गहरी और सच्ची प्यास थी, जिसे बुझाने के लिए उन्होने सत्संग किया। अनुमान होता है कि वे सिद्धयोगियों के सम्पर्क में आये और अध्यात्मपथ के पथिक होने के कारण सत्संग से अपने समय की,

१. प्रमुख हैं—रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी और निम्बार्क। इन आचार्यों का उदयकाल १०० वि० से १४०० तक के बीच पड़ता है।

'जोगियों' और सन्तों की, अध्यात्मसाधना से परिचित हुए। पर बाद मे उन्हें उसमें दिव्य प्रेम या भक्ति का अभाव देखकर तृप्ति नही हुई। रामानन्द में उन्हें वह भक्ति मिलने की आशा दीख पडी। उनके जिन बारह शिष्यों में कबीर माने जाते है उनमें शेष सब हिन्दू है;[१] कुछ द्विज हैं और कुछ नीचजातीय। केवल कबीर विधर्मी है। सिद्धान्तरूप मे भक्तिमार्ग में सदा से यह माना जाता रहा कि भक्तिपथ पर सबको चलने का अधिकार है, इसमे अस्पृश्य भी आ सकते है। गीता में कुत्ते और चांडाल को समदृष्टि से देखनेवाला पण्डित कहा गया है। वसुधैव कुटुम्ब और समदर्शिता का उपदेश देनेवाला आर्यधर्म व्यवहार में जातिभेद से जकडा हुआ था। यह समाज व्यवहार में कभी उदार नहीं हो सका। मध्यकाल मे भक्तिसम्प्रदायों मे ही––केवल हरिभक्ति के प्रसंग मे––जाति का बन्धन ढीला कर दिया गया। 'जाति-पाँति पूछै नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' का सिद्धान्त केवल 'हरिजनों' के बीच माना गया, समाज के दैनिक व्यावहारिक जीवन मे नही। रामानन्दजी और कबीर के मणि-कर्णिका घाट की सीढ़ियों पर मिलने की कहानी से यह तो लक्षित हो ही जाता है कि कबीर के चरण पकड़ लेने पर भी रामानन्द ने कबीर को गुरुमन्त्र विधिवत् नही दिया। कहा जाता है कि रामानन्द 'राम-राम' जपते नित्य की भाँति ब्राह्म मुहूर्त में सीढ़ी से उतर रहे थे, अकस्मात् पादुका का स्पर्श सीढियों पर पड़े हुए एक शरीर से हो गया। यह तो कबीर की गहरी श्रद्धाभक्ति का परिचायक है कि उन्होंने इस रूप मे भी अपने इष्ट गुरु को पाकर उनके ऋण को स्वीकार ही किया।

रामानन्द ने शूद्रों को भी भक्ति की दीक्षा दी। उनके शिष्यों में रैदास (चमार), सेना (नाई) थे। कबीर को दीक्षा मिली या नहीं, पर उन्होंने रामानन्द को ही अपना गुरु घोषित किया। कबीरपंथ में भी रामानन्द का गुरु होना स्वीकृत है। स्वयं कबीर की यह उक्ति प्रसिद्ध है—

काशी में हम प्रगट भये है, रामानन्द चेताये।
समरथ का परवाना लाये, हंस उबारन आये॥[२]

१. पाठ—अनन्तानन्द(१), कबीर(२), सुखा(३), सुरसुरा(४), पद्मावति(५), नरहरि(६),
पीपा(७), भवानन्द(८), रैदास(९), घना(१०), सेन(११), सुरसुर की घरहरि(१२)॥—नाभादास : 'भक्तमाल'

२. तोरे भरोसे मगहर बसिओ, मेरे मन की तपनि बुझाई।
पहले दरसनु मगहर पाइओ, पुनि कासी बसे आई॥ —संत कबीर
इससे भी ज्ञात होता है कि कबीर पहले मगहर में बसते थे, ईश्वर का पहला 'दर्शन' उन्होंने वहीं पाया था, बाद में वे काशी आकर बस गये।
इसी से काशी में जन्म लेने की बात नहीं, 'प्रगट' होने की बात वे कहते हैं।

काशी में कबीर ने अपना 'प्रगट' होना लिखा है, जन्म नही, तथा रामानन्द से चेताये जाने की बात कही है। इस 'चेताये' से यह अभिप्राय जान पड़ता है कि कबीर को रामानन्द के प्रभाव के पूर्व अपनी आध्यात्मिक साधना से पूर्ण सन्तोष नहीं था। सच्चा बोध रामानन्द से भक्ति का तत्त्व प्राप्त करने पर ही हुआ। जैसा सूरदास की धर्मभावना में वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने के बाद परिवर्तन हुआ, वैसा ही यह परिवर्तन भी जान पड़ता है। इसके पूर्व कबीर या तो गोरखपंथ के जोगियो और सिद्धों से प्रभावित थे या दास्यभाव से प्रभुरूप में ईश्वर की उपासना करते थे; पर रामानन्दजी से राममंत्र लेकर जब 'चेत' हुआ तब उनकी भक्ति मे प्रेमतत्त्व का विशेष योग हो गया। वे इड़ा-पिगला, त्रिकुटी, योगासनों की प्रक्रिया से ऊपर उठकर सहजसमाधि, उन्मनिरहनी, महारस (अमृतरस) या रामरस पीकर प्रेमयोगी हो गये। जब उन्हें भक्तितत्त्व मिला, तब नारदी भक्ति के उस रूप का महत्त्व अनुभव हुआ जो प्रेमा भक्ति को महत्त्व देती है।

गुरुभाइयों में पीपा और रैदास, घना और सेना का कबीर के सम्बन्ध में क्या कथन है, इस प्रसंग में वह उल्लेख्य और महत्त्वपूर्ण है।

पीपा—जो कलि माँझ कबीर न होते।
तौ ले···बेद अरु कलिजुग मिलि करि भगति रसातलि देते॥
... ...
हम से पतित कहा कहि रहते कौन प्रतीत मन धरते।
नाना बानी देखि सुनि स्रवनाँ बही मारग अनसरते।
त्रिगुणरहित भगति भगवंत की तिरि बिरला कोई पावै।
दया होइ जोइ कृपानिधान को तौ नाम कबीरा गावै।
हरिहरि भगति भगत कन लीना त्रिविधि रहत थित मोहे।
पाखंड रूप भेष सब कंकर ग्यान सूप ले सोहे॥
भगति प्रताप राख्यबे कारन निज जन आप पठाया।
नाम कबीर साँच परकास्या तहाँ पीपै कछु पाया॥

अन्त समय में कबीर बनारस तजकर मगहर चले आये थे। यह इस पद से प्रमाणित है—

अब कहु राम कवन गति मोरी।
तजिले बनारस मति भई थोरी॥
ज्यौं जल छोड़ि बहरि भयो मीना। पुरब जनम हौं तप का हीना॥
सकल जनम सिबपुरी गँवाया। मरती बार मगहर उठि आया॥
बहुत बरिस तप कीया कासी। मरनु भया मगहर को बासी॥
कासी मगहर सम बीचारी। ओछी भगति कैसे उतरसि पारी॥

—क०ग्र०, पद ४६, पारसनाथ तिवारी

रैदास—नामदेव कहिये जाति कै ओछ। जाको जस गावै लोक॥
भगति हेत भगता के चले। अंकमाल ले बीठल मिले॥
निरगुन का गुन देखो भाई। देही सहित कबीर सिधाई॥

रामानन्द ने संस्कृत में पुस्तके लिखीं। कुछ पद हिन्दी के भी मिलते हैं। ये पद न भाषा और न काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पर रामानन्द के शिष्यों ने देश-भाषा मे उपदेश देकर उसे समृद्ध बनाया। इन शिष्यों में कबीर सबसे यशस्वी सन्त हुए। रैदास के बाद पीपा का स्थान है। रामानन्द के इन शिष्यों की रचनाओं को 'पूरबी' का आदिकाव्य कहना उचित है। काशी के पास-पड़ोस की देशभाषा में इसके पूर्व का रचित कुछ भी महत्त्वपूर्ण प्राप्त नही है।

कबीर ने जयदेव, त्रिलोचन और नामदेव का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया है। जय-देव गीतगोविन्दकार प्रसिद्ध है। जान पडता है, शृंगारपूर्ण हरिकेलि का वर्णन करने के बावजूद वे कृष्णभक्त के रूप में भी प्रसिद्ध थे। 'भक्तमाल' में 'जयदेव कवि नृप चक्कवै खंड मंडलेश्वर आन कवि' कहा गया है और 'कोक काव्य नवरस सरस सिंगार को सागर' भी बताया गया है। पर 'भक्तमाल' में भक्तो का चरित ही वर्णित है। कबीर जयदेव का भक्तों में नाम लेते है, अतः उनके समय में जयदेव भक्तरूप में विख्यात थे। पंढरपुर के नामदेव का जन्मकाल १३२७ वि० है। उन्हें मूर्तिपूजा का विरोधी बताया जाता है। कबीर दोनों का स्मरण 'भगति के प्रेमी' के रूप में करते हैं। कबीर भक्ति के प्रेमी है—चाहे भक्त कृष्ण का प्रेमी हो या किसी अन्य रूप का। इसी मे कबीर की रमैनी, शब्द और पदों मे कृष्णभक्ति के प्रिय सम्बोधन हरि, गोविन्द, माधव इत्यादि भी मिलते है।[1] कबीर मूल वस्तु को महत्त्व देते हैं, नाम के झगड़े में नहीं पड़ते। हो सकता है कि रामानन्द के प्रभाव में आने के पूर्व वे हरि के सभी नाम लेते हों। बाद में राम-नाम से ही उन्हें विशेष प्रेम हो गया।

रैदास ने कबीर को भगवान् द्वारा पठाया 'भगति प्रताप राख्यबे कारन निज जन' कहा है। कृष्णभक्त के समान राधा के परकीयाभाव को कबीर ने कही स्वीकार नहीं किया। भक्त का आदर्श उनके अनुसार सती नारी है। सती नारी जिस तरह पति को अनन्य भाव से एकनिष्ठ होकर भजती है, उसी पवित्र दाम्पत्य भाव से भक्त को प्रभु से प्रेम करना चाहिए। कबीर का राम-नाम में अखण्ड विश्वास है। ब्रह्म के निर्गुण रूप को वे राम के रूप में जानते है। अतः कबीर विशिष्ट प्रकार के राम-

---

१. हरि— हरिजननी मैं बालक तोरा। काहे न अवगुन बकसहु मोरा।
हरि ठग जगत ठगौरी लाई। हरि के वियोग कैसे जियौं मेरी माई।

माधव— माधौ दारुन दुख सह्यौ न जाइ।
मेरी चपल बुद्धि सौ कहा बसाइ॥

भक्त है। दशरथपुत्र राम के चरित को उन्होंने महत्त्व नही दिया। कबीर की एक प्रकार की रचना 'रमैनी' कहलाती है। 'रमैनी' रामायण नही है। 'रमैनी' सर्वव्यापक (सबमें रमनेवाले) तत्त्व का वर्णन है। रमैनी—जो सबमें रमा हुआ है, उसकी महिमा का गान।

कबीर को भक्तरूप मे ही मान्यता मिलनी चाहिए। उन्हें ज्ञानाश्रयी धारा में रखकर उनके साथ पूर्ण न्याय नही होता। ज्ञानी होने से या 'योग' शब्द के आने से कोई भक्त नही रहता, यह मत विवेकपूर्ण नही है। कबीर निर्गुण 'भक्तमाल' के सुमेरु हैं। गीता में ज्ञानी भक्त को ही श्रेष्ठ माना गया है।[1] कबीर ज्ञानी भक्त अवश्य हैं, अतः श्रेष्ठ भक्त है। उनकी भक्ति में प्रेम की तीव्रता है, अधीरता है और विरह की पीर है। कबीर सच्चे प्रेमयोगी हैं।

कबीर का आध्यात्मिक काव्य

कबीर का काव्य आमुष्मिक है, ऐहिक नही। वे अध्यात्म के अमर गायक है। वे वैदिक अर्थ में कवि है—साक्षी कवि, क्रान्तदर्शी कवि। वे मनीषी स्वयम्भू कवि है। अक्षरज्ञान को वे महत्त्व देते है, किन्तु लौकिक अक्षरज्ञान उनकी दृष्टि मे महत्त्वहीन है। वे अक्षरतत्त्व के उपासक है, शब्दब्रह्म के ज्ञाता है। परा विद्या के आगे इस अपरा विद्या का महत्त्व क्या है? कबीर के अनुसार पुस्तकीय ज्ञान के भारवाहक पँडित दिग्भ्रान्त है, पथभ्रष्ट है। 'सा विद्या या विमुक्तये' यह उनकी मान्यता है। हम साहित्यप्रेमी उनकी 'बानी' को कविता कहकर उन्हें आदर देते है। पर यदि कोई कबीर से पूछता कि कविता क्या है तो कदाचित् उनका उत्तर होता—सा कविता या विमुक्तये। कबीर अमृतत्त्व का उपदेश देने के लिए आये थे। वे अमरलोक के सन्देश-वाहक हैं। उनका काव्य असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर ले जानेवाला है। कबीर ने प्रेम के 'ढाई आखर' का ज्ञान पाया था। यह ज्ञान पोथी पढ़ने से नहीं, ग्रन्थ खोलने से नहीं; मन की ग्रन्थि खोलने से प्राप्त होता है। पोथी की थोथी विद्या अपरा विद्या है। कबीर प्रेम को ही परा विद्या मानते है।

माधौ कब करिहौ दाया।
काम क्रोध हंकार बिआपै नां छूटै माया॥

गोविन्द— गोविन्द हम ऐसे अपराधी।

१. चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मे प्रियः॥ —गीता, अ० ७—१६, १७

पुस्तकीय ज्ञान के सम्बन्ध में कबीर की इस धारणा के प्रकाश में ही उनकी इस उक्ति का भी अर्थ होना चाहिए, जो उन्हें निरक्षर सिद्ध करने के प्रमाण मे उद्धृत की जाती है--

मसि कागद छुयो नही, कलम गही नहि हाथ ।।

यदि कोई कहता है कि मैने मसि-कागद छुआ नही और हाथ में कलम नही पकड़ी, तो क्या यह उसे निरक्षर प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट है ? क्या श्रुति-ज्ञान नही होता ? केवल श्रुतियों से, श्रवण कर ज्ञान होना सम्भव नहीं है ? जिस देश में सहस्रों वर्ष तक श्रुतिपरम्परा से ज्ञान अर्जित और संचित हुआ हो और जहाँ श्रुतियाँ बहुत काल तक लिपिबद्ध नही हुई हों, वहाँ अक्षर-ज्ञान को और लिखने को इतना महत्त्व क्यों दिया जाय ? शिष्य गुरुमुख से प्राप्त ज्ञान को लिपिबद्ध कर लेता है । श्रीकृष्ण और बुद्धदेव ने भी उपदेश दिये थे, ग्रन्थ नही लिखे । आधुनिक युग को परमहंस रामकृष्ण का वचनामृत मिला, रचनामृत नही । कबीर उच्च श्रेणी के सन्त और योगी थे, सद्गुरु और साक्षी पुरुष थे । कबीर को पोथी रचकर उपदेश देना इष्ट नही था । इसका यह अर्थ नही है कि वे पढ़ना-लिखना बिलकुल नही जानते थे ।

यदि वे अक्षर लिखना ही नही जानते थे, तो मसि-कागद छूने का प्रश्न ही नहीं उठता । जो उसे छूने मे असमर्थ हो उसका ऐसा कहना कोई अर्थ नही रखता । जो लिख सकता है, वह यदि कहे कि मैंने लेखन के साधनों का--कलम, कागज और स्याही का--प्रयोग नही किया तो उसके कहने का महत्त्व है । इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि कबीर साक्षर हैं। 'रमैनी' में बावन अक्षरों को क्रम से रखकर चरण लिखे गये है—

बावन अक्खिर लोक मै सभ कछु इनही माँहि ।
ए सभ खिरिखिरि जाहिंगे सो अक्खिर इन मँह नाहिं ।।

ये बावन अक्षर खिर (क्षर) जायेगे । वह अक्षर (ब्रह्म) इनमें नही है ।

'रमैनी' में बावन अक्षर उसी क्रम से है, जो क्रम उस काल में हिन्दी-कवियों में प्रचलित था । इस तरह क्रम से अक्षरबन्ध-रचना वही कर सकता है जो वर्णमाला से सुपरिचित हो । प्रेम मे ढाई अक्षर है, यह उन्हें कैसे ज्ञात हुआ ? जो अक्षर और मात्रा का भेद जानता है, वही प्रेम में ढाई अक्षर बता सकता है । 'पर्‌म' ढाई अक्षर । नहीं तो पिंगल के लघुगुरुक्रम से 'प्रेम' तीन मात्रा का शब्द है। कबीर के आदर्श भक्त प्रह्‌लाद है, जो राम-नाम के अतिरिक्त और कुछ पढ़ने को तैयार नहीं होते--

नही छाड़उँ रे बाबा राम नाम ।
मोहि अउर पढ़न सौं नहीं काम ।।
प्रह्‌लाद पढ़ाये पढ़न साल । संगि सखा बहु लिये बाल ।।
मोकउँ कहा पढ़ावसि आलजाल । मेरी पटिया लिखि देहु श्रीगोपाल ।।



कबीर भी रामनाम के बाद 'आलजाल' पढना नहीं चाहते थे। वे अक्षर गिनना जानते थे। राम में दो अक्षर है, यह उन्हे ज्ञात था——

कहै कबीर अक्खर दुइ भाखि। होइगा राम तलेइगा राखि ॥

कबीर मात्रिक छन्दो की मात्रा गिनकर रचना करनेवाले कवि नही हैं, न वे गीतकार हैं। उनके 'पद' गीत नही है, प्रभु के पद तक ले जानेवाले पद है——

तुम जिनि जानौ गीत है, यह निज ब्रह्म-विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥ ——पद १०

कबीर की वाणी ब्रह्म-विचार है। निर्गुणपन्थी सन्त पुस्तक नही लिखते, इसीलिए उनकी रचना 'बानी' कहलाती है। आज भी जनता मे सन्तों के पदों को 'निर्गुन बानी' कहते है।

पडित लोग तो कागद की नौका पर लोहे का भार (लेखनी) रखते हैं। ऐसे पंडित मँझधार मे डूब जाते है, क्योंकि वे शब्द का भेद नही जानते हैं। वे शब्द की माया जानते है, शब्दब्रह्म नही जानते।[1] लिखने की कौन कहे, सन्त तो बोलना भी नही चाहता; क्योकि बोलते-बोलते तत्त्व नष्ट हो जाता है——

बोलना का कहिये रे भाई।
बोलत-बोलत तत्त नसाई॥

× ×

कहै कबीर आधा घट बोलै।
भरा हुआ तो कबहु न बोलै॥ ——क०ग्र०, पद ६१

क्या इसी से उपनिषदों मे कहा है—— नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः।

कबीर का दृष्टिकोण पढ़ने के सम्बन्ध में क्या है, यह इस 'साखी' से भी प्रकट होता है——

कबीर पढ़िबा दूरि करि पुस्तक देहु बहाइ।
बावन अक्खिर सोधि के ररै ममै चित लाइ॥

सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति में समान तत्त्व

गुरुभक्ति, सन्तमहिमा, माया की निन्दा, नारी के कामिनीरूप की निन्दा, नाम-

---

१. कागद की नौका बनी बिचि लोहा भारा।
सबद भेद बूझे बिना बूड़ै मँझधारा॥ ——क०ग्र०, पद ३
कबीर पढ़िया दूरि करि आयि पढा संसार।
पीर न उपजै जीव में, तौ क्यूँ पावै करतार॥ ——क०ग्र०, पृ० २१५

स्मरण की महिमा, संसार का मिथ्यात्व, आत्मज्ञान का महत्त्व, भक्तिमार्ग की सरलता, सदाचार की आवश्यकता इत्यादि अनेक विषयों में सगुण और निर्गुण भक्तिमार्ग में कहीं विरोध नहीं है। कहीं विशेष बल दिया गया है और कहीं कुछ कम। पर इन विषयों में सिद्धान्ततः मतभेद नहीं है।

निर्गुणमार्ग में गुरु-सद्‌गुरु का विशेष महत्त्व दीख पड़ता है, पर इसका कारण यह है कि यह साधना का गूढ मार्ग है। यह रहस्य है, उपनिषद् है। अतः ब्रह्मविद्या गुप्त विद्या मानी गयी है। सबके आगे हीरा खोलने से लाभ नहीं। उपनिषदों में भी ज्ञान का अधिकारी परखकर ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने को कहा गया है। पर सगुणोपासना में भी सबको गूढ भेद बताया नहीं जा सकता। इन विषयों पर दोनों मार्गों की समान पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। सगुणोपासना की कृष्णभक्तिशाखा में कान्तभाव की तथा मधुरा भक्ति में या प्रेमलक्षणा भक्ति में प्रेम की तीव्र व्याकुल अनुभूति का महत्त्व है।[1] वहाँ भी यह मार्ग सबके लिए नहीं है। गोपियों की भक्ति गोप्य है। न सब इसपर चलने के अधिकारी है और न इस प्रेमलीला की भावना को समझ सकते हैं। रासलीला तथा चीरहरणलीला में भाग लेने के लिए भक्त में गोपीभाव जाग्रत होना चाहिए। निर्गुण में भी दास्यभाव और दाम्पत्यभाव दोनों भेद दीख पड़ते है। कबीर ने भी दास्यभाव की भक्ति अपने प्रभु को अर्पित की है। पर कुछ काल बाद इस अवस्था से ऊपर उठकर वे दाम्पत्यभाव का अनुभव करते है और अपने लाल की लाली चारों ओर देखते है। जो सगुणभाव में 'लीला' है वही कबीर की उल्टी वाणी में 'लाली' है—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मै भी हो गई लाल॥

पुरुष भक्त का नारीभाव अनुभव करना, यही उल्टी रीति है। पर यह उल्टी रीति ही प्रेम की नगरी में सीधी रीति है। कृष्ण की विरहिणी गोपियाँ भी अपने लाल के प्रेम में भृंगी कीट की तरह तद्रूप हो जाती है, लाल बन जाती है। कबीर भी जब नारीभाव में, मधुर भाव में तन्मय होकर, अपने को प्रिया मानकर 'पिया, पिया' पुकारने लगते है तो लाल बन जाते है। वस्तुजगत् मे कबीर पुरुष हैं, भावजगत् में नारी। इसी से कबीर 'लाली देखन मै गई' लिखते हैं, 'मै गया' नहीं।

यही प्रेम का तत्त्व भारतीय प्रेमा भक्ति का मूल लक्षण है। भक्त को अपने मे प्रिया-भाव अनुभव करना होता है। भावावेश में कबीर ने प्रियपत्नी के रूप में अपने को कल्पित किया। वह अपने को 'अविनाशी दुल्हा की दुल्हिन' अनुभव करते हैं। कृष्णभक्तिधारा में इसे परकीया-भाव में—राधारूप मे—हम देखते है। निर्गुण राम की

१. रामभक्तिधारा में भी रसिकसम्प्रदाय है।

दुलहिन का कोई नाम नही। कोई भी भक्त अपने को दुलहिन अनुभव कर सकता है। कबीर राम के साथ अपने विवाह की भावना करते है। रामदेव के साथ भाँवर होगा; शरीर के सरोवर (मानस) की वेदी पर विवाहमन्त्र का उच्चारण होगा। इस आध्यात्मिक विवाह का विशद वर्णन कबीर ने किया है। पंचतत्त्व बराती बने है; पहले तनरति, फिर मनरति; सुरति, निरति— इस प्रकार अविनाशी पुरुष से कबीर का व्याह होता है।[1] कभी वे 'हरि मोरा पिउ मै हरि की बहुरिया' कहते हैं, कभी वे 'बालम' को व्याकुल होकर अपने गेह बुलाते है। वे एकमेक होकर एक सेज पर सोने को बेहाल हो जाते है।[2] कबीर अपने राम को अपना 'भरतार' मानते है, जार या यार नही। यह चोरी-चुपके का प्रेम नही, यह तो बाजा बजाकर, बारात सजाकर 'अविनाशी दुलहा' से विवाह है। यहाँ तो खुलकर अपने स्वामी से मिलना है। पति को प्रियतम प्रेमपात्र के रूप में कबीर सम्बोधित करते है। वैध विवाहसम्बन्ध में अवैध आकुल प्रेम की अभिव्यक्ति! जैसे कोई नारी जार (यार) में अनुरक्त होने पर संयोग के लिए छटपटाती है, वही विकलता इन पंक्तियों मे है—

हौ बारी मुख फेर पियारे।
करवट दै मोहि काहै कौ मारै॥
करवत भला न करवट तोरी। लागु गलै सुनु बिनती मोरी॥

किन्तु वे सती पत्नी के समान एकनिष्ठ होकर पति को प्रेम अर्पित करते है। ऐसी नारी परपुरुष में अनुरक्त होकर, भक्त कबीर का आदर्श नही हो सकती—

नारि कहावै पीव की, रहै और सँग सोइ।
जार मीत हिरदय बसै, खसम खुसी क्यो होइ॥

राधा का प्रेम उनका आदर्श नहीं हो सकता। कबीर स्वकीया हैं, परकीया नहीं बनना चाहते। कबीर की माँग में सिन्दूर की रेखा है। कन्त राम है तो फिर नैनों में काजर लगाने की जगह नहीं, क्योकि नैनों मे प्रियतम ही रम रहा है—

कबीर रेख सिन्दूर की, काजर किया न जाइ।
नैननि प्रीतम रमि रहा, दूजा कहाँ समाइ॥

---

१. दुलहिनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आये राजा राम भरतार॥
तनरत करि मैं मनरति करिहौं पाँचउ तत्त बराती।
रामदेव मोरै पाहुनै आये मैं जोबन मदमाती॥ आदि।—पद ५

२. बालम आउ हमारै गेह रे।
तुम्ह बिन दुखिया देह रे॥
सब कोई कहै तुम्हारी नारी मोकौं यह अन्देह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लगि कैसा नेह रे॥

इष्टदेव के बाद अन्य देव कैसा ? अब हृदय मे अवकाश ही कहाँ जो और का प्रवेश हो सके ? वे किसी से हँसने-बोलने को भी तैयार नही—

प्रीति रीति तो तुज्झ सों मेरे बहु गुनियाले कन्त ।
जो हँसि बोलूँ और सो तो नील रँगाऊँ दन्त ।।

अगर प्रतिव्रता नंगी रहे, तो इसकी लाज उसके पुरुष को होनी चाहिए । कबीर परमपुरुष की वधू है । उन्हे लाज क्यों ? जिसका पति समर्थ (अर्थयुक्त) है, उसे पत्नी की वस्त्रहीनता की लाज होनी चाहिए—

उस संम्रथ का दास हूँ, कबहु न होइ अकाज ।
पतिबरता नागी रहै, तो उसही पुरिख कौ लाज ।।

एक दिन परमपितारूप में भगवान् से कहा था—

जो मै पूत कपूत हूँ, तऊ पिता कौ लाज ।

आज कन्तभाव अनुभूत होने पर कबीर ने कहा—

पतिबरता नागी रहै तो उसही पुरिख कौ लाज ।

प्रेम की पीर

कबीर ने प्रेम की पीर का बड़ा मार्मिक अनुभव किया । उसकी अभिव्यक्ति भी बड़ी मार्मिक हुई है । ऐसी विरहव्यंजना उनके पूर्व हिन्दी मे नही मिलती । बाद में प्रेमाख्यानकवि जायसी आदि ने विरह का प्रकृतिव्यापी प्रभाव दिखलाया और उसकी गहराई मे उतरे; पर कबीर के पहले यह विरह का स्वर और प्रेम के उन्माद का वर्णन ऐसा नहीं मिलता । कवि रामवियोगी है । वह पहले तो जीता नही है और जीता है तो बौरा होकर । कबीर भी इस 'वर' राम के दीवाने है । मीराँ भी अपने गिरिधर के लिए इसी प्रकार दीवानी हो गयी थी—

बिरह भुअंगम तन बसै मन्त्र न मानै कोइ ।
राम वियोगी ना जिऐ जिऐ तो बउरा होइ ।।

यह विरहिणी कोई नही, कबीर हैं, जो अपने प्यारे से मिलने के लिए किसी विधि जीते है । कबीर के तन के रबाब के रग-रूपी ताँतों को विरह निरन्तर बजाता है; इस विरहजन्य शब्द को उनका स्वामी सुनता है या उनका चित्त । इस विरह को सामान्य लौकिक विरह समझना भूल है । यह तो उस राजा का विरह है, जो सारे संसार का शासक है । जिस घट में वह दिव्य विरहभाव नहीं, वह मसान है ।[1] वे अपने 'पीउ' को

१. सब रग तांति रबाब तन, बिरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त ।।
बिरहा बिरहा मति कहौ, बिरहा है सुलतान ।
जिहिं घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ।।

देखने के लिए तन के दीये में जीव की बाती को लोहू के तेल से सींचते है, जिसके प्रकाश में वे अपने प्रियतम का दर्शन करेंगे। वे विरहिणी की भाँति पथ पर खड़े सभी पन्थी से व्याकुल होकर कहते हैं—"मेरे प्रिय का एक शब्द सुनाओ, वे कब आकर मुझसे मिलेंगे ? उनका ही पथ निहारते-निहारते आँखों मे झाँई पड़ गयी, उनका नाम पुकारते-पुकारते जिह्वा में छाला पड़ गया; पर विरहिणी अपनी टेक पर दृढ़ बनी रही।"[1] कभी-कभी जब वे स्वप्नमिलन का सुख अनुभूत करते हैं तब डरते है कि कही आँख खुल जाने से प्रिय फिर बिछुड़ न जायें। कबीर अपने को सुन्दरी कहते है, अपने राम को कन्त। मिलन के हेतु वैसी व्याकुलता है, जैसी कोई विरहिणी अपने बिछुड़े पति के लिए अनुभूत करती है। इन विरह की साखियों में कबीर का प्रिय के प्रति निश्चय और एकनिष्ठ प्रेम प्रवाहित होता है। ऐसी अभिव्यक्ति गोरखनाथ में कहाँ है ? कबीर का प्रेमयोगी-रूप देखकर उनके व्यक्तित्व के प्रति किसी ईश्वरानुरागी का द्रवित हो जाना स्वाभाविक है। इस दिव्य विरह की अनुभूति में वाग्विलास और अलंकार व्यर्थ लगते है—

कबीर सुन्दरि यौं कहै सुनिहो कन्त सुजान।
बेगि मिलौ तुम आइकै नहिंतर तजौ परान॥

नैना नीझर लाइया, रहट बहै निस धाम।
पपिहा ज्यों पिउ-पिउ करौं, कब रे मिलहुगे राम॥

प्रेम द्वैतभाव पर आश्रित होता है; पर प्रेम की तीव्रता प्रेम, प्रेमी और प्रेमपात्र मे अद्वैत स्थापित कर देती है।[2] एक सोहवादी ने 'दासोऽहं दासोऽहम्' की रट लगानेवाले भक्त का उपहास किया, तो उसने उत्तर दिया कि मेरा माखनचोर, चीरचोर, चितचोर कृष्ण मेरे 'दासोऽहम्' के 'दा' को भी एक दिन चुरा लेगा और हे वेदान्ती, मैं इसी 'दासोऽहम्' से उस 'सोऽहम्' की अवस्था को पहुँच जाऊँगा। कबीर सिद्धान्ततः अद्वैत मे विश्वास करते हैं। पर भक्ति में वेदान्त के अद्वैत को स्थान नहीं मिल सकता। जब शंकर भक्तिभाव से आविष्ट हुए तब 'भज गोविन्दं', भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते' का उपदेश देने लगे। भक्ति विना 'तू' का अवलम्बन लिये टिक नही सकती। 'तू-तू' करनेवाले भक्त को सबमें 'तू' ही दीखने लगता है। 'तू-तू' करते-करते

---

१. बिरहिन अभी पन्थि सिरि पन्थी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलिहिंगे आइ॥

अँखियन तो झाँई परी, पन्थ निहारि-निहारि।
जिभ्या मैं छाला परा, राम पुकारि-पुकारि॥

२. त्रिधाप्येकं सदागम्यं गम्यमेकप्रभेदने।
प्रेम प्रेमी प्रेमपात्रं त्रितयं प्रणतोऽस्म्यहम्॥

'तू' रह नही जाता। इसी तत्त्व को कबीर ने कितने सरल ढंग से कहा है—

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमे रही न हूँ।
बारी तेरे नाउँ परि, जित देखौ तित तूँ॥

'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है' यह भावना ज्ञानप्रसूत नही, भक्तिप्रसूत है।

कबीर कहते है कि जैसे माया मन मे रमी है, वैसे ही जिस दिन मन में राम रम जायेगा, उस दिन मुक्ति निश्चित है।[1] कबीर के मत में प्रेम का बडा महत्त्व है। इस दुनिया में प्रेमी का मिलना कठिन है। कबीर सूर के कायल नही, घायल के कायल है। घायल वह है, जिसके हृदय में शब्दबाण चुभा है और जो पीड़ा से प्रतिपल कराहता है; पर तीर निकालना नहीं चाहता। प्रेम की पीर अमूल्य वरदान है—

सारा सूरा बहु मिलै, घायल मिलै न कोइ।
घाइल कौ घाइल मिलै, तौ राम भगति दिढ होइ॥
प्रेमी ढूँढ़त मै फिरूँ, प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी सो प्रेमी मिलै, तौ सब बिख अंम्रित होइ॥

प्रेम के बादल की वर्षा कबीर की अन्तरात्मा पर निरन्तर होती रहती थी। प्रेमामृत की वर्षा से कबीर जीवनमुक्त हो गये—

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराइ॥

प्रेम और हरि में वे कोई अन्तर नहीं मानते। सूरज और धूप मे क्या अन्तर है?—

प्रेम हरी का रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।
एकहि ह्वै वहै में लसै, ज्यों सूरज औ धूप॥

सहज भाव

कबीर जैसा उदार वैष्णव मिलना कठिन है। वे सदा वैष्णव की वन्दना और शाक्त की भर्त्सना करते हैं। यदि कबीर ने किसी मत या पन्थ की खुली निन्दा की है तो शाक्तमार्ग की। गोरखनाथ के पन्थ से उनकी एक ही शिकायत है कि उसमें प्रेम का अभाव है। वह पन्थ हठयोग और कृच्छ्रसाधना को महत्त्व देता है। कबीर सहजयोगी हैं, सहजमार्ग भक्तियुक्त सरल योग का मार्ग है। कबीर के 'सहज' का बंगाल के सहजिया सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं। यह तो एक विशिष्ट साधना है, जो प्रेमयोग का एक रूप है। कबीर के इस 'सहज पन्थ' को समझना सहज नहीं है। सहज की अवस्था सन्तो के मार्ग में एक विशेष जीवनचर्या, आध्यात्मिक स्थिति का

---

१. जैसे माया मन रमै, यौ जे राम रमाइ
तौ तारामंडल बेधि कै, सो अमरापुर जाइ॥

नाम है। कबीर के बाद इस शब्द का सन्तमत में खूब प्रचार हुआ। एक महिला सन्त का नाम ही सहजोबाई प्रसिद्ध है। इस सहजसमाधि का वर्णन साखी मे संक्षेप में इस प्रकार किया गया है--

सहज-सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिहि सहजै साहिब मिलै, सहज कहावै सोइ ।।
सहज-सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिहि सहजै बिखया तजै, सहज कहावै सोइ ।।
सहजै-सहजै सब गये, सुत बित कामिनि काम।
एकमेक होइ मिलि रहा, दास कबीरा राम ।।

'सहज' शब्द का प्रयोग बौद्धधर्म की कुछ शाखाओं और नाथपन्थ में भी हुआ है, पर कबीर ने 'सहज'-भाव से प्रेम की अनन्य साधना को ही ग्रहण किया। इस प्रेम में और भक्ति में वे अन्तर नही मानते। सहज-भाव वह जो साहिब से मिलावे, जिसमे सारे विषयभाव छूट जाते है और स्वामी से एकमेक होकर मिलन होता है। यही कबीर का सहज-भाव है। इसमें काम का स्थान कही भी नहीं है। इस सहज की उच्च भूमिका में प्रवेश करने पर न योग और न तप, न जाप और न ध्यान, कुछ भी आवश्यक नहीं रह जाता है।[1] सुरति और निरति दोनों एक मे मिल जाते है--बस, एक ही भाव रह जाता है, जो भाव है--प्रियमिलनजन्य आनन्द का अनुभव। शेष सब व्यर्थ लगने लगता है--

सुरति निरति औ सबद ये, कहिबे को हैं तीन।
निरति समानी सुरति में, सुरति शब्द में लीन ।।
सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यंध दुवार ।।

विशिष्ट अर्थ मे ही सुरति और निरति शब्दों का व्यवहार कबीर करते है। सुरति का 'स्मृति' से सम्बन्ध जोड़नेवाले सुरति को तत्सम मानकर विचार करें तो सु-रति का अर्थ स्पष्ट होगा। प्रियतम मे रतिभाव ही सुरति है। निरति विरागभाव का द्योतक है, नि-रति--वि-राग। संसार में आसक्ति का न रहना ही निरति-भाव है। सुरति निरति में सहायक होती है, निरति सुरति मे। निरति जब सुरति में समा जाती

१. सहज की स्थिति में रस बरसता है—
सहज सुन्नि मै जिन रस चाखा सति गुर तैं सुधि पाई।
दास कबीर तासु मदमाता उछकि न कबहू जाई ।।
सन्तो सहज समाधि भली।
साँई ते मिलन भयो जा दिन तें सुरत न अन्त चली ।। आदि।
यह पद कबीर की सहजसाधना का उत्तम परिचायक है।

है तब वह शब्द में (ब्रह्म में) लीन हो जाती है। इस सम्बन्ध मे कबीर की एक साखी है—

सुरति समानी निरति मे, अजपा माहैं जाप।
लेख समाना अलेख में, यौ आपा माहीं आप।।

कबीर अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति और भक्ति के संस्कार के लिए भी हरिकृपा को उत्तरदायी मानते है। भक्त ने पूर्णतः भगवान् पर अपने को छोड दिया। उन्ही ने कबीर को कबीर बनाया। अपने को जिसने प्रभु के हाथो मे बिलकुल छोड दिया हो, वह अभिमान क्या करे ?—

ना कुछ किया, न करि सक्या, ना करणे जोग सरीर।
जे कुछ किया सु हरि किया, ताथैं भया कबीर कबीर।।

यह संस्कार भी कर्मगति और 'पुरवला लेख' के कारण ही था। अपनी करनी तो कुछ ही थी। कबीर इसे परमभाग्य मानते हैं कि अरेख या अलख को उन्होने अपना दोस्त बनाया—

कुछ करनी कुछ करमगति, कुछ पुरबला लेख।
देखौ भाग कबीर का दोसत किया अलेख।।

कबीर को कुछ विद्वानों ने झाड़-फटकार और कटूक्ति कहनेवाला घोषित किया और उन्हें अपने को सबसे बड़ा ज्ञानी समझनेवाला अहंकारी सन्त भी समझा। कबीर ने धर्मक्षेत्र में मिथ्याडम्बर और शुष्क ज्ञान की बात करनेवालों की ही निन्दा की। सच्चे सिद्ध, भक्त उनके परमपूज्य रहे। अपने युग मे प्रचलित और पहले से आगत पन्थों में जहाँ भी उन्हें सच्ची भक्ति दीख पड़ी, वे उसकी प्रशंसा करते अघाते नहीं। सच्चे वैष्णवों के प्रति अपनी श्रद्धा उनसे बढ़कर किसी ने नहीं दिखलायी। पर चौकापन्थी, तिलक और छापाकण्ठी वैष्णवों के वे प्रशंसक नहीं रहे। अपनी विनम्रता और तुच्छता का जिस रूप में वे परिचय देते हैं, उससे उनके प्रति कौन श्रद्धावान् नही हो जायगा ? वे तो निन्दक को भी 'आँगन कुटी छवा' कर, स्थान देकर रखना चाहते हैं।[1] किसी साधु की निन्दा वे सहने को तैयार नहीं। पर साधु को सच्चा साधु होना चाहिए।

---

१. निन्दक नेरै राखिये आँगन कुटी छवाइ।
बिन साबुन पानी बिना निरमल करै सुभाइ।।
निन्दक दूरि न कीजिये, दीजै आदर मान।
निरमल तनमन सब करै, बकै आन ही आन।।
कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवरी, जित खींचै तित जाउँ।।

कबीर ने परमात्मा के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया है उनमें प्रायः सभी मध्यकाल से पुराने है और शास्त्रीय ग्रन्थों मे मिलते है। मध्यकाल में कई पन्थो में, जो किसी-न-किसी रूप में निर्गुण से सम्बन्ध रखते है, इन शब्दों का प्रयोग मिलता है। अतः कबीर इन शब्दो को अपनी 'बानी' में स्थान देते है और वे समकालीन सभी आध्यात्मिक समुदायो से परिचित जान पड़ते है। पर, वे उन शब्दों द्वारा परमात्मा का ही बोध कराते है––

निरंजन–– यह शब्द निरंजनी पन्थ में चलता है, पर शब्द प्राचीन है।

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्।।

––श्वेताश्वतर उपनिषद्

सेवक सो लागै सेव। तिनही पाया निरंजन देव।
अलख निरंजन लखै न कोई। ––कबीर

पुरुष[1]–– अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।।

साखी–– साक्षी पुरुष––साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

निर्गुण–– साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

एक[2]–– एको देवः सर्वभूतेषु गूढः।

सत्–– ॐ तत् सत्।

तत्[3]–– सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

गोरख[4]–– कबीर के समय 'जोगी' गोरख नाम का स्मरण करते थे। कबीर ने

रोड़ा होइ रहु बाट का, तजि पाखण्ड अभिमान।
ऐसा जे जन होइ रहै, ताहि मिलै भगवान।।
कबीर चेरा सन्त का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसा होइ रहा, ज्यौं पावाँ तलि घास।।

१. अन्य प्रमाण––पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।।
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनान्यया।। ––गीता

२. कबीर एक न जानिया, तौ बहु जानें क्या होइ।
एकैं तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ।।

३. तत्––खीर रूप हरि नाउँ है, नीर आन ब्यौहार।
हंस रूप कोइ साधु है तत का छाननहार।।

४. कामिनि अंग अरत भये, रत भये हरि नाइं।
साखी गोरखनाथ ज्यौं, अमर भये कलि माहिं।।

मन को गोरख, गोविन्द और औघड भी कहा है। जब गोरखनाथ कामिनी से विरत ओर हरि में रत हो गये तब वे कबीर की दृष्टि मे पूज्य हुए।

कबीर ने मन को ही गोरख, गोविन्द और औघड़ कहा है—

मन गोरख मन गोविंद, मन ही ओघड होइ।
जो मन राखै जतन करि, तो आपै करता होइ॥

इस साखी में गोरख और औघड़ का अर्थ ईश्वर ही ग्राह्य है। गोरख— इन्द्रियों का स्वामी। औघड—अघोर। अघोर शिव का एक नाम।

निर्गुणमत के सबसे बड़े सन्त होने के कारण ही हमने कबीर के भक्तिपथ पर किञ्चित् विस्तार मे विचार किया है। उनके सिद्धान्तों ने सब सन्तों को प्रभावित किया और उसी लीक पर सभी परवर्ती सन्त चलते है। नानक सद्‌गुरु कबीर के प्रति परम श्रद्धावान् थे और उनके बारे मे प्रसिद्ध है कि वे कबीर की 'बानी' से सुपरिचित थे। कबीर के समकालीन और गुरुभाई रैदास भी कबीर को सन्तों मे श्रेष्ठ मानते है। दादू कबीर के पथ पर चलकर ही अपनी साधना को दृढ़ करते है।

कबीर जब धर्मक्षेत्र मे उदित हुए, उस समय कई प्रकार के सम्प्रदाय या पन्थ चल रहे थे। इन पन्थों मे अधिकाश हिन्दू-धर्म से ही समय-समय पर निकली शाखाएँ थी। भिन्न-भिन्न शाखाओं के साधु-विरागी अपने-अपने सिद्धान्त का प्रचार कर रहे थे। स्वामी रामानन्द ने भक्ति का उपदेश दिया और जनता इन उदार स्वामी से वैष्णवी भक्ति का उपदेश पाकर धन्य हो गयी। सिद्धान्ततः तो आरम्भ से भक्ति का द्वार शूद्र, नीच-जन्मा, स्त्री आदि सबके लिए खुला माना जाता था; पर उत्तरापथ में इसे व्यवहार में लानेवाले प्रथम महात्मा रामानन्द हैं। इस वैष्णव भक्तिमार्ग के प्रति कबीर का झुकाव होना स्वाभाविक था। गुरु से रामभक्ति और राममन्त्र प्राप्त कर कबीर उपदेश देने लगे। रामानन्दजी सस्कृत के माध्यम से भक्तिसिद्धान्त का व्याख्यान करते थे। हिन्दी में उनकी गति सामान्य जान पडती है। मात्र थोड़े-से पद मिलते हैं, जिनसे न उनका तेजस्वी रूप व्यक्त होता है और न उनकी गहरी रामभक्ति का आभास मिलता है। हिन्दी-साहित्य उनके प्रति इसका ऋणी है कि उनके ही शिष्यों ने हिन्दी-क्षेत्र की देशभाषा में प्रथम बार उपदेश दिया। कबीर और रैदास की 'बानी' में हम हिन्दी-क्षेत्र की अशिक्षित जनता की भाषा पाते है। कबीर जुलाहा हैं और रैदास चमार। एक मुस्लिम समाज के निचले स्तर पर है और दूसरा हिन्दू-समाज के। दोनों समाज के उपेक्षित वर्ग के है, दोनों एक गुरु से प्रभावित है, दोनों की परिस्थितियाँ भी लगभग समान हैं। अपनी जातीय जीविका का वे त्याग नहीं करते, गृहस्थ रहते हुए भी अपनी भक्ति में लीन रहते हैं। इन दोनों मे कबीर का व्यक्तित्व बडा ही महत्त्वपूर्ण है। इनके पूर्व गोरखनाथ को छोड़कर कोई महात्मा इतना प्रसिद्ध नही हुआ। भक्त

कबीर की ख्याति सारे उत्तरभारत में फैल गयी। उन्होने हिन्दू-मुसलमान सबको अपने सरल ज्ञान का उपदेश दिया। कबीर का ज्ञान सत्यानुभव से प्राप्त हुआ था। पुस्तक पढ़कर नही, सत्यानुभव से वे अध्यात्मपथ पर बढे। कबीर ने जो-कुछ कहा, उसके साक्षी होने का दावा किया। 'कागद की लेखी नही, आँखो की देखी' कहने के लिए उन्होंने साखी कही।[1] वे पन्थो के बीच के झगड़े को सुलझाने आये थे, उलझाने नही। वे एक महान् आध्यात्मिक क्रान्ति के प्रवर्त्तक हुए। सद्गुरु कबीर के साथ ही सन्तमत का आन्दोलन खडा हो गया। निर्गुण और सगुण (अवतारवादी) शास्त्र-परम्परा को स्वीकार करनेवाली भक्तिधारा मे अन्तर पड़ गया। निर्गुण सन्तधारा में ऐसे भक्त आये जो धर्म के बाह्य नियमो और विधानो को अस्वीकृत कर केवल भक्ति द्वारा भगवान का नामस्मरण करते थे। इस मत मे वे लोग आये, जिनके उपदेश देने के अधिकार को वर्णाश्रम माननेवाले समाज के नेता स्वीकार करने को तैयार नही थे। जुलाहा, चमार, नाई, दरजी, बनिया जाति के सन्तों को उपदेशक-रूप मे देखकर वर्णाश्रम की मर्यादा के पोषक पण्डितो और ब्राह्मणो के कान खड़े हुए। पहले तो उन्होने इस प्रवाह को रोकने की चेष्टा की, पर बाद में इसके विरुद्ध प्रचार करने लगे। इसी मनोवृत्ति का परिचय ब्राह्मण कवि तुलसीदास, जो वर्णाश्रम की मर्यादा की रक्षा के लिए चिन्तित थे, अनेक स्थलों पर देते है। रामभक्ति का उपदेश, वह भी जुलाहे और चमार से, शूद्र से––यह उन्हे बड़ा अप्रिय लगा। वे साखी, सबदी, दोहरे कहनेवाले निर्गुण सन्तो को और कहिनी, उपखान (प्रेमाख्यान) सुनाकर प्रेममूलक साधना का उपदेश अपनी मातृभाषा अवधी मे देनेवाले मुसलमान सूफी फकीरों को देखकर क्षोभ से पीड़ित हो उठते थे। इसी मनोदशा को हम तुलसीदास की निम्नांकित पंक्तियों मे पाते है––

साखी, सबदी, दोहरा, कहि कहिनी उपखान।
भगति निरूपहि विविध विधि निन्दहिं वेद पुरान॥
शूद्र द्विजहि उपदेशहि ज्ञाना। बैठि बरासन कहहि पुराना॥

ऐसी अवस्था वर्णाश्रम की मर्यादा का पोषक कवि सहन नही कर सकता था। अबतक उत्तरभारत मे जितने धर्मप्रवर्त्तक हुए, वे द्विज और कुलीन थे। मध्यकाल में आचार्यचतुष्टय भी ब्राह्मण थे। कुछ शूद्र भक्ति की दीक्षा लेकर भक्तरूप में प्रसिद्ध हुए; पर उन्हें धर्म का उपदेश देने का अधिकार है, इसे मान लेना ब्राह्मणों के लिए कठिन था। यह नवीन सन्तमत तो हिन्दू-समाज की जड़ को ही हिला रहा था; क्योंकि इस नये आध्यात्मिक क्षेत्र मे हिन्दू-मुसलमान सभी का स्वागत था। राम-रहीम की एकता का प्रतिपादन शिव और राम की एकता, राम और कृष्ण की

---

१. तू कहता कागद की लेखी। मैं कहता अँखियन की देखी।

एकता और देवी और राम की एकता के समान एक ही धर्म के भिन्न-भिन्न समुदायों के बीच ऐक्य के प्रतिपादन के समान सरल नही था। इस प्रकार की उदारता तो पुराणों से ही प्रभावित की जा सकती थी। बौद्धधर्म की अनेक शाखाओं को अपने मे समेट लेने या वसा लेने की उदारता हिन्दू-धर्म ने अभी चार-पाँच सौ साल पूर्व तक दिखलायी थी, पर उस समय भारत मे ऐसा कोई विदेशी धर्म नहीं आया था जिससे हिन्दू-धर्म ओर उस धर्म पर स्थापित समाज की जड़ों के हिलने का खतरा हो। अतः इस सन्तमत की उपेक्षा और निन्दा ब्राह्मणों द्वारा खूब हुई। कबीर आदि सन्तों ने ब्राह्मण से अधिक भक्त को ऊँचा माना। कबीर के अनुसार ब्राह्मण जगत् का गुरु हो सकता है, पर भक्तो का वह गुरु नही हो सकता।[1] जो ब्राह्मणवर्ग इतना रूढिप्रिय था कि भाषा में लिखित किसी ब्राह्मणरचित ग्रन्थ को भी जल्दी मानने को तैयार नही था, वह भला कबीर को और उनके सहधर्मा शूद्र सन्तो को उपदेशकरूप में कैसे मान सकता था? तुलसीदास को अपनी रामायण में आदि-अन्त में संस्कृत को स्थान देकर उसे पूज्य और पांक्तेय ग्रन्थ बनाना पड़ा। फिर कबीरादि सन्तों को कितनी विषम परिस्थितियों मे काम करना पड़ा होगा? जब कबीर की श्रेष्ठता जनता में स्थापित हो गयी, तब उस महान् सन्त के जीवन के मूल मैं एक कथा गढ़ या मढ़ दी गयी कि कबीर ब्राह्मणी विधवा के जारज पुत्र थे, जो जुलाहा-दम्पति द्वारा पालित हुए। कबीर के पहले धर्मक्षेत्र मे हिन्दी को, समकालीन देशभाषा को स्थान नहीं मिला था। कभी पालि, कभी प्राकृत, कभी अपभ्रंश—देशभाषाओं के उदय के पूर्व बौद्ध, जैन, सिद्धों की उपदेशभाषा रही। नाथपन्थ में कुछ स्थान हिन्दी-क्षेत्र की देशभाषा को मिला था। पर यह सत्य है कि इस पन्थ में भाषा पर अधिकार रखनेवाला श्रेष्ठ साधक कवि पैदा नहीं हुआ। कबीर से ही जनभाषा या देशभाषा में कविता का आरम्भ होता है। इस दृष्टि से भी कबीर का हिन्दी में महत्त्व है।

निर्गुण-धारा के अन्य सन्त कवि

रैदास

कबीर के समकालीन रामानन्द के शिष्य रैदास जाति के चमार थे। वे भी काशी के आसपास ही रहते थे। अपने सम्बन्ध में उनका कथन है—'जाति भी ओछी, करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा।' कुटुम्ब के लोग ढेढ की तरह ढोर ढोते हुए जीविका चलाते थे। पर चमार जाति के होने पर भी वे इतने आचार से रहते थे

---

१. ब्राह्मन गुरु है जगत का, भगतां का गुरु नाहिं।
उरझि पुरझि कै मरि गया, चारिउ बेदां माँहि॥

कि उन्हें विप्र भी दण्डवत् करते थे। कबीर के समान ही वे प्रसिद्ध हुए। राम-गोविन्द का गुण गाकर उन्होंने भक्ति प्रकट की। नाभादास ने उनकी 'बानी' को 'सन्देह-ग्रन्थिखण्डन-निपुण' कहा है, उनके सदाचार और वचन को 'श्रुति-शास्त्र-वचन से अविरुद्ध' कहा है।[1]

रैदास की भक्ति उनके पदों में बड़ी सरल भाषा में व्यक्त हुई है। ऐसी भाषा वही लिख सकता है जिसका मन पूरा निर्मल हो गया हो। कबीर की तरह वे किसी पर कटूक्ति या व्यंग्य नही करते। उन्हें केवल अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति की चिन्ता नहीं है। वे भी 'वैष्णव रस' और 'पिया' की बात कबीर की ही पद्धति पर करते है। इससे ज्ञात होता है कि रामानन्द के उपदेश मे तीन तत्त्व ही प्रमुख थे—वैष्णव भक्ति में प्रेमतत्त्व का मिश्रण, दाम्पत्यभाव और जाति-पाँति को महत्त्व न देना। ये भाव रैदास में कबीर के ही समान हैं। यहीं मर्यादाभक्ति और वर्णाश्रम माननेवाली रामभक्ति-शाखा से इस भक्तिपथ का मौलिक भेद है। सगुण नाम का ग्रहण तो सभी निर्गुण भक्त करते हैं। केवल रूपगुणलीलाधाम को लेकर मतभेद है—

जिहि कुल साधु बैसनो होइ।
बरन अबरन रंक नहि ईश्वर विमल बासु जानिये जग सोइ।
बाँभन बैस सूद अरु खत्री डोम चँडाल म्लेच्छ किन सोइ।

× × ×

जिन पिया सार रस तजे आन रसमगन डारि विषु खोइ।

म्लेच्छ शब्द मुसलमानों के लिए है। 'राम रहीमा, कृष्ण करीमा' की एकता को रैदास भी मानते हैं—

कृष्ण करीम राम हरि राघव, जब लगि एक न पेखा।
बेद कतेब कुरान पुरानन, सहज एक नहि देखा॥
जोइ-जोइ पूजिय सोइ-सोइ काँची सहज भाव सति होई।
कहि रैदास मैं ताहि को पूजूँ जाके ठाँव नाँव नहि कोई॥

१. ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारं।
हृदय राम गोविन्द गुन सारं॥
जाति भी ओछी, करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा।
नीचै सै प्रभु ऊँच कियो है कह रैदास चमारा॥ —रैदासजी की बानी
जाके कुटुम्ब के ढेड़ सब ढोर ढोवत फिरहिं अजहुँ बनारसी आसपासा।
आचार सहित विप्र करहिं दण्डवति तिनि तनै रविदास दासानुदासा॥ —'गुरुग्रन्थ'
सदाचार श्रुति शास्त्र वचन अविरुद्ध उचार्यो।
सन्देह ग्रन्थि खण्डन निपुन बानी विमल रैदास की॥ —'भक्तमाल'

प्रेम की पीर का अनुभव रैदास भी करते है। विरहिणी-रूप में भक्त का चित्रण देखिए--

मैं बेदाने कामनि आँखूँ, हरि बिन जिव न रहै कस राखूँ ।।
जिव तरसै ल्यौ आसरु तेरा, करहु सँभाल न सुरमुनि मेरा ।।
बिरह तपै तन अधिक जरावै, नीद न आवै भोज न भावै ।।

वे मन को हरि की चटशाला मे पढ़ाना चाहते है; ज्ञान का अक्षर पढ़ना चाहते हैं, प्रेम की पाटी पर सुरति की लेखनी से 'र' और 'म' को अंकित कर गुरु को दिखलाना चाहते है--'मोहि अन्य पढ़न सों कौन काज'। कबीर भी तो यही प्रह्लाद के शब्दो में कहते है।

गुरु नानक

कबीर के भावो का साम्य गुरु नानक और दादू में अनेक स्थलो पर स्पष्ट रूप में मिलता है। नानक भी राम-नाम के जप को महत्त्व देते है; अमृतरस, सहजसुख भक्ति-तत्त्व की ही चर्चा करते है।

बरसु घना मेरा मनु मीना।
अमृत बूँद सुहानी हियरै गुरि मोहि मनु हरिरस लीना ।।

वे भी भक्त को 'सोहागिनी' कहते है जो हरि को वर बनाती है। वे कहते है--

बिनु हरिनाम कोउ मुकुति न पावसि डूबि मुए बिन पानी ।।

पुस्तक पढ़नेवाले पण्डित की वे भी हँसी उड़ाते है, बिना रामनाम और भक्ति के इस पुस्तकीय विद्या को व्यर्थ मानते हैं। ये सब बातें कबीर के समान ही है--

पुसतक पाठ व्याकरण बखाणै सन्धिआ करम त्रिकाल करै।
बिन गुरु सबद मुकति कहा प्राणी रामनाम बिनु अरुझि मरै ।।

'भेख-अडम्बर' की निन्दा भी वे कबीर के समान ही करते है। 'गुरुप्रसाद' का महत्त्व नानक ने स्वयं स्वीकार किया और बाद मे वे भी गुरुरूप में पंजाब में पूजित हुए।

कबीर ने नानक को अत्यन्त प्रभावित किया है। कदाचित् नानक कबीर को ही मन मे गुरु मानते हों या उन्हीं के अनुयायी किसी सन्त से दीक्षित हों।

नानक की परमात्मा की आरती बड़ी भावपूर्ण है (पद २)। इसकी भाषा भी उत्कृष्ट है। गगन के थाल में रविचन्द का दीपक, तारकमण्डल का मोती, मलयानिल का धूप, पवन का चँवर करना, अनहद का बाजा आदि का वर्णन--विराट् पुरुष का सगुण रूप--अत्यन्त मनमोहक है।

दादू

इस सन्तधारा में दूसरे बड़े सन्तकवि दादू है। इन्हें भी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में ही माना जाता है। इनका साधनाक्षेत्र साँभर (राजस्थान) में था। प्रेम-युक्त भक्ति में ये कबीर के समान ही सदा रसमगन रहते थे। सिद्धान्त में कबीर और दादू एक है। इनकी 'बानी' में मर्मस्पर्शिता अधिक है। कहने का ढंग मन पर सीधी चोट करनेवाला है। जनगोपाल-कृत 'जीवनपरची' के अनुसार दादू तीस साल के बाद साँभर आये और वहीं गुनसठा (६३ ?) मे स्वामी राम में समा गये।[1] इनका प्रभाव मुख्यतः राजस्थान में बढ़ा।

ब्रह्म सबमें उसी प्रकार सब ठौर व्यापक है, जैसे दूध में घी। बस, उसे मथकर जो काढ़ ले, वही सच्चा भक्त है—

घीव दूध में रमि रह्या, व्यापक सबही ठौर।
दादू बकता बहुत है, मथि काढ़ै ते और॥

दादू न हिन्दू होना चाहते हैं, न मुसलमान। वे तो साधु है। वे धुनिया है, पर व्यावहारिक दृष्टि से मुसलमान नही है। हिन्दू-मुसलमान दोनों की करनी उन्हें नहीं भाती। वे सब सन्तों की राह के पथिक हैं—

दादू ना हम हिन्दू होहिगे, ना हम मूसलमान।
षट् दर्सन मै हम नहीं, हम राते रहिमान॥
दादू करणी हिन्दू तुरक की अपणी अपणी ठौर।
दुहुँ बीच मारग साधु का यहु सन्तौ की रह और॥

वे तो क्या हिन्दू, क्या मुसलमान सबमें एक ही आतमा देखते है। सबमे एक ही समाया है, दूसरा या अन्य तो है नहीं। एक ही आतमा कहीं हिन्दू और कहीं मुसल-मान कैसे हो सकती है?—

सब हम देख्या सोधि करि, दूजा नाहीं आन।
सब घट एकै आत्मा, क्या हिन्दू मूसलमान॥

कबीर और दादू के कन्त में कोई भेद नहीं है। जो कबीर का कन्त है, वही कन्त दादू भी वरेगा, यह स्पष्ट कहकर वे कबीर का स्मरण करते है[2]—

जो था कन्त कबीर का सोई बर बरिहूँ।
मनसा बाचा कर्मना मै और न करिहूँ॥

वेद-पुराण लिखकर कागद काला करनेवाले मर गये। पढ़ने को तो उनमें एक

१. सभै गुनसठा नगर नराने। साधे स्वामी राम समाने॥
२. कबीर बिचारा कह गया, बहुत भाँति समुझाइ।
दादू दुनिया बावरी, ताके संग न जाइ॥

ही अक्षर है--पीव का नाम। दादू ने वही अक्षर पढ़ा।[1]

सभी धर्मों और मतों के आप्त पुरुषों (पहुँचे हुओं) का एक मत है। सब एक ही बात कहते हैं। बीच के अनेक पन्थ बनानेवालों ने सब 'बारह बाट' कर दिया--

जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बात।
सबै साधौ का एक मत, बिच के बारह बाट॥

इन्ही बीच में रह जानेवालों के कारण पन्थों (बाटों) में भेद हो गया। दादू जैसा उदार प्रेमधर्मी सन्त मिलना कठिन है। दादू के शिष्यों की संख्या बहुत है। इन्होंने अपने-अपने स्थान पर दादू के ढंग पर साधना के पीठ स्थापित किये।

सुन्दरदास

दादू के शिष्यों में एक सुन्दरदास हुए, जिन्होंने शास्त्राय ग्रन्थों और काव्यादि का अनुशीलन करने के बाद इस मत की दीक्षा ली। दादू के शिष्यों में ये सबसे प्रौढ़ हैं और सन्तमत को व्यवस्थित भाषा में उपस्थित करने का इन्हें ही श्रेय प्राप्त है। कबीर और दादू की तन्मयता सुन्दरदास मे नहीं मिलती और अभिव्यक्ति मे उतनी ऋजुता और मार्मिकता नही है। किन्तु सुन्दरदास ने भक्तिपक्ष के निर्गुण भाव को बड़े विस्तार से, विद्या के पुट से युक्त कर व्यक्त किया है। श्रृंगाररस की इन्होने निन्दा की। अलंकार, रस, शब्दशास्त्र इत्यादि का अभ्यास करने के बाद इन्होंने नाना छन्दों में सन्तमत को पुष्ट करने के लिए लेखनी उठायी। तात्त्विक दृष्टि से निर्गुणसाधना में ही इनकी दृढ आस्था थी। 'सुन्दरविलास', 'ज्ञानसमुद्र' और 'पद' इनकी प्रमुख कृतियाँ है।

दरिया साहेब

बिहार में सन्तमत का प्रवर्तन आरा जिले के दरिया साहेब और सारन जिले के धरनीदास ने किया। दरिया साहेब की मृत्यु संवत् १८३७ में हुई।[2] दरिया को भी कबीर का अनुयायी मानना चाहिए। इन्होंने बहुतेरी पुस्तकें लिखी है। बिहार के इस सन्त को प्रकाश में लाने का श्रेय स्व० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारीजी को था। इनकी पुस्तकों में 'दरियासागर' और 'ज्ञानदीपक' प्रसिद्ध हैं।[3] 'प्रेममूला' शीर्षक ध्यान देने योग्य है। निर्गुण भक्ति भी प्रेममूला होती है। कृष्णभक्तिशाखा में 'प्रेम-

---

१. कागद काले करि मुये, केते वेद पुरान।
एकै आखर पीव का, दादू पढ़ै सुजान॥

२. संवत अठारह सै सैंतीस भादौं चौथि अँधार।
सवा जाम जब टैन गो दरिया गौन बिचार॥

३. पाठ्यांश ब्रह्मचारीजी के ग्रन्थ से संकलित हैं।

लक्षणा भक्ति' शब्द का विशेप प्रचार है। किन्तु निर्गुण भक्ति में भी प्रेमतत्त्व वर्तमान है। इस बात को प्राय: ध्यान में न रखने के कारण अनेक हिन्दी विद्वान् ऐसी जगहों पर सूफी प्रभाव बताने लगते है। दोनों मे कुछ समानताएँ अवश्य है, पर भेद भी कम नही।

दरिया ने प्रेम के प्रसंग में स्पष्ट कर दिया है—

प्रेम प्रीति करु नाम से, भौजल जाय न हारि।
बिना प्रेम नहि भगति है, कँवल सुखे बिनु वारि।

प्रेम का व्याख्यान सन्त की 'बानी' में ही सुनिए—

नैन सोइ जेहि प्रेम समाना। बिना प्रेम है सील पखाना।
बिना प्रेम नैना है खाली। बिना बाटिका जैसे माली॥
बिना प्रेम मानुष है कैसा। मधुकाढ़ी छारै मुख जैसा।
बिना प्रेम जन गावै कोई। भाट भाँड़ गनिका मत वोई॥

दरिया ने कमल और भ्रमर, नाद और मृग, कुमुदनी और चन्द, चातक और स्वाति, चकोर और पावक इत्यादि के दृष्टान्तों द्वारा इस प्रेमतत्त्व को समझाया है। दोहा-चौपाई में रचना करने के कारण प्रेमाख्यानक शैली का आभास होता है; किन्तु यह निर्गुण प्रेमतत्त्व है, सूफी प्रेमतत्त्व नही।

दरिया को बस भजन का भरोसा है, एक नाम पर प्रीति-प्रतीति है। यह उनके निम्नोद्धृत दोहे से स्पष्ट है—

भजन भरोसा एक बल, एक आस बिस्वास।
प्रीति-प्रतीति इक नाम पर, सोइ सन्त विवेकी दास॥

दरिया अपने को 'कुलवन्ती खसम पियारी' रूप में रखकर पिया के पलँग पर पौढ़ने का वर्णन करते है। यह सब कबीरमत के अनुसार ही है।

इस तन में ही उस पिया को जोग-जुगति से पाना है। 'जोग' शब्द से घबराने की बात नहीं—यह गोरखनाथ का जोग नहीं, निर्गुण का 'सहज योग' है।

निर्गुणधारा भारतीय भक्तिस्रोत से ही निकली है, वह आमुष्मिक काव्य का श्रेष्ठ रूप है। इस विशिष्ट आध्यात्मिक भक्तिभागीरथी के भगीरथ कबीर हैं। इसी भागीरथी का जल अनेक घाटों से बहता हुआ समस्त हिन्दी-क्षेत्र को उर्वर करता है।

प्रेमाख्यानधारा

जब मुसलमान इस देश में शासक बनकर बस गये, तब इस्लाम के साथ यहाँ के

१. पद-३, पाठ्यांश।

मुस्लिम सन्तों ने अपने सिद्धान्तों को इस देश की जनता के बीच प्रचारित करने के लिए यहाँ की देशभाषाओं को माध्यम बनाया। पहले सिन्ध और पंजाब मे और बाद मे हिन्दी-क्षेत्र में कई प्रसिद्ध सन्तों का उदय हुआ, जिनके प्रभाव में बड़े-बड़े मुस्लिम शासक, सरदार, अमीर इत्यादि आ गये। इस सन्तों का उद्देश्य मुहम्मदी धर्म का प्रचार करना नहीं था। ये ईश्वरीय प्रेम के सन्देशवाहक थे। प्रेम द्वारा ही ईश्वर प्राप्य हैं और ईश्वर के प्रति प्रियप्रिया-भाव व्यक्त कर भक्त में उससे मिलन की आकाक्षा होनी चाहिए––यही उनकी शिक्षा थी। खुदा इस दुनिया की हुकूमत करता है, आदमी को पाप के लिए दंड देता है और पुण्य के लिए सुख। सुख और दु.ख के भोग के लिए वह बिहिश्त और दोजख बनाता है। उस खुदा से आदमी को डरना चाहिए और उसके जो हुक्म, आसमान से उतरी किताब कुरान मे दर्ज है, उनके मुताबिक इस दुनिया मे अपनी जिन्दगी बसर करनी चाहिए। इस्लाम रसूल या पैगम्बर के बताये रास्ते पर चलने को ही आदर्श जीवन मानता है। खुदा का जो वर्णन है, उससे तिल भर भी हटना उचित नही है। अरब से आँधी की तरह उठा हुआ यह धर्म चारों ओर बड़ी तेजी से फैला और तलवार के जोर पर अपने उत्साही समर्थकों द्वारा सभी विजित देशों में वहाँ के पूर्वप्रचलित धर्मों को नष्ट करते और उनके सांस्कृतिक चिह्नों को समाप्त करते हुए बढ़ा। मिस्र से लेकर मध्य एशिया तक की भूमि सौ साल के अन्दर ही अपने पुराने धर्म से कटकर इस धर्म को ग्रहण करने को विवश हुई। हिन्दुस्तान मे अरबों का आक्रमण सिन्ध पर आठवी सदी में ही हो गया था, पर उस समय यह धर्म इस देश के एक किनारे पर टकराकर रुक गया। कई सौ साल बाद इस्लाम अपने शक्तिशाली आक्रामकों के साथ पश्चिमोत्तर द्वार से पुनः प्रविष्ट हुआ और पंजाब होता हुआ उत्तरभारत के मध्यभाग तक पहुँच गया। इस अवधि में इस्लाम में भी कई प्रकार की विचारधाराओं का प्रवेश हो चुका था। ईरान की उन्नत संस्कृति, यूनान के फलसफा, हिन्दुओं के वेदान्त आदि से मुसलमान सन्तों का परिचय हुआ। ज्ञान, योग और उपासना के अनेक रूपों से वे प्रभावित होने लगे। व्यावहारिक धर्म के रूप में इस्लाम उन्हें सन्तुष्ट करता था; पर जिन सन्तों में तीव्र आध्यात्मिक प्यास थी, ईश्वर के साक्षात्कार की सच्ची लगन थी, वे इस्लाम के बताये मार्ग से ही सन्तुष्ट न होकर नये साधना-मार्गो की ओर उन्मुख हुए। इस्लाम मे प्रेमतत्त्व या भक्ति की न्यूनता देखकर उनका झुकाव दर्शन और योग की दिशा में हुआ। सभी देशों में पुराकाल में प्राचीन धर्मो के अन्तर्गत गुह्य साधना के मार्ग प्रचलित थे। यह इतिहास से प्रमाणित है। मिस्र, ईरान, इजराइल, इराक सभी देशों में प्राचीन धर्मो के अन्तर्गत गुह्य साधना और उपासना के सम्प्रदाय थे, जिनके कुछ अनुयायी सब देशों मे बने रहे। ईरान और एशिया के बौद्धक्षेत्रों में इस प्रकार के सम्प्रदाय इस्लाम के आगमन के पूर्व विद्यमान थे। भारत से दर्शन और योग यवन

(यूनान) देश में पहुँच चुका था, उत्तरापथ के पश्चिमी भाग के यवन राजाओ के राज्य-काल मे भारतीय धर्म और साधना तथा यहाँ की विद्याएँ मध्यपूर्व के उन देशों मे जा चुकी थी जहाँ बाद मे इस्लाम का प्रवेश हुआ। अतः इस्लाम के अन्दर भी ज्ञान, दर्शन और उपासना की अनेक विधियाँ धीरे-धीरे घुसने लगी। इस्लाम कुरान को ही लेकर उदित हुआ और एकमात्र उसी की प्रामाणिकता मानता है; पर कुरान के भाष्यकारों ने भी उसकी आयतों की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से करके, इस्लाम के अन्तर्गत ही किंचित् नवीन विचारों के प्रवेश के लिए रास्ता बना दिया। सूफी सिद्धान्त भारतीय अद्वैत (वेदान्त), योग और भक्तितत्व के सयुक्त प्रभाव से विकसित जान पडता है। सूफी साधना पर भारतीय दर्शन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। हो सकता है कि यह प्रभाव सीधे भारत से न जाकर यूनानी फिलॉसफी के जरिये पहुँचा हो, पर सूफी फकीरों के सिद्धान्त पर अद्वैत और योग का प्रभाव अतिस्पष्ट है।

सूफी सिद्धान्त का मूल और विकास यहाँ हमारा विवेच्य विषय नही है, अतः हम इसके इतिहास के विवेचन मे न पडकर सक्षेप मे इतना ही बताना आवश्यक समझते हैं कि १२वी सदी के लगभग इस देश में बहुत-से सूफी सन्त हिन्दी-क्षेत्र मे बस चुके थे। इनमें अनेक बहुत प्रसिद्ध हुए है और उनके प्रभाव में इस देश के बड़े-बड़े शासक, मुस्लिम शासनाधिकारी भी आये। इन सूफी सन्तों ने फारसी के बडे-बडे शायरों को प्रभावित किया। जनता पर इन सूफियों बढते हुए प्रभाव, वेदान्त और हिन्दू-विचारधारा की छाप को देखकर इस्लाम के समर्थक बादशाहो ने इन्हे दबाना चाहा और इन-पर बहुत जोर-जुल्म भी किये; पर इनका प्रभाव विद्वानों और जनता पर भी बढ़ ही गया। यह सूफी मत हिन्दुस्तान के बाहर ईरान, ईराक, अरब वगैरह मुसलमान मुल्कों में भी प्रबल था और इसका प्रचार रोकना कुरान माननेवाले मुल्लाओं के लिए कठिन हो गया। सूफीमत मध्यकाल में मुस्लिम देशों का एक अन्तरराष्ट्रीय आध्यात्मिक आन्दोलन था, जिसके तरंगाघात से इस्लाम की दीवारें ही नहीं, नीवें भी हिलने लगी थी। एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ मे कुरान लेकर चलनेवाले मुसलमान बादशाहों ने हिन्दुओं के मन में इस्लाम के बारे में जो धारणा पैदा की थी, उसमे और सूफी फकीरों के प्रेममूलक आध्यात्मिक उपदेश और उनके सात्त्विक जीवन में आकाश-पाताल का अन्तर दीख पड़ा। सूफी फकीरों से प्रभावित मुसलमानों में दो वर्गो के कवि थे। एक, जिन्होने फारसी का माध्यम अपने सिद्धान्तो के प्रचारार्थ ग्रहण किया। यह वर्ग ईरानी सूफी शायरों की परम्परा के अनुसार भारत में फारसी काव्यों की रचना में प्रवृत्त हुआ। दूसरा वर्ग इस देश की जनभाषा अवधी को माध्यम बनाकर, प्रेमाख्यानों की रचना कर, योगक्रियाओं से पुष्ट अपनी प्रेममूलक साधना में लगा रहा। इस द्वितीय वर्ग ने भारतीय अध्यात्मसाधना के अनेक अंगों को स्वीकार कर लिया। इस्लाम के साथ चिपके हुए और कुरान और हजरत मे श्रद्धा

रखते हुए भी इन सूफियों ने योग और वेदान्त में अपनी आस्था व्यक्त की; हिन्दू-पुराणों और सिद्धो की साधना, योग के आसन, प्राणायाम आदि की उपयोगिता को स्वीकार किया। हिन्दू-जीवन से जितना परिचय हिन्दी के सूफी कवियो का है, उसकी तुलना मे सामान्य हिन्दू-कवि मुस्लिम सस्कृति को नही जानता है। इन मुस्लिम कवियों ने हिन्दी-काव्य मे हिन्दू-धर्मसाधना और हिन्दू-जीवन की अनेक बातो की जैसी जानकारी दिखलायी है, उससे हमे विस्मय होता है। जान पड़ता है कि सूफी फकीर बहुत उदार थे और हिन्दू सन्तों और साधको के जीवनदर्शन से परिचित थे, नहीं तो इन मुसलमान कवियो को हिन्दू-जीवन के विषय का इतना ज्ञान नही हो सकता था। जिस समय प्रेमाख्यानक काव्य की रचना आरम्भ हुई, उस समय के मुस्लिम शासकों मे वह कट्टरता नही थी, जिसका प्रखरतम रूप औरंगजेब आदि के समय दीख पड़ा। शेरशाह बडा उदार बादशाह था। अकबर भी हिन्दू-शास्त्रो से प्रभावित था और कट्टर इस्लामी वातावरण को नही पसन्द करता था। उसका 'दीन-इलाही' इस्लाम का उदारतम रूप था। दाराशिकोह उपनिषदो और वेदान्त मे गहरी श्रद्धा रखनेवाला था। ये सब इस्लाम के घेरे के बाहर देखने और जानने को तैयार थे। सूफी कवियो को इस्लाम की कठोरता को कम करने का श्रेय मिलना चाहिए। हिन्दी के सूफी कवियों के शिरोमणि जायस के मलिक मुहम्मद है। इनके पूर्व भी इस वर्ग के कई कवि हुए थे, ऐसा 'पदमावत' में उल्लिखित प्रेम-कहानियो से जान पड़ता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि शेरशाह के पहले भी सूफीमत से प्रभावित प्रेमाख्यान रचे गये थे। उनमे कुछ अब भी मिलते हैं, शेष का पता नही। हमे ऐसा लगता है कि उस समय या तो ऐसे मुस्लिम सन्तो का प्रभाव अवध-क्षेत्र मे अधिक था, जिसके कारण अवधी में ही ऐसा साहित्य मिलता है या उस समय अवधी व्रजभाषा से अधिक उन्नत भाषा थी और उसमे कथाकाव्य की परम्परा पहले से चली आती थी, जिसके कारण अवधी ही मुसलमानों को अधिक उपयुक्त जान पड़ी।

प्रेमाख्यानो मे इधर एक पुस्तक 'लोरी-चन्दा की कहानी' मिली है, जिससे यह ज्ञान होता है कि यह परम्परा जायसी के काफी पहले विकसित हो चुकी थी। इन सूफी कवियों ने मुक्त-शैली को क्यों नही पसन्द किया और क्यों प्रेम-कहानियों की प्रबन्ध-शैली अपनायी, इसका कोई ठोस कारण होना चाहिए। फारसी का सूफी साहित्य मुक्तक और प्रबन्ध दोनो रूपों में मिलता है। फिर हिन्दी मे प्रबन्ध की रीति के प्रति विशेष मोह का कारण क्या है?

भारत में सूफी विचारधारा १२वीं सदी के बाद आयी थी। जायसी के पूर्व सूफियों के दो ही सम्प्रदाय प्रमुख थे—'चिश्ती' और 'सुहरावर्दी'। इन सम्प्रदायों का मूल हिन्दुस्तान के बाहर था। इन्हें आरम्भ में मुसलमानी सल्तनत का सहारा भी नही मिला। व्यक्तिगत रूप से कोई शासक किसी सूफी फकीर का श्रद्धालु भक्त हो

सकता था, पर तख्त की छाया के नीचे तो इस्लाम को ही स्थान था। मुल्ले और मौलाना इस्लाम के पोषक थे। मुस्लिम जनता के हृदय पर सूफी फकीरों का राज्य था; वह इस्लाम को मन से मानती थी, पर हृदय की श्रद्धा-भक्ति इन फकीरों को देती थी। इनके तपोनिष्ठ सात्त्विक जीवन और शुद्ध धार्मिक वृत्ति को देखकर सामान्य जनता इनके प्रभाव मे आती गयी। सूफी एकेश्वरवादी के साथ सर्वेश्वरवादी थे। अहिंसा भी सूफियों को मान्य थी। सूफियो के बीच वर्गगत कुलीनता-अकुलीनता का भी स्थान न था। इन मुस्लिम सन्तो के स्थानो पर सब बराबर थे—हिन्दू-मुसलमान और मुसलमानों में सैयद-शेख-पठान-मोमिन सब बराबर थे। इस धर्म को प्रेमधर्म ही कह सकते है। प्रेम की पीर का अनुभव इस धर्म में सबसे महत्त्व-पूर्ण तत्त्व था।

सूफियो मे दो वर्ग थे। एक वर्ग कुरान की मान्यता और अपने सिद्धान्तों को उसी के अनुकूल सिद्ध करने की चेष्टा करता था और दूसरा वर्ग दिनानुदिन दीन-कुरान से हटता हुआ भारतीय वेदान्त और योग की ओर झुकता गया। पहला वर्ग बाशिरा और दूसरा वेशिरा कहलाने लगा। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि जायसी हिन्दू-सिद्धान्तों और जीवनधारा से सुपरिचित है; पर अपने धर्म मे, कुरान और मुहम्मद साहब में भी इनकी पूरी श्रद्धा है। भारत में सूफी सन्त मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२-१२३६ ई०) अजमेर में रहकर अपनी साधना करने लगे। उनकी दरगाह सूफी-साधना का गढ़ वनी और यही से उनके शिष्य सब ओर फैले। इसी शिष्यपरम्परा में आगे चलकर निजामुद्दीन औलिया हुए। इन पश्चिमी सूफी साधकों ने हिन्दी में रचनाएँ नहीं की। हिन्दी का प्रेमाख्यानक काव्य, जिसकी भाषा अवधी है, पूर्वी भाग में रचा गया। पूरब में भी सूफी सन्तों के कई स्थान प्रसिद्ध हुए। मानिकपुर, जौनपुर, कालपी मे इन सन्तो की दरगाहों पर अवधी का आदर था। इनके प्रभाव-क्षेत्र में आनेवाले सूफी कवियो ने ही प्रेम-कहानियाँ लिखी है। जायसी ने जिन सैयद अशरफ पीर का उल्लेख किया है, वे फैजाबाद जिले के कछौछा के चिश्ती-सम्प्रदाय के थे। जान पड़ता है कि पूरब मे सूफी सन्तों ने हिन्दू जनता को भी आकृष्ट करने के लिए अवधी में रचनाएँ की। हमें लगता है कि सूफियों ने यह अनुभव किया कि इस प्रदेश में फारसी के जानकार कम हैं और विना देशभाषा का आश्रय लिये उनका पन्थ फैल नहीं सकता। जायसी भी चिश्तिया साधक मुईनुद्दीन की शिष्यपरम्परा मे थे। कवि ने सैयद अशरफ को अपना प्यारा पीर कहा है। पीर के लिए भी 'पिआरा' विशेषण इसी प्रवृत्ति के कारण है।[1]

'पदमावत' का हिन्दी में प्रकाशन डॉ० ग्रियर्सन की प्रेरणा से पं० सुधाकर द्विवेदी ने

---

१. सैयद असरफ पीर पियारा। तिन्ह मोहिं पंथ दीन्ह उजियारा॥

कराया था। इसके पूर्व हिन्दी-पाठकों के लिए यह अपरिचित था। हिन्दी-जगत् मे इसकी परम्परा एक प्रकार से लुप्तप्राय थी। पर हिन्दी-साहित्य में इसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय श्री रामचन्द्र शुक्ल को है। १९२४ ई० मे 'पदमावत' को शुक्लजी से सम्पादित करा कर नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया। 'पदमावत' की अधिक प्रतियाँ उर्दू लिपि में थी। कुछ ही प्रतियाँ नागरी या कैथी में मिलती थी। सूफी मुस्लिम परिवारों में उर्दू लिपि में 'पदमावत' मिलता था, पर इसे समझनेवाले और इसका आदर करनेवाले मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी। हिन्दू पाठकों में भी अवधी का सूफी प्रेमाख्यानक काव्य बहुत कम परिचित था। विगत पचास वर्षों की खोज के फलस्वरूप मुसलमानों के रचे हुए कई प्रेमाख्यानों की प्रतियाँ मुस्लिम ग्रन्था-गारों से प्राप्त हुईं, जिनसे यह प्रमाणित हुआ कि ऐसे काव्य की परम्परा जायसी से लगभग दो सौ साल पुरानी है। उस काल में प्रचलित अनेक कहानियों को लेकर प्रबन्धकाव्य की शैली में रचनाएँ हुई थी। ऐसी एक पुरानी कृति — दाऊद के 'चंदायन' या 'लौरचंदा' (१३७० ई०)––का पता चला है। 'पदमावत' में कई प्रेम-कथाओं का उल्लेख है, जिनमें नायिकाएँ प्रधान थी।[१]

'पदमावत' पर सूफी फारसी काव्यों का प्रभाव स्पष्ट है। भारतीय काव्यों में समकालीन राजा का वर्णन आवश्यक नही है। अपनी गुरुपरम्परा का भी प्रायः इतने विस्तार से भारतीय कवियों ने वर्णन नहीं किया, जितना वह सूफियों के प्रेमप्रबन्धों मे मिलता है।

'पदमावत' अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्व की रचना है। ग्रामीण अवधी का प्राचीन रूप 'पदमावत' में मिलता है। अनेक शब्दों के रूप अपभ्रंश से मिलते है। देश-भाषा अवधी की शब्दसम्पदा इस ग्रन्थरत्न में देखते ही बनती है। इसमे मध्यकालीन सांस्कृतिक अध्ययन की महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित है। धर्म और सम्प्रदाय के क्षेत्र में जायसी हिन्दू धार्मिक जीवन के विविध रूपों से परिचित है। वे एक स्थान पर जपा, तपा, रिखेस्वर, संन्यासी, रामजन, मसवासी, ब्रह्मचारी, दिगम्बर, सरस्वती, सिद्ध जोगी, निरासपन्थी, महेश्वर, जंगम, यति, देवी सती के भक्त (शाक्त), सेवरा, खेवरा, जैन, वानप्रस्थी, सिद्ध, साधक और अवधूत का उल्लेख करते है। अपने पंथ का कवि ने कोई नाम नहीं दिया। सूफीमत का कहीं उल्लेख नही है, यद्यपि जायसी स्वयं सूफी हैं। अपने ग्रन्थ में वे प्रेमपंथ का ही वर्णन करते है। प्रेम और विरह की अनु-भूति को ही वे ईश्वरप्राप्ति में सबसे प्रमुख साधन मानते हैं। डॉ० अग्रवाल का इस सम्बन्ध में यह विचार है––"सहजयानी सिद्धों की साधना-चर्या, नाथगुरुओं की और

१. स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती, प्रेमावती—इन प्रेमकथाओं से सम्बद्ध काव्य जायसी के पूर्व विद्यमान थे, ऐसा संकेत स्पष्ट है। इधर एक 'मृगावती' और 'मधुमालती' काव्य मिला है। पर ये बाद की रचनाएँ हैं।

निर्गुण-परम्परा एवं मुसलमानी सन्तों की सूफी परम्परा का प्रभाव भी पूरी मात्रा में जायसी पर पड़ा था। उन सबके सारभूत ग्राह्य अंश को स्वीकार करते हुए जायसी ने अपने विशिष्ट आध्यात्मिक दृष्टिकोण का निर्माण किया जिसे उन्होंने स्वयं प्रेम-मार्ग यह उदात्त नाम दिया।"

वस्तुत. जायसी प्रेममार्गी कवि हैं। 'पदमावत' में प्रेम और विरह की महिमा गायी गयी है। सूफी-साधना का यह प्रमुख तत्त्व है। जायसी इसकी व्याख्या सूफी-शब्दावली के सहारे नही करते। प्रेमपंथ को जायसी कठिन कहते है; इस पंथ की कठिनाइयो का बड़े विस्तार से वर्णन करते है। इस पथ पर शीश चढ़ाना पडता है––

भलेहि पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइ खेला।।
जेइं नहि सीस पेम पँथ लावा। सो प्रिथिमी मँह काहे को आवा।।
मानुस पेम भएउ बैकुंठी। नाहित काह छार एक मूँठी।।
पेम पहार कठिन बिधि गढ़ा। सो पै चढ़ै सीस सो चढ़ा।।
पंथ सूरिन्ह कर उठा अँकूरू। चोर चढ़ै कि चढै मंसूरू।।

जायसी प्रेम को सबसे ऊँचा मानते है। वह गगन से भी ऊँचा है। वे कहते हैं–गगन तक दृष्टि से पहुँचा जा सकता है। प्रेम अदृष्ट है और गगन से भी ऊँचा है। ध्रुव से ऊँचे पर प्रेम का ध्रुव उगता है। जो इस पथ पर सिर देकर पाँव देता है, वही उसे छू सकता है। तुम राजा और सुखिया हो, राजसुख भोग करो। इस पथ पर वह पहुँचता है, जो दुःख और वियोग सहता है––

गगन दिस्टि सौ जाइ पहूँचा। प्रेम अदिस्ट गगन सौ ऊँचा।।
धुव ते ऊँच पेम धुव उवा। सिर दै पाउ देइ सो छुवा।।
तुम्ह राजा औ सुखिआ करहु राजसुख भोग।
एहिरे पंथ सो पहुँचै सहै जो दुख वियोग।।

इस पंथ पर गुरु (पथप्रदर्शक) का काम है विरह की चिनगी से मेल कराना। चेला वह जो अपने अन्तर मे इस चिनगी को सुलगा ले––

गुरु विरह चिनगी पै मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला।।

जायसी के मत में प्रेम का विरहभाव ही अधिक महत्त्व का है। जैसे प्रेमी अपने बिछुड़े प्रेमपात्र से मिलने को व्याकुल होता है, वैसे ही यह जीव भी जब परमात्मा से मिलने को व्याकुल हो उठता है, जब हृदय में विरह की चिनगी सुलग उठती है, तब परमात्मा से मिलन होता है और उस आनन्दजन्य स्थिति में शीतलता और शान्ति मिलती है। पहले होली जलाओ, तब फाग का राग गाना। पहले विरह की आग जलाओ, तब प्रिय-मिलन की शीतलता की आशा करना।

प्रेम को छोडकर तीनों लोक और चौदहों खंड में और कुछ सुन्दर नहीं है। कवि अपना यह दृढ विश्वास व्यक्त करता है--

तीन लोक चौदह खंड सबै परै मोहि सूझि।
पेम छाँड़ि कि और न लोना जौ देखौ मन बूझि ।।

प्रकृति में सर्वत्र उसी परमात्मा की विभूति है। यदि प्रकृति सुन्दर है तो मात्र इसलिए कि वह सुन्दरतम का प्रतिबिम्ब है। सब उसी के सौन्दर्य की छाया है। उसी परमपुरुष की सुन्दरता सब सुन्दर वस्तुओ में दिखाई पड़ती है। उसी की ज्योति से सब ज्योतित है, उसी की छवि से सब छविमान है। सम्पूर्ण सृष्टि मे उसी की दृष्टि का सौन्दर्य है। इस भाव को व्यक्त करने मे जायसी के समकक्ष दूसरा कोई कवि नहीं ठहरता। कबीर ने अपने लाल की लाली सब जगह देखी थी और वह लाली देखते-देखते वे स्वयं लाल हो गये थे। जायसी ने उसी भाव को बड़े काव्यमय ढंग से व्यक्त किया है। कभी उस परमात्मा की ज्योति का, कभी विश्वात्मारूपी नारी का कवि ने चित्रण किया है। विरह की पीर संसारव्यापी है। कुछ भी ऐसा नहीं, जिस-पर इस प्रेम की पीर का प्रभाव नही पड़ा है। कवि ने रक्त की लेई लगाकर यह कथा जोड़ी। गाढ़ी प्रीति को नैन-जल से भिगोकर इस लेई को तैयार किया। उसका यह दावा सही है कि जिसने भी इस काव्य को सुना, उसने प्रेम की पीर का अनुभव किया--

मुहमद यहि कवि जोरि सुनावा। सुना जो पेम पीर गा पावा ।।
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढी प्रीति नैन जल भेई ।।

पद्मावती के रूप-सौन्दर्य को परमात्मा के सौन्दर्य का प्रतिनिधि समझना चाहिए। रत्नसेन का विरह, भक्त का विरह है। दोनो को विश्वव्यापी दिखलाया गया है। मानसरोवर में पद्मावती के स्नान का वर्णन करते समय उसके रूप का प्रभाव क्या पड़ा, इसका कवि ने वर्णन किया है--

गहा मानसर चहा सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई ।।
भा निरभर तेहि पायन्ह परसें। पावा रूप रूप के दरसें ।।
बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा। भै तेहिं रूप जहाँ जो देखा ।।
पाए रूप रूप जस चाहे। ससि मुख सब दरपन होइ रहे ।।
नैन जो देखे कँवल भए, निरभर नीर सरीर।
हँसत जो देखे हस भए, दसन जोति नग नीर ।।

पद्मावती का वरुनियों के बाण का प्रभाव देखिए--

उन बानन्ह अस को को न मारा। वेधि रहा सगरौ संसारा ।।
गगन नखत जस जाहिं न गने। हैं सब बान ओहि के गहने ।।

धरती बान बेधि सब राखी। साखा ढाढि देहि सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ढाढ़े। सोतहि सोत बेधि तन काढ़े॥

पद्मावती के दसनों की ज्योति से ही रवि-शशि-नक्षत्र सब ज्योतित है। इस प्रकार की उक्ति कवि ने इसलिए कही कि वह पद्मावती को सुन्दरतम की छाया मानता है——

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई॥
रवि ससि नखत दीन्ह ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी। तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी॥
दामिनि दमकिन सरबरि पूजा। पुनि वह जोति औरु को दूजा॥

'पदमावत' मे प्रेमकथा के रूप में प्रेमपंथ के साधक की कठिनाइयों का और प्रेमी के सच्चे प्रेम का अनेक रूपो मे चित्रण हुआ है। सारी कथा मे प्रेमपंथ की साधना का सांकेतिक शैली मे वर्णन हुआ है। डॉ० माताप्रसाद का मत है कि 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' आदि पक्तियाँ प्रक्षिप्त है। यदि यह मान भी लें तब भी इस 'पदमावत' में 'प्रेमपथ' के पड़ावों का, प्रेमी की कठिनाइयों का, विरह के अनुभव आदि का जैसा वर्णन है, उसके कारण इसे मात्र प्रेमकथा के रूप में पढकर इसका पूरा आनन्द नही मिल सकता। जायसी का इष्ट केवल कहानी नहीं, प्रेम द्वारा ईश्वरप्राप्ति का सन्देश देना भी है। उनके प्रेम में ईश्वरीय प्रेम का संकेत इतना स्पप्ट है कि उसे ऐहिक काव्य ही मानकर पाठक सन्तुष्ट नही हो पाता।

कवि ने अपने को 'एक नैन मुहमद कवि' कहा। पर यह भी बताया——

जग सूझा एकइ नैनाहाँ। उवा सूक अस नखतन्ह माहाँ॥

पुनः वह कहता है कि यह 'एक नैन' दर्पण के समान है और उसके भाव निर्मल हैं। सब रूपवत भी उसके पाँव पकड़कर उसका मुख चाव से जोहते है। अतः इस ऐहिक काव्य के दर्पण में 'निर्मल भाव' प्रतिबिम्बित है। उस निर्मल भाव को ग्रहण करना आवश्यक है। इसमे प्रेम का रहस्य है, रहस्य का प्रेम है। 'पदमावत' प्रेमपथ का प्रतिपादक प्रबन्धकाव्य है। इसी मे इसका गौरव है।

प्रेमाख्यानक काव्य की परम्परा

कालक्रम से 'चन्दायन' 'पदमावत' से पूर्व की रचना है। पर 'चन्दायन' आशिक रूप में ही उपलब्ध है। विद्वानों ने इसका काल १४३६ या १४३४ वि० माना है। इसके बाद कुतुवन की 'मृगावती' है। यह भी खण्डित रूप में ही प्राप्त है। इसकी रचना १५६० वि० मे मानी गयी है। 'पदमावत' की शैली 'मृगावती' के समान है। उसमे 'चंदायन' का उल्लेख भी नही है और 'चंदायन' का उस पर प्रभाव भी नही दीखता। इन दोनों पुस्तकों का ऐतिहासिक महत्त्व ही अधिक है। 'पदमावत' ही इस श्रेणी के

काव्यों में सभी दृष्टियों से गौरवपूर्ण रचना है। इसका नायक इतिहास में वर्णित एक राजा है और इसका कथानक कल्पनामिश्रित इतिहास है। 'मृगावती' के राजकुमार के समान इसका नायक भी जोगी बनकर राजकुमारी की खोज में निकलता है। 'मधुमालती' (स० १६०२) 'पदमावत' के बाद महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। इसका नायक मनोहर परियों द्वारा मधुमालती की चित्रसारी मे पहुँचाया जाता है और फिर अल्पकालिक मिलन के बाद अपने स्थान पर लौटा दिया जाता है। मनोहर भी बाद मे जोगी बनकर निकलता है तथा एक राक्षस के पंजे से अपनी प्रिया को मुक्त करता है। इस काव्य में शृंगार के साथ अद्भुत रस का योग है।[1]

'मधुमालती' मे प्रेमतत्त्व की बड़ी सुन्दर व्याख्या की गयी है। नायक और नायिका का प्रेमसम्बन्ध जन्म के आदि से ही उत्पन्न हो जाता है। दोनों आदि से ही अभिन्न हैं—

मै तै दुवौ सदा संघ बासी। औ संतत एक देह निबासी॥
औ मैं तुहँ दुइ एक सरीरा। दुइ माटी सानी एक नीरा॥
एक बारी दुइ बहै पनारी। एक दिया दुइ घर उजियारी॥
एक जीउ दुइ घट सचारा। एक अगिनि दुइ ठाएँ बारा॥
एकै हम दुइ कै औतारे। एक मंदिल दुइ किए दुवारे॥
एकै जोति रूप पुनि एकै, एक परान एक देह।
आपुहि आपु जो देइ कोइ चाहै, तेहि कर कौन सदेह॥

मंझन का नायक मनोहर अपनी प्रेमिका का रूप ही सब रूपों में देखता है। प्रिया का रूप सब रूपों में, जैसे वह अरूप ब्रह्म 'रूपं-रूपं प्रतिरूप बभूव'।

इहै रूप परगट बहु रूपा। इहै रूप बहु भाउ अनूपा॥
इहै रूप सभ नैनन्ह जोती। इहै रूप सभ सायर मोही॥
इहै रूप सभ फूलन्ह बासा। इहै रूप रस भँवर बेरासा॥
इहै रूप ससिहर औ सारा। इहै रूप जगमूरि अपूरा॥
इहै रूप अँत आदि निदाना। इहै रूप धरि घर सो छिपाना॥
इहै रूप जल थर औ महिआ भाउ अनेग देखाउ।
आपु गँवा इजोरे कोइ देखै, देखै सो किछु पाउ॥

विरह की महत्ता इस पंथ की विशेषता है। सभी कवियों ने विरही को ही भक्त का आदर्श माना है। वह बड़ा भाग्यशाली है जिसमें विरह की अनुभूति है।

---

१. इस संकलन में चित्रसारीखण्ड का पाठ डॉ० शिवगोपाल मिश्र द्वारा सम्पादित 'मधुमालती' से लिया गया है।

विरह की महिमा मझन के शब्दों में यह है—

विरह अवधि अवगम्ह अपारा। कोटि माहि एक परै न पारा॥
विरह कि जगत अबिरथा जाही। विरह रूप यह सृष्टि सवाही॥
नैन विरहु-अंजन जिन सारा। विरह रूप दरसन ससारा॥
कोटि माहि बिरला जग कोई। जाहि शरीर बिरह दुख होई॥

रतन की सागर सागरहि, गजमोती गज कोइ।
चँदन कि बन-बन ऊपजै, विरह कि तन-तन होइ॥

सरोवर में स्नान करते समय चित्रावली छिप जाती है। सखियाँ खोज करती हैं, पर उसे नही पाती। कवि यही अवलम्ब लेकर ईश्वर की खोज और उसके सर्वव्याप्त होने पर भी दुष्प्राप्य होने की बात चला देता है। ऐहिक वर्णनो मे भी गूढ आध्यात्मिक भेद है। प्रेमिका परमात्मा का प्रतिरूप है—

गुपुत तोहि पावहि का जानी। परगट महँ जो रहिह छपानी॥
चतुरानन पढि चारौ वेदू। रहा खोजि पै नाँव न भेदू॥
संकर पुनि हारे कै सेवा। ताहि न मिलिउ और को देवा॥
हम अंधी जेहि आपुन सूझा। भेद तुम्हार कहा लौ बूझा॥
कौन सों ठाँउ जहाँ तुम नाही। हम चषु जोति न देखहि काही॥

पावै खोज तुम्हार सो, जेहि देखलावहु पंथ।
कहा होइ जोगी भये, औ पुनि पढे गरंथ॥

उसमान ने 'चित्रावली' की रचना १६७० वि० मे की। 'मानस' के पूर्व 'मधुमालती' और 'पदमावत' की रचना हो चुकी थी। तुलसी कदाचित् इस धारा का ही संकेत 'कहि कहिनी उपखान'[१] में करते है। हमें लगता है कि इस धारा मे दो प्रकार की रचनाएँ हुई है—कहानी और उपाख्यान। तुलसीदास ने दोनों का उल्लेख किया। हो सकता है कि 'लौरचंदा' के ढंग की रचना को 'कहिनी' और 'पदमावत' को 'उपखान' समझा जाता हो। अथवा कल्पित वस्तु कहानी और इतिहासाश्रित वस्तु उपाख्यान मानी जाती हो। इस परिपार्श्व पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। 'चित्रावली' के नायक से भारत के बाहर के देशों का भी भ्रमण कराया गया है। प्रारम्भिक कथाओं में भारत के साथ नेपाल और सिहलद्वीप आदि की यात्राओं का वर्णन है। बाद में, मुस्लिम काल में चीन, फारस, बलख, मिस्र इत्यादि का कुछ वर्णन मिलता है। जान पड़ता है कि मुगलकाल मे एशिया के मुस्लिम देशो से परिचय और सम्पर्क बढ़ने का यह फल था। 'चित्रावली' में प्रथम बार यूरोप के कुछ देशों का वर्णन है। यह सूरत की फैक्टरी बनने और जहाँगीर के दरबार में टामस के आने के बाद की

१. साखी सबदी दोहरा कहि कहिनी उपखान।—तुलसी

रचना है। अतः इसमें अँगरेजो का जिक्र है—

बलंदीप देखा अँगरेजा। तहाँ जाइ जेहि कठिन करेजा ॥
ऊँच-नीच धन संपति हेरा। मद बराह भोजन जिन्ह केरा ॥

उसमान गाजीपुर के रहनेवाले थे। वहाँ फिरंगियों की अफीम की कोठी बहुत पहले कायम हो चुकी थी और वहाँ विदेशी सौदागर आते-जाते रहते थे। अतः अँगरेजो के आगमन से उनका परिचित होना सम्भव है।

उसमान सूफी सन्त निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्यपरम्परा के हाजी बाबा के शिष्य थे। सूफी प्रेमपंथ के विश्वासो के अनुसार ही इस पुस्तक की रचना भी हुई है। विद्वानों के अनुसार, इसकी रचना 'पदमावत' की छाया पर है। इसकी कथा कल्पित है।[1]

इस परम्परा में शेख नवी (जौनपुर जिला) जहाँगीर के समकालीन थे। इन्होंने 'ज्ञानदीप' लिखा। इसके बाद दरियाबाद (बाराबंकी) के कासिमशाह हुए, जिन्होने 'हंसजवाहर' लिखा। ये हीन (छोटी) जाति के थे और अपने को 'कमीना' समझते थे; पर बाद में प्रेमपंथ मे आने पर ऊँचे समझे जाने लगे—

दरियाबाद माँझ मम ठाउँ। अमानुल्ला पिता कर नाउँ ॥
तहवाँ मोहि जनम बिधि दीन्हा। कासिम नाँव जाति कर हीना ॥
तेहूँ बीच विधि कीन्ह कमीना। ऊँच सभा बैठे चित दीना ॥
ऊँचे सग ऊँच मन भावा। तब भा ऊँच ज्ञान-बुधि पावा ॥
ऊँचा पथ प्रेम का होई। तेहि महँ ऊँच भये सब कोई ॥

इससे ज्ञात होता है कि इस पथ का उचित नाम 'प्रेमपथ' ही है। यह शब्द 'पदमावत' तथा अन्य सभी प्रेमाख्यानक काव्यों में मिलता है। अतः हिन्दी मे सूफियों से दीक्षित इन मुसलमान कवियों के काव्य को 'प्रेमपन्थी काव्यधारा' कहना अधिक उचित जान पड़ता है। पद्यबद्ध प्रेमाख्यान हिन्दुओं के रचे भी मिलते है। ऐसे अनेक काव्य, जिनमें प्रेमकथाएँ हैं, राजस्थान में हिन्दू कवियों ने लिखे है। गद्य में भी 'बात' नाम से राजस्थान में प्रचुर साहित्य मिलता है। यह सब प्रेमाख्यान कहा जा सकता है। अतः प्रेमाख्यान-काव्य को दो वर्गो में रखकर विवेचना का विषय बनाया जाना चाहिए—(१) प्रेमपंथ के प्रतिपादक प्रेमाख्यानक प्रबन्धकाव्य (सूफी प्रभाव से युक्त), (२) शुद्ध प्रेमकथात्मक काव्य (सूफी प्रभाव से मुक्त)।[2]

प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रेम का उदय प्रायः चार प्रकार से ही दिखलाया गया

१. कथा एक मैं हिए उपाई। कहत मीठ औ सुनत सुहाई ॥
कहौं बनाय जैस मोंहि सूझा। जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा ॥

२. माधवानलकामकन्दला, ढोलामारू रा दूहा, चन्दनमलयागिरी बात, कामरूप की कथा,

है। 'मधुमालती' में प्रत्यक्ष दर्शन मे, 'इन्द्रावती' में स्वप्नदर्शन से, 'प्रेमचित्रावली' में चित्रदर्शन से और 'पदमावत' मे गुणश्रवण से प्रेम पैदा होता है। ऐसे काव्यों की एक विशेषता यह है कि कवियों का इष्ट केवल प्रेमकहानी कहना नही है। प्रेमतत्त्व का निरूपण, विरह की गहरी व्यंजना और प्रेमपंथ की साधना का सकेत करना--यह उद्देश्य भी स्पष्ट रहता है। केवल लोकरंजन करना इन कवियों का इष्ट नही होता। सूफी कथाकार और अप्रेमपंथी हिन्दू कथाकार कवि के दृष्टिकोण मे यह मौलिक अन्तर है। प्रेमी की विषम और कठिन यात्रा, नाना बाधाओं को झेलते और संघर्ष करते विजय पाना और प्रेमी के विरह की तीव्र व्यंजना ऐसे काव्यों का सामान्य धर्म है। जैसे प्रेमी का एकमात्र ध्येय है प्रेमपात्र से मिलन, वैसे ईश्वरप्रेमी का भी आदर्श होना चाहिए प्रियतम परमात्मा से मिलन की अदम्य आकांक्षा। इन प्रेमपंथी कवियों का यही सन्देश है।

रामकाव्य और तुलसीदास

वाल्मीकि आदिकवि, रामायण आदिकाव्य, राम आदिचरितनायक। प्रथम महाकाव्य के प्रथम नायक राम है। परम्परा यह है कि वाल्मीकि मुनि राम के समकालीन कवि थे, अतः उनका चरितकाव्य रामायण सर्वाधिक मान्य है। इस देश में प्राचीन ग्रन्थों मे ऐसे बहुत कम है, जिनमें बाद में कुछ प्रक्षेप न मिलाया गया हो। विद्वानों के मतानुसार रामायण, महाभारत, पुराणादि सबमे प्रक्षेप हुआ है। वाल्मीकीय रामायण सहस्रों वर्ष से रामकथा का मूल काव्य समझा जाता था और इसने अनेक रामायणों, रामाख्यान-सम्बन्धी लघु काव्यों, नाटकों और कथाओं को प्रभावित किया। 'अध्यात्मरामायण', जैसा नाम से स्पष्ट है, विशेष दृष्टि से रचित है, राम को अध्यात्म और भक्तितत्त्व से युक्त कर अकित करना उसका प्रकट उद्देश्य है। इन दो रामायणों से तुलसीदासजी ने प्रेरणा पायी। दोनों के ऋण को वे स्पष्ट स्वीकार करते है। 'रामायण निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' मे किस 'रामायण' से अभिप्राय है, वह खुलता नही है; पर 'मानस' मे 'बंदौ मुनिपद कंजु रामायण जेहि निरमयउ' से वाल्मीकीय रामायण का सकेत स्पष्ट होजाता है।[1] पर अन्यत्र 'अध्यात्मरामायण' का

चंदकुँवर री बात आदि हिन्दू कवियों की रचनाएँ। राजस्थान में रची ऐसी अनेक कृतियाँ मिलती हैं।

१. बंदौं मुनिपद कंजु, रामायण जेहि निरमयेउ।
सखर सुकोमल मंजु, दोषरहित दूषणसहित॥

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥
व्यास आदि कवि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना॥

सकेत भी है––'यत् पूर्व प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशभुना दुर्गमम् ।'[1] तुलसीदास इन दो रामायणों और कुछ अन्य ग्रन्थो से रामकथा की रचना के लिए उपकरण जुटाते है । तुलसीदास ने सस्कृत स्रोत से ही अपने मानस के लिए जल-सचय किया। पर वे प्राकृत कवि और भाषा के हरिचरित बखाननेवाले कवियो से परिचित जान पडते है ।[2] वे कवि कौन थे, इसका हमे ठीक पता नही; क्योंकि तुलसी के पूर्व का हिन्दी का राम-साहित्य बहुत कम मिला है । हो सकता है कि प्राकृत मे कुछ कवियों ने रचना की हो या 'भाषा' में हरिचरित का बखान करनेवाले भी कुछ काव्य हों, पर वे 'मानस' के महत्त्व की स्वीकृति के बाद अप्रचलित हो गये होंगे ।

संस्कृत मे रामकाव्य की समृद्ध परम्परा थी । इस परम्परा से तुलसीदास पूर्णतः प्रभावित थे । जैन या बौद्ध रामायण से वे क्यो प्रभाव ग्रहण करते ? रामकथा मूल सस्कृत स्रोत मे सुपरिचित थी । 'जे प्राकृत कवि परम सयाने' में जैन कवि विमल सूरि ('पउमचरिउ') का संकेत बताना उचित नही है । हो सकता है कि तुलसी के पूर्व भाषा में या प्राकृत में किसी हिन्दू कवि द्वारा रचित रामचरितविषयक काव्य हो ।

भाषा में रामचरित के प्रथम महाकवि के रूप में तुलसी का ऐतिहासिक महत्त्व है । उनके समकालीन सूरदास ने भी रामचरितविषयक कुछ पद रचे हैं । तुलसी और सूर दोनों ही उदार वैष्णव भक्त थे और दोनों राम-कृष्ण के प्रति श्रद्धावान् थे । इष्टदेव के रूप में तुलसी ने राम को ग्रहण किया और सूर ने कृष्ण को; पर दोनों ने ही दोनों अवतारो के सम्बन्ध में रचनाएँ की । सूर के रामचरित के पद और तुलसी की 'कृष्णगीतावली' तत्कालीन वैष्णव-भक्ति के अनुकूल है । हरि (विष्णु) के ही दो रूप है–– राम और कृष्ण । एक मर्यादापुरुषोत्तम, दूसरा लीलापुरुषोत्तम । 'हरि' नाम दोनों शाखाओं को प्रिय है । हरि के ही ये दो अवतार हुए––युग-भेद से दो भिन्न रूप । इष्टदेव की भावना के अनुसार ही तुलसी या सूर ने राम अथवा कृष्ण को विशेष भक्ति अर्पित की, अन्यथा वे सिद्धान्ततः दोनों मे भेद नही मानते । 'मानस' में 'रामाख्यमीशं हरिम्' की भक्ति है, 'सूरसागर' में 'कृष्णाख्यमीशं हरिम्' की । सच्चे भक्तों में राम और कृष्ण को लेकर भेद नहीं होता, तुच्छ भक्त ही सीताराम-राधेश्याम का झगडा उठाते है । इष्टदेव राम है तो इसका यह अर्थ नही कि तुलसीदास कृष्ण को आदर न दें, शिव की भक्ति न करें । मध्यकाल के बहुत पूर्व पुराणों और अन्य धार्मिक ग्रन्थों में वैष्णव और शैव भक्ति के समन्वय का प्रतिपादन मिलता है । शिव और विष्णु की उपासना में भेद दिखानेवाले पुराण है, तो साथ ही ऐसे उपपुराण और अन्य ग्रन्थ भी भक्ति-आन्दोलन के उदय के पूर्व से मिलने लगते है

१. संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी । रामचरितमानस कवि तुलसी ॥
२. जे प्राकृत कवि परम सयाने । भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने ॥

जिनमें शिव और विष्णु की एकता— हरिहर की मूर्त्ति की पूजा की चर्चा है। शिव राम के भक्त है, यह 'अध्यात्मरामायण' मे ही प्रकट है। राम भी शिव के भक्त है। सेतुबन्ध के समय राम ने शिव की पूजा की। शिव सदा राम-नाम जपते रहते है। पुराणकारों ने तुलसी-सूर के बहुत पूर्व राम-कृष्ण की और हरि-हर की एकता का प्रतिपादन कर दिया था। विष्णु (नारायण) और लक्ष्मी, सीता और राम, राधा और कृष्ण—सब एक ही तत्त्व या भाव के प्रकाशक है। जो दर्शन में ब्रह्म और माया है वे ही वैष्णव भक्तिमार्ग में लक्ष्मीनारायण, सीता-राम, राधेश्याम के रूप में विद्यमान है, वे ही तत्त्व शैवमार्ग में शिव-शक्ति, गौरी-शकर आदि विभिन्न रूपों में है। बाद मे इस समन्वय की भावना हम ऐसे नामो में पाते है—हरि-हर, राम-कृष्ण, शिव-राम, शिव-गोपाल। तुलसी के पूर्व ही सामान्य पौराणिक धर्मावलम्बी हिन्दू के धार्मिक विश्वास का यह एक अंग था। उत्तरभारत मे भक्तों के बीच शैव-वैष्णव-विवाद नही था।[१] अतः तुलसीदास इसी उदार वैष्णव-भक्ति के वातावरण में पले और उन्होंने अपने 'मानस' में इन सिद्धान्तों को ही व्यक्त किया। 'अध्यात्मरामायण' की परम्परा को उन्होने 'मानस' की रचना से पल्लवित किया। वाल्मीकीय रामायण से रामचरित लिया गया, पर भक्ति का निरूपण 'अध्यात्मरामायण' से अनुप्राणित है। जो ऐसा मानते है कि शैवों और वैष्णवों मे भेद-भाव दूर करने के उद्देश्य से तुलसी ने राम को शिव का भक्त और शिव को रामभक्त बताया है, वे कदाचित् इसे ध्यान में नही रखते कि यह सब संस्कृत-माध्यम से सैकडों साल पहले ही हो चुका था। तुलसीदास शिव के भी भक्त हैं, इष्टदेव राम अवश्य है। उन्हें दोनों की पुरियो से प्रेम है—रामपुरी (अवधपुरी) में 'मानस' का आरम्भ, शिवपुरी (काशी) में समापन। अवधपुरी छोड़कर काशीसेवन का विचार ही क्यों मन में उठता? शिव ने यह रामचरित पार्वती को सुनाया था। तुलसी शिव और शिवा का स्मरण कर उनका प्रसाद पाकर ही रामचरित के वर्णन में लगते है।[२] अन्यत्र वे ऐसा कहते है कि इस 'चरित' के कर्ता शम्भु ही है, उन्होंने इसे कृपा कर उमा को सुनाया। इसे रच कर अपने मानस में रखा, इसी से इसका नाम शिव ने ही 'रामचरितमानस' रखा। तुलसीदास इतने आस्तिक हैं कि वे शम्भु को ही कर्ता और अपने को उपकर्ता मात्र (निमित्तमात्र) मानते हैं। 'अध्यात्मरामायण' की छाया इस 'मानस' पर पड़ी है—यह इस उक्ति से

---

१. राम स्वयं शिव की भक्ति को आवश्यक बताते हैं—
अउरउ एक गुपुत मत सबहिं कहहुँ कर जोरि।
शकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

२. सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ रामचरित चित लाऊ॥
सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर जौ हरगौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥

स्पष्ट है।[1]

गोस्वामीजी वर्णाश्रम, स्मृति-पुराण, ब्राह्मण-श्रेष्ठता, अवतार इत्यादि में अखंड विश्वास रखनेवाले वैष्णव कवि है। अतः उनके इस धर्मप्राण 'रामचरित' को धर्म-मुख ब्राह्मणो की स्वीकृति मिलने में अधिक कठिनाई नही हुई। सस्कृत मे ऐसा अपूर्व ग्रन्थ क्यों नही रचा गया, यही प्रश्न ब्राह्मणो ने आक्षेप में उठाया। तुलसी अपनी 'भापाभणिति' और ग्रामगिरा के पक्ष में यही उत्तर देते है कि 'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहियत साँच'--मेरी कविता में कोई गुण न हो, न सही; उसमें हरि-भक्ति है, राम की मंगलकथा है। श्याम सुरभी का दूध क्या मधुर नहीं होता?

तुलसी का दृष्टिकोण निम्नाकित पंक्तियो मे व्यक्त हुआ है—

भनिति मोर सब गुन रहित बिस्वविदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहि सुमति जिनके बिमल विवेक॥
एहिमहु रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥
जदपि कबित रस एकौ नाही। राम प्रताप प्रकट एहि माही॥
भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मगल करनी॥

इसके बाद तुलसी अपनी विनम्रता और अल्पज्ञता की, काव्यशास्त्र के भेदो के अज्ञान आदि की चर्चा करते है। वे इस प्रकार अपनी तुच्छता का वर्णन करते हैं मानो वे कुछ भी नही जानते, किसी कला, विद्या या काव्य के लक्षण का उन्हे ज्ञान नहीं है। भगवत्कृपा से थोड़ी-सी भक्ति अवश्य है, वही भक्ति इस रामकथा में व्यक्त है।

कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौ लिखि कागद कोरें॥

पर वस्तुतः बात ऐसी नही है। बालकाण्ड के प्रथम श्लोक में ही काव्य के आवश्यक तत्त्वों का वे उल्लेख करते हैं—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि
मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणीविनायकौ॥

वर्ण, अर्थ, रस, छद और सबका मंगलकारी होना आवश्यक है। तुलसीदास का विचार है कि रामपद मे जिन्हें प्रेम नही है और जो केवल कविता के रसिक है वे ही इस कृति पर हँसेंगे। वे तो अवश्य ही इसे सराहेगे जिनमे भक्ति के साथ 'कवित-विवेक' है।[2]

---

१. संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा॥
रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवासन भाषा॥
तातें रामचरित मानस वर। धरेउ नाम हिंअ हेरि हरसि हर॥
यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमम्।

२. कबित रसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कँह सुखद हास रस एहू॥
रामभगति भूषित जिअ जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥

अतः तुलसी के समकालीन पण्डितों ने जब 'मानस' को भक्ति से युक्त और कवि के इसके सम्बन्ध मे व्यक्त 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' होने के दावे को सही पाया तब वे इसके समर्थक और इसके प्रचार में सहायक हो गये। उस समय के महात्मा और विद्वान् श्री आनन्दकानन ब्रह्मचारी ने यह मुक्तकण्ठ घोषणा की—

आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्तरुः।
कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

तुलसी के पूर्व किसी कवि को ऐसा सम्मान नही मिला था। भाषा का कोई कवि न पहले और न बाद मे, ब्राह्मण शास्त्रज्ञों और महात्माओं द्वारा इस रूप मे अभिनन्दित हुआ। इतिहास मे किसी धर्मप्रवर्त्तक की वाणी को या उसके उपदेश-संग्रह को ही धर्मग्रन्थ के रूप मे मान्यता मिली थी। पर किसी भक्त कवि की कृति को धर्मग्रन्थ के समान महत्त्व दिया जाना अश्रुतपूर्व था। 'मानस' भाषा का धर्मग्रन्थ बन गया। 'मानस' की यह स्वीकृति उसकी महती उपलब्धि है। तुलसी वाल्मीकी के अवतार माने जाने लगे। 'मानस' की बढ़ती प्रसिद्धि और कीर्त्ति को देखकर कुछ संस्कृतप्रेमी विद्वानो को इसके संस्कृत-रूपान्तर की आवश्यकता का अनुभव हुआ। यद्यपि यह कार्य हिन्दी-प्रदेश के लिए अनावश्यक था, पर कदाचित् कुछ लोग इसे सम्पूर्ण भारतवर्ष मे प्रचारित करने के मोह मे इसे सस्कृत मे रूपान्तरित करना चाहते थे। ऐसा एक प्रयास 'प्रेमरामायण' नामक पद्यबद्ध संस्कृतग्रन्थ के रूप मे दीख पडा। इसका सुन्दरकाण्ड सं० १६६२ में लिखा गया।[1] जैसे व्यास पुराणों की और रामायण-भागवत की कथा सुनाते थे, उसी प्रकार 'मानस' की कथा की प्रथा भी चल पड़ी। बाद मे 'मानस' के आधार पर 'रामलीला' का आयोजन भी होने लगा। इस प्रकार श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य दोनों रूपों मे 'मानस' का प्रचार हुआ और इस ग्रन्थ को गोस्वामीजी के जीवनकाल में ही लोकप्रियता प्राप्त हुई। कथावाचक रामायणियों की परम्परा का आरम्भ हुआ। काशी में मानस के व्यासों और रामलीला आदि के माध्यम से इस ग्रन्थरत्न को जो लोकप्रियता मिली, वह भाषा-काव्यों के इतिहास की अद्भुत घटना कही जा सकती है। संस्कृत रामायणों का प्रचार पण्डितों के लघुवृत्त में ही था, तुलसी का 'मानस' जनमानस मे प्रतिष्ठित हो गया।

भक्ति-सिद्धान्त

तुलसी की भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालने के पूर्व संक्षेप मे भक्ति-मार्ग के विकास को भी ध्यान मे रखना होगा। भक्ति के उन्नायको मे विक्रम की दशम शताब्दी के बाद रामानुजाचार्य का नाम लिया जाता है। उनका विशेष कार्य है भाष्यादि की रचना कर विशिष्टाद्वैत-मत की स्थापना। इसके पूर्व शंकराचार्य ने

---

१. 'प्रेमरामायण' के विवरण के लिए 'मानस' के काशिराज संस्करण की भूमिका देखें।

अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा कर 'ब्रह्म सत्य, जगन्मिथ्या' का इतना व्यापक प्रचार किया कि विद्वत्समाज में ज्ञानमार्ग की उत्कृष्टता पर विश्वास दृढ हो गया। आत्मा और ब्रह्म की एकता का सिद्धान्त उपनिषदो के द्वारा समर्थित कर शंकर यशस्वी हुए। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, उससे भिन्न किसी की सत्ता सम्भव नही। इस नानात्व मे एकत्व का दर्शन ही ज्ञान है।

ये सब तत्त्व की बाते है। व्यवहार मे जीव परमात्मा से भिन्न जान पड़ता है। रामानुज ने उपनिषदो से ही अद्वैत की विशेष प्रकार से व्याख्या की। वे विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक माने जाते है। वैष्णवभक्ति को दृढ तात्त्विक आधार देने के लिए उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता की व्याख्या नये सिरे से हुई। गीता का रामानुज-भाष्य इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उस काल मे भागवत और विष्णुपुराण, गीता और रामायण का आश्रय लेकर भक्ति का प्रतिपादन किया गया। विष्णु की उपासना के बाद हरि के मनुजाकृति अवतारो––राम-कृष्ण––को उपास्यदेव के रूप मे महत्त्व मिला।[1] इस प्रकार भक्ति की दो शाखाएँ हो गयी––रामशाखा और कृष्ण-शाखा। राम और कृष्ण के चरित के आधारग्रन्थ रामायण (वाल्मीकीय और अध्यात्म) तथा भागवत और ब्रह्मवैवर्त मान्य हुए। १२वीं शती के बाद मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्क और कुछ बाद में रामानन्द और वल्लभाचार्य के प्रभाव से रामभक्ति और कृष्णभक्ति की धारा हिन्दी-क्षेत्र मे बड़े वेग से प्रभावित हुई। तुलसीदास ने मुख्यतः रामानुज के विशिष्टाद्वैत-मत को स्वीकार किया, पर कहीं-कही वे शांकर वेदान्त के अनुसार भी अपने विचारो को व्यक्त करते है। तुलसीदास ने राम को विष्णु का अवतार तो माना है, पर साथ ही उनका आग्रह है कि स्वयं ब्रह्म कौशल्या की गोद मे अवतरित हुआ। वे राम और ब्रह्म मे कोई अन्तर नही मानते। सगुण ब्रह्म अपनी माया का आश्रय लेकर अवतरित हुआ। ब्रह्म के साथ ही उसकी माया शक्ति भी राम के संग सीता के रूप मे अवतरित हुई थी। तुलसी केवल निर्गुण-निर्गुण की रट लगानेवाले का उपहास करते है। बिना सगुण के निर्गुण की कल्पना कैसे हो सकती है?[2] वे निर्गुण का विरोध नही करते। निर्गुण हृदय में भावरूप में रहे, पर नयनो में सगुण रूप छाया रहे, रसना पर राम-नाम रहे, यही तुलसी की भक्ति का रूप है।[3]

---

१. व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥

२. ज्ञान कहै अज्ञान बिनु तम बिनु कहै प्रकास।
निर्गुन कहै सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥

३. हिय निर्गुन नैननि सगुन रसना नाम सुनाम।
मनहु पुरट सम्पुट लसै तुलसी ललित ललाम॥

भक्ति का तत्त्व क्या है, यह तुलसी ने राम के मुख से ही बताया है। धर्म से विरति, योग से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह कहकर राम कहते है कि जिससे मै शीघ्र द्रवित होता हूँ वह भक्ति ही है--

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।।
जातें बेगि द्रवउँ मै भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।।

उसके बाद वे भक्ति के साधन बताते है। उनमें प्रथम विप्रचरणो में प्रीति को स्थान है, बाद में श्रवणादि नवधा भक्ति को—

प्रथमहि विप्रचरण अति प्रीती। निज निज करम निरत स्रुति रीती।।

गोस्वामीजी ने ब्राह्मणभक्ति को सबसे प्रथम स्थान दिया, जिसके अन्तर्गत वर्णाश्रम में विश्वास भी निहित है! यही पर अन्य भक्तो से उनका मतभेद है। ब्राह्मण को वे अनेक स्थलों पर महत्त्व देते है। भक्तिमार्ग में किसी ने ब्राह्मण जाति को इतना महत्त्व नहीं दिया। यही तुलसीदास और रामानन्द मे तथा अन्य भक्तों और सन्तों में अन्तर है। वर्णाश्रम की मर्यादा का उल्लघन तुलसी किसी भी अवस्था में करने को तैयार नही। ब्राह्मण भूदेव है और प्रथम पूज्य है। 'बदउँ प्रथम महीसुर चरणा' तो बालकाण्ड के आरम्भ मे ही है। बीच-बीच में वे सदा ब्राह्मण की श्रेष्ठता का उल्लेख करते हैं। वे तो ऐसे नर को रामकथा का अधिकारी भी नही मानते जो द्विजसेवक न हो। वे केवल हर-भक्ति-पथ के नही, 'श्रुतिसम्मत हरिभक्ति-पथ' के समर्थक है। इसी से वे इस पथ को छोड़कर अनेक पथ कल्पित करनेवालो के विरोधी और निन्दक है--

स्रुतिसम्मत हरि भगति पथ संजुत बिरति बिवेक।
तेहि न चलहि नर मोहबस कलपहि पंथ अनेक।।

तुलसी की दृष्टि मे वह ब्राह्मण भी पूज्य, जो शील-गुण से हीन है।[१] जातिमात्र के कारण ही ब्राह्मण पूजनीय है, भले ही वह ब्राह्मणोचित कर्म करे या न करे; साधारण नर के अपेक्षित शील और गुणों से रहित होने पर भी वह पूजा जाय--यह एक ऐसा विचार है इस समय जिसका समर्थन कठिन है। आज के युग में तो यह विचार सर्वथा पक्षपातपूर्ण और नीतिविरुद्ध माना जायगा। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता श्रेष्ठ गुणों के कारण ही मानी जाती है।

इन्ही कारणों से कलियुग-वर्णन में जब गोस्वामीजी अपने समकालीन समाज का वर्णन करने लगते हैं, तब इसका उल्लेख करते है कि शूद्र द्विजों को ज्ञान का उप-

---

१. पूजिय विप्र शील गुण हीना।
रामकथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी।।
गुरु पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई।।

देश देते हैं, जप-तप करते हैं और वरासन पर बैठकर पुराण कहते है ।[1] इस विचार से गीता की तुलना करें तो हम यह कहने को विवश हैं कि गीता तुलसीदास से उदार है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ६-३०[2]

इसी मनोवृत्ति के कारण तुलसीदास यह नही चाहते थे कि ब्राह्मण के अतिरिक्त भक्तिनिरूपण का अधिकार किसी अन्य को मिले । इसी से कबीर और जायसी आदि को भक्ति का निरूपण करते देखकर वे क्षुब्ध थे—

साखी सबदी दोहरा कहि कहिनी उपखान ।
भगति निरूपहि भगत कलि निन्दहि बेद पुरान ॥

तुलसी 'श्रुतिसम्मत हरिभक्ति-पथ' के पथिक, वर्णाश्रम के पोषक, मुख्यतः स्मृति-पुराणों में विकसित धर्म के सबके बड़े प्रचारक कवि थे । इसी कारण उनका 'मानस' हिन्दू-समाज में धर्मग्रन्थरूप में स्वीकृत और पूजित हुआ ।

तुलसी का काव्य

भक्त तुलसी ने रामचरित और रामभक्ति को अपनी कविता का विषय बनाया । उन्होंने प्रथम के लिए प्रबन्ध और द्वितीय के लिए मुक्तक-शैली अपनाकर तथा एक के लिए अवधी और द्वितीय के लिए व्रजभाषा को स्वीकार कर दोनों भाषाओं पर अपना असाधारण प्रभुत्व दिखलाया तथा हिन्दी की शक्ति और क्षमता मे अखंड विश्वास जाग्रत किया । उनके समय में काव्यक्षेत्र मे जितने छंद-विधान प्रचलित थे, सबमे उन्होंने अपने प्रिय विषय को प्रस्तुत कर अपने को सभी शैलियों में कुशल और समर्थ सिद्ध कर दिया । वीरगाथा की छंद-प्रवृत्तियों में छप्पय आदि की रचना कर, कबीर की दोहा-शैली में 'दोहावली' रचकर, सूर और विद्यापति की पदावली-शैली में 'गीतावली' और 'विनयपत्रिका' के पद लिखकर, कवित्त-सवैया रचकर भाटों की शैली मे 'कवितावली' तथा 'पदमावत' और अन्य अवधी कथा-काव्यों की पद्धति पर 'मानस' की रचना कर सभी प्रवृत्तियों और रीतियों मे अपना रचना-कौशल दिखलाया । तुलसी के पहले या उनके समकालीन किसी कवि में ऐसी विविधता नही मिलती । बरवै में भी उन्होंने

१. सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना । मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना ॥
सूद्र करहिं जप तप व्रत नाना । बैठि वरासन कहहिं पुराना ॥

२. सिद्धान्तरूप में तो तुलसी 'राम' जपने से स्वपच-सबर-खस-जमन सबको परमपावन होते मान लेते हैं, पर व्यवहार में वर्णाश्रम की मर्यादा का उल्लंघन सहन नहीं करते—

स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात ।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ॥

रामायरण लिखी। इस छन्द पर रहीम इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने इसमे शृंगाररस की रचना प्रस्तुत की। जायसी ने ग्रामीरण अवधी में ही 'पदमावत' रचा था, तुलसी ने उसी अवधी को अपनी धर्मप्राण रचना में सरल संस्कृत का मिश्रण कर ऐसा सरस-सजीव बना दिया कि वह गम्भीर भावों और विचारों को, ज्ञान और भक्ति के भावों को, नीति और धर्म के तत्त्व को भी ग्रहण करने मे समर्थ हो गयी।

तुलसी ने 'मानस' में रामचरित पर भक्ति का रंग चढ़ाकर उसे इतना सुन्दर और प्रभावशाली रूप दिया कि राम का आदर्श चरित, जिसमे सुख-दुःख के नाना प्रसग आते है, अत्यन्त मानवीय रूप मे अंकित हुआ। एक, रामचरित की अपनी विशेषता; दूसरे, प्रत्येक मर्मस्पर्शी प्रसंग का सजीव-सरस-स्वाभाविक वर्णन, काव्य के सकल अगो से पुष्ट उसकी अभिव्यक्ति, प्रवाहपूर्ण ललित भाषा––सबने मिलकर इस काव्य को ऐसा हृदयग्राही रूप दिया है कि यह ग्रन्थ प्रकाशन के साथ ही हिन्दी-पाठकों का कंठहार बन गया। कवि का यश पाने की लालसा तुलसीदास में कभी न थी, ऐसी ऐहिक आकांक्षा मन में रखना भी उस महात्मा को अनुचित प्रतीत होता था; किन्तु जैसा यश उसे मिला, वैसा विश्व के साहित्येतिहास में अश्रुतपूर्व है। कवि ने कहा था––

कवित विवेक एक नहि मोरे।
सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।

और काव्य में अपेक्षित उन तत्त्वो से अपनी अनभिज्ञता सूचित की थी, जिन तत्त्वों के कारण कोई काव्य बुधजनों द्वारा सराहा जाता है। पर, काव्य के परीक्षकों का मूल्यांकन उन्हें रससिद्ध कवि मानता है।

आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
भावभेद रसभेद अपारा। कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥

पर अक्षर, अर्थ, अलंकार, भावभेद, रसभेद, गुरण, रीति––सभी कसौटियों पर कसने पर तुलसी का काव्य अनुपम है। सत्यं-शिवं-सुन्दरम् का ऐसा मरिणकांचनयोग किसी अन्य काव्य में नहीं दीख पड़ता।

तुलसीदास ने 'मानस' में व्यक्ति-धर्म और लोक-धर्म दोनों को समान महत्त्व दिया। व्यक्ति अपने जीवन के उत्थान के लिए––पुत्र, पिता, भाई, पत्नी, माता, सेवक जो भी हो––'रामचरितमानस' में आर्यो के आदर्शानुसार मनोनुकूल पात्र पा सकता है, जिसकी जीवन-पद्धति को आदर्श मानकर वह अपने जीवन को सुधार सकता है। साथ ही इस ग्रन्थ में वह आदर्श भी उसे मिल जायेगा कि मानव को अपने सुख का त्याग कुल के हित के लिए, कुल के स्वार्थ का त्याग अपने ग्राम के लिए, अपने समाज के स्वार्थ का त्याग सम्पूर्ण देश के लिए तथा देश-राज्य सबके स्वार्थ का त्याग सम्पूर्ण मानवता के लिए कर देना चाहिए। सत्य की रक्षा के लिए कठिन-से-कठिन दुःख झेलने को प्रस्तुत रहना मानव का कर्त्तव्य है। धर्मपालन के हेतु अपने स्वार्थ का बलिदान कर देना, दूसरे को

सुखी बनाने के लिए स्वयं दु.ख का वरण करना मानव का पुनीत कर्तव्य है। इस महाकाव्य के सभी पात्र कर्तव्यनिष्ठ, धर्मपरायण और स्वार्थहीन जीवन व्यतीत करने को उत्सुक दिखाई देते है। राम के लिए केवल कैकेयी कुटिल पात्र है, शेष सभी कर्तव्य एवं धर्म को ही सर्वोपरि महत्त्व देते है। राम का चरित तो पुरुषोत्तम का चरित है ही, भरत और लक्ष्मण में बंधुता के साथ सेवाभाव का उज्ज्वल रूप प्रस्फुटित हुआ है। दशरथ मे वृद्ध पति की दुर्बलता लक्षित होती है, पर पतित्व और पितृत्व के द्वन्द्व में पड़े हुए इस आदर्श पिता की पुत्र के वनवास के बाद की करुण स्थिति देखकर कौन करुणा से द्रवित नही हो उठता ? दाम्पत्य और वात्सल्य के द्वन्द्व में पीड़ित-मथित इस पात्र का शोक और मृत्यु मे उसकी परिणति रघुवंश पर विषाद की काली छाया डाल देती है। राम का सौम्य स्वभाव, जो प्रसाद और विषाद दोनों अवस्थाओं मे एकरस बना रहता है, कितना निर्मल और पवित्र है ! उनका मुख न अभिषेक के समाचार से प्रसन्न होता है और न वनवास से विषण्ण, वे सदा स्थिर-सौम्य बने रहते हैं। सीता का पत्नीत्व राजभवन और वन मे एकसमान बना रहता है। धैर्य की प्रतिमा के रूप मे हम उसे सहचरी और अनुचरी दोनों रूपों मे राम की छाया बनी हुई देखते है। रावण द्वारा अपहृता सीता अशोकवन मे भी अहर्निश पति का स्मरण करती हुई उनकी मंगलकामना करती है। भरत का भ्रातृत्व, तप-त्याग, आत्मग्लानि, अपने को सारे अमंगल और दुःख का कारण अनुभव करना, राम के समान तापस वेश धारण कर राज-प्रबन्ध करना—यह असाधारण चरित कितने उदात्त और अवदात रूप में अंकित है, यह तुलसी की कला ही दिखला सकती है। भरत के चित्रण में तुलसी वाल्मीकि को बहुत पीछे छोड़ गये—संस्कृत का कोई कवि उस चरित्र को इतना उज्ज्वल रूप नहीं दे सका। कौशल्या का या सुमित्रा का वात्सल्य उस सीमा के बाहर नही जाता जहाँ पुत्र के धर्मपालन में बाधा पडने की आशंका हो। हनुमान का दास-भाव दास्यभाव की भक्ति का चरमरूप व्यक्त करता है। विरोधी पक्ष मे भी सतोगुणी पात्र विभीषण और मन्दोदरी है। विभीषण न्याय और धर्म के लिए अपना देश, राज्य, कुटुम्ब सब-कुछ त्याग देता है। मन्दोदरी पति को सत्परामर्श देती है, धर्म के प्रति सचेत करती है पर पति से विद्रोह नहीं करती। नारी अर्द्धांगिनी होने के कारण अन्त तक पति की सहचरी बनी रहती है, अपनी धर्मबुद्धि की रक्षा करते हुए भी पातिव्रत का निर्वाह करती है। रावण के विक्रम और प्रताप का वर्णन करने में तुलसीदास ने कोई कमी नही की; पर आसुरी प्रवृत्तियों के कारण, उसके धर्मविरोधी असत् स्वभाव के कारण वे उसे सहानुभूति देकर अपने आदर्श का निर्वाह नहीं कर सकते थे। ब्राह्मणकुल मे जन्म लेकर भी जो क्रूर और विवेकहीन हो, जो कर्म से राक्षस हो ऐसे रावण का वध ही इष्ट था। समाज के हित के लिए असत् पर सत् की, अधर्म पर धर्म की, पाप पर पुण्य की जय दिखलाने से ही लोकमंगल हो

सकता है। अतः रावण की हार पशुता की, उच्छृंखल भोग की, दानवता की हार है।

चरित-चित्रण की दृष्टि से 'मानस' आर्य आदर्शों के अनुकूल अत्युत्तम चरितकाव्य है। लोकधर्म और आपद्धर्म के साथ उसमें राजधर्म का आदर्श भी व्यक्त हुआ है। रामराज्य के रूप में तुलसीदास ने प्राचीन आदर्शों के अनुरूप ऐसे आदर्श राज्य का चित्र अंकित किया है जिसमे प्रजारंजन ही राजा का एकमात्र धर्म माना गया है। दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से मुक्त प्रजा धर्मपालन करते हुए सुखमय जीवन व्यतीत करे--यही राजा का ध्येय होना चाहिए।

तुलसी की भावुकता इस काव्य में ऐसे सभी स्थलों पर व्यक्त हुई है जहाँ कथा में मानवीय प्रसंग आये है। अयोध्या से वनगमन का प्रसंग, चित्रकूट मे माताओं और प्रिय अनुज भरत से राम का मिलन, सीताहरण, लक्ष्मण-मूर्च्छा, अवध मे वापसी--सभी परिस्थितियो मे कवि ने जैसी सहृदयता, मानवीयता, आर्द्रता का परिचय दिया है, वह भाव-भेद और रस-भेद को परखनेवाला कवि ही कर सकता है। रामकथा वस्तु की दृष्टि से ऐसी मानवीय कथा है कि कोई कवि अपनी काव्यशक्ति को सहज जाग्रत कर सकता है। फिर तुलसीदास जैसे कवि--जिसने शैशव मे दैन्य का दंशन सहा हो और जो यौवन में रसिक गृहस्थ रहा हो, जिसे जीवन का गहरा अनुभव हो और जिसे वाणी का वरदान प्राप्त हो--को इस कथा में मर्मस्थल को परखने में और उसे सजीव रूप मे अभिव्यक्त करने में क्यो न सफलता मिले ?

तुलसी की काव्य-कला की चर्चा करते ही हम 'मानस' से इतने प्रभावित हो जाते है कि उनके कुछ अन्य मूल्यवान काव्यों को कम महत्त्व का अनुभूत करने लगते है। 'मानस' तो रामचरित का काव्य है, पर तुलसी का मानस 'विनयपत्रिका' में तरंगित है। इस पदसंग्रह को भक्त तुलसी के मन का दर्पण समझना चाहिए। प्रत्येक पद भक्त के भक्तिपथ पर पड़नेवाले पद की रेखा से अंकित है। इस पथ पर चलते हुए कभी वह लडखडाता है, कभी सँभलता है, कभी गिरता है, फिर धूल झाड़कर उठता है और फिर थककर चूर हो जाता है, फिर उत्साह के साथ वेग से बढने का सकल्प करता है; कही ठोकर खाता है, फिर कही शूल चुभते है, कहीं फूल मिलते है और इस तरह अनेक अनुभव पाता हुआ अपने दैन्य, मालिन्य, कलुष, संकल्प, दृढता और धैर्य इत्यादि का परिचय देता हुआ, ध्येय तक क्रमशः पहुँच जाता है। 'विनयपत्रिका' के रूप मे कवि ने अपने मानस को उद्घाटित कर दिया है, कपट-कपाट की कडियाँ तोड़कर उसने अपने हृदय को मुक्त कर दिया है। भक्तिपूर्ण पाठक ही इस भक्ति की मन्दाकिनी मे मज्जन कर इसका आनन्द पा सकता है।

'गीतावली' में गीतशैली मे रामकथा गायी गयी है। यह रचना सूर से प्रभावित जान पडती है। वात्सल्य और संयत शृंगार की अभिव्यक्ति इस संग्रह की विशेषता है। इसी प्रकार 'कवितावली' में कवित्त और सवैयो की शैली मे रामकथा कही गयी

है। इस ग्रन्थ में कवि ने स्वजीवनसम्बन्धी कुछ संकेत-सूत्र दिये है। 'हनुमानबाहुक' में हनुमान की वन्दना है, जिसमें कवि ने अपनी भीषण बाहुपीड़ा की चीत्कार अपने सहायक हनुमान को सुनायी है। 'दोहावली' में भक्ति और नीति के दोहे है और इसके कुछ दोहे तुलसी-साहित्य मे अपने ढंग के निराले है। चातक के अनन्य प्रेम के रूप में कवि ने भक्त के एकनिष्ठ प्रेम की गूढ़ व्यंजना की है।

तुलसीदास हिन्दी में ही क्या, भारतीय साहित्य में अपने ढंग के एक ही कवि है। सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं मे मध्यकाल में रामायण की रचना हुई, पर तुलसीदास के समान किसी को लोकप्रियता और सफलता प्राप्त नही हुई। तुलसी के साथ जिस रामकाव्य-परम्परा का आरम्भ हुआ, उसमें उनके बाद कोई महाकवि की श्रेणी में नहीं आ सका। इस हिमालय के आगे दूसरे विन्ध्याचल भी नही हो सके, पहाड़ियाँ और टीले अनेक हुए।

परमवर्ती रामकाव्य : केशवदास (रामचन्द्रिका)

'मानस' के बाद 'रामचन्द्रिका' (वि० १६५८) दूसरा महत्त्वपूर्ण रामकाव्य है, जिसके कवि केशवदास 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' रचकर शृंगारी कवि के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। केशव लौकिक कवि थे, कवियशःप्रार्थी, संस्कृत पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध कुल के वंशधर। भाषा में शृगार-रस के काव्यशास्त्रीय पद्धति के ग्रन्थ रचने के बाद एक दिन अपनी मतिमन्दता और शठता[1] का कवि को बोध हुआ। वाल्मीकि ने स्वप्न में दर्शन देकर रामचरित का वर्णन करने का आदेश दिया और वे 'रामचन्द्रिका' लिखने बैठ गये। केशव अलंकारशास्त्र, पिगल तथा साहित्यशास्त्र में निष्णात थे, काव्य में चमत्कार या वक्रोक्ति को महत्त्व देते थे। इन संस्कारों को लिये हुए वे वाल्मीकि से कथानक लेकर विविध छन्दों मे रामकथा को पद्यबद्ध करने लगे। भक्ति का उन्मेष सच्चा न था, अध्यात्म की रुचि भी गहरी नही थी, फिर भी राम-यशवर्णन का उत्साह जगा। फल हुआ कि 'रामचन्द्रिका' विद्वज्जनों के सम्मुख एक काव्यग्रन्थ के रूप में आयी, रामकाव्य की श्रेणी में इसे भी स्थान मिला; पर यह भक्तों के बीच प्रतिष्ठित नही हो सकी।

केशव को आंशिक रूप में ही सफलता मिली। वे कुशल प्रबन्धकार कवि नही हो सके। किस अंश में काव्य की सम्भावना अधिक है, कौन स्थल अधिक मर्म-स्पर्शी और मानवीय है, कहाँ कथानक मे विवरण की अपेक्षा है और कहाँ चित्रण की—काव्य की दृष्टि से इन बातों के औचित्य और अनुपात को ध्यान में रखते हुए

---

१. उपज्यो तेहि कुल मन्दमति शठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका भाषा करी प्रकास॥

उन्होंने 'रामचन्द्रिका' की रचना नही की; कहीं पिंगल के ज्ञान, कही अलंकारप्रियता और संवादों में नाटकीयता का चमत्कार दिखलाने मे वे उलझ गये। परिणाम यह हुआ कि कुछ अंशों को छोड़कर 'रामचन्द्रिका' सामान्य पाठक को मोह नही सकी, केवल चमत्कृत करके रह गयी। काव्य की कसौटी पर इकाई के रूप मे कुछ पद्य उत्कृष्ट अवश्य है; पर समग्रता की दृष्टि से यह काव्य पाठक के चित्त को रंजित या द्रवित करने में असमर्थ हो गया। रस पाठक को मिल नहीं पाया; अलकार, रीति, गुण और शब्दचमत्कार ही उसे कवि से प्राप्त हुए। 'रामचन्द्रिका' के संवाद अवश्य आकर्षक है, वाक्छल और बुद्धिचातुरी से युक्त होने के कारण वे पाठक को प्रभावित करते हैं। केशव रामकाव्य के रचयिता के रूप में स्मरण किये जायँगे, पर वे राम-भक्तिधारा के सफल कवि नही माने जा सकते। केशव वस्तुतः श्रृंगारी प्रवृत्ति की मुक्तक-शैली के सुकवि थे। अतः उनका उचित स्थान रीतिकाव्यधारा के कवियों के बीच है। 'कवि केशवदास बड़े रसिया'[१] यहा उनका ठीक परिचय है।

अग्रदास

रामभक्ति के गायक कवियो से तीसरे प्रसिद्ध कवि अग्रदास है, जो रामभक्ति में मधुर भाव का समावेश करनेवाले रामरसिकोपासक है। इनकी 'ध्यानमंजरी' राम के रसिकसम्प्रदाय मे बड़े आदर से पढ़ी जाती है। रामभक्ति की भी दो शाखाएँ है--एक, मर्यादाभक्ति की शाखा और दूसरी, रसिकभावशाखा। तुलसी पहली शाखा के कवि थे, दूसरी शाखा में अग्रदास, नाभादास, बालअलीजी, कृपा-निवासजी, रसिक अलीजी इत्यादि अनेक महात्मा कवि हुए है, जिन्होंने 'प्रेमा भक्ति' और 'सखीभाव' रामभक्ति मे प्रविष्ट कर उसे कृष्णभक्ति के समान दिव्य श्रृंगार से मण्डित किया। रसिकपरम्परा का काव्य भी विशाल है और इसका मुख्य केन्द्र अयोध्या है।

अग्रदास के शिष्य नाभादास 'भक्तमाल' के लेखक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं, पर उनका कविरूप 'रामाष्टयाम' में प्रस्फुटित हुआ है।[२] नाभादास भी गुरु के समान रसिकोपासक हैं। इसकी भाषा मधुर और प्रसादमयी है। सीता के साथ राम की श्रृंगारी लीलाओं का वर्णन इन कवियों का विषय है। सीता के अन्तःपुर में राम का प्रवेश, उनका प्रेमी रसिक रूप--यह सब उसी रीति में वर्णित है जिस रीति में हम राधा-कृष्ण का केलिवर्णन कृष्णभक्त कवियों में पाते है। इस प्रकार के साहित्य पर

---

१. वेणीमाधवदास।

२. पाठ्यांश श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' के ग्रन्थ 'रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना' से ग्रहीत है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने सम्यक् प्रकाश नही डाला है। श्री रामकुमार वर्मा ने नाभादास के प्रसग मे केवल उनके 'भक्तमाल' का ही उल्लेख किया है।

रानभक्तिधारा के दोनों रूपों का अनुशीलन अपेक्षित है। यह धारा भी तुलसी के समय मे ही निरन्तर प्रवहमान है। रामरसिक कवियों मे एक ने 'सीतायन' नामक प्रबन्धकाव्य भी रचा। इस धारा के अनेक महात्मा कवि बिहार के थे, जिन्होंने अयोध्या के महात्माओं मे प्रभावित होकर इस प्रकार की रचनाएँ की। 'रूपकलाजी' इसी धारा के महात्मा थे, जिन्होंने 'भक्तमाल' की टीका प्रकाशित की।

कृष्णभक्ति का आन्दोलन

वैष्णवभक्ति के प्रथम आचार्य रामानुज (१०६४-११६४ वि०) दक्षिण मे हुए, जिन्होंने शंकराचार्य के अद्वैत-मत का खंडन कर अपना विशिष्टाद्वैत-मत प्रतिपादित किया और स्वमत की पुष्टि के लिए प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता) पर भाष्य रचे। भक्तिमार्ग को रामानुज ने विशिष्टाद्वैत का दार्शनिक आधार देकर प्राचीन परम्परा के साथ संयुक्त कर दिया। बाद मे इस मार्ग को दृढ करनेवाले आचार्यो में निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी प्रमुख हुए। रामानुज के पूर्व से ही राधाकृष्णविषयक साहित्य संस्कृत में उपलब्ध है, मूर्तिकला और चित्रकला मे कृष्ण-लीला को स्थान मिल चुका था। वस्तुतः भागवतपुराण और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण से प्रभावित प्रचुर साहित्य संस्कृत में एक सहस्र सवत् के पूर्व से ही मिलने लगता है। आलवार भक्तों के 'प्रबन्धम्' साहित्य (५वी से ६वी शती) और 'सदुक्तिकर्णामृत', 'ध्वन्यालोक' आदि काव्यों मे कृष्णलीलाविषयक रचनाएँ है। प्राकृत 'गाहासतसई' में गोपी-कृष्णविषयक अनेक गाथाएँ हैं। लीलाशुक का 'कृष्णकर्णामृत', ईश्वरपुरी का 'श्रीकृष्णलीलामृत', जयदेव का 'गीतगोविन्द' इत्यादि मधुर काव्यों पर भागवत का प्रभाव है।

उत्तरभारत मे आधुनिक भाषाओं में विद्यापति की 'पदावली' ही प्रथम कृष्णकाव्य है जो स्पष्टतः 'गीतगोविन्द' से प्रभावित रचना है। दक्षिण के आचार्यो ने वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को दार्शनिक आधार देकर पुष्ट किया था। भारत में प्रत्येक धार्मिक आन्दोलन 'दर्शन' का आश्रय चाहता है। भक्ति-आन्दोलन को यह आश्रय आचार्य-चतुष्टय से प्राप्त हुआ था। आर्यावर्त्त मे कृष्णभक्ति का केन्द्र व्रजभूमि में स्थापित हुआ और सम्प्रदायरूप में हिन्दी कृष्ण-काव्य का सम्बन्ध वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग से, गोस्वामी हितहरिवंश के राधावल्लभी, स्वामी हरिदास के सखी या टट्टी सम्प्रदाय तथा चैतन्य के गौडीय सम्प्रदाय से ही है। इन सभी सम्प्रदायों में भागवत ही मूल प्रेरक ग्रन्थ है। परस्पर थोड़ा भेद रखते हुए भी ये सभी सम्प्रदाय कृष्णभक्ति में प्रेमलक्षणा भक्ति को स्वीकार करते है। वल्लभाचार्य ने 'भागवत' पर 'अणुभाषा' रचकर तथा अन्य संस्कृत

सिद्धान्त-ग्रन्थों का प्रणयन कर पुष्टिमार्ग को प्रचारित किया। उनका मत शुद्धाद्वैत कहा जाता है। अद्वैत से माया के सिद्धान्त को पृथक् कर इन्होंने स्वमत का प्रकाश किया। चैतन्य-मत को शास्त्रीय आधार चैतन्य के दो विद्वान् शिष्यों—रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी—ने दिया। राधावल्लभी और हरिदासी सम्प्रदायों में आधार-ग्रन्थ कम रचे गये। इनके अनुयायी भक्तों ने काव्य की रचना द्वारा ही अपने सिद्धान्तों को प्रचारित किया। वल्लभ-सम्प्रदाय को संगठित करने का श्रेय वल्लभपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ और गोकुलनाथ को है। कृष्णभक्तिकाव्य की धारा का स्रोत व्रजभूमि मे फूटा और व्रजभाषा मधुर पदावली मे रचित राधाकृष्णविषयक काव्य से समृद्ध होकर ब्रह्मावर्त प्रदेश पर छा गयी।

वल्लभ ने 'बालकृष्ण' की उपासना को अधिक महत्त्व दिया था, पर उनके बाद इस सम्प्रदाय में भी 'गोपीकृष्ण' की लीलाओं को प्रमुखता मिलने लगी। सूरदास वल्लभ-मत मे दीक्षित हुए थे। उनके काव्य मे बाललीला के पद अधिक संख्या मे मिलते हैं, पर बाद मे 'सूरसागर' में रसनागर कृष्ण और किशोरी राधा की प्रेम-लीलाओं को ही महत्त्व है। ज्यो-ज्यों कृष्णकाव्य विकसित-पल्लवित हुआ, कवि बाल-लीला मे कम रुचि और प्रेमलीलाओ मे अधिक रुचि दिखलाने लगे।

कृष्णभक्ति मे प्रेमतत्त्व का बीज तो भागवत मे ही विद्यमान है। बिना प्रेम के भक्ति कैसी? भक्तिसूत्रों में भक्ति के चरमरूप मे प्रेमतत्त्व पर ही विशेष बल दिया गया था। प्रेमा भक्ति अथवा परा भक्ति में प्रेमतत्त्व की अतिशयता है। प्रेम-तत्त्व मे परकीयाभाव की महिमा बतायी गयी। चैतन्य की भक्ति मे परकीया-प्रेम को अधिक महत्त्व मिला। वल्लभ-सम्प्रदाय मे भी गोपी-भाव मे परकीया-प्रेम को ग्रहण कर लिया गया। कृष्णभक्तों ने राधा को ही कृष्ण की आदर्श प्रेमिका अथवा आराधिका के रूप में स्वीकार किया। गोपीवल्लभ के स्थान पर कृष्ण राधावल्लभ-रूप में प्रिय हुए। प्रिया राधा द्वारा पत्नी रुक्मिणी प्रेमा भक्ति के कवियो द्वारा अप-दस्थ हो गयी। राधावल्लभ के नाम पर एक सम्प्रदाय ही चल पडा। यह परकीया-भाव प्रेम की आदर्श अनुभूति-अवस्था है। कृष्ण सभी गोपियों के प्रिय है, पर राधा पर विशेष अनुराग के कारण वही 'कृष्णप्रिया' है। कृष्ण-काव्य मे बाललीला से किशोरलीला अधिक रसमय होने के कारण विशेष लोकप्रिय हुई। सूरदास ने बाल-लीला में यशोदा के वात्सल्यभाव को, गोचारण और वनविहारलीला में सख्यभाव को व्यक्त किया था। 'सूरसागर' में कृष्ण की अतिमानुषी लीला असुर-संहार आदि का वर्णन करनेवाले पद भी मिलते हैं; पर ज्यों-ज्यों कृष्णभक्ति में कान्त-भाव या मधुरभक्ति की प्रतिष्ठा बढने लगी, कवियों की भावना केवल किशोर-किशोरी, नागर-नागरी की प्रेमलीलाओं के माध्यम से ही व्यक्त हुई। 'सूरसागर' का अधिकांश प्रेमी कृष्ण और प्रेमिका राधा की लीलाओ से सम्बन्ध रखता है। अष्टछाप के कवियों में

प्राय: सभी ने प्रेमलीलाओं के साथ बाललीला के पद भी लिखे, पर उसके बाद बाल-लीला मे रस लेनेवाले कवियों की संख्या कम होती गयी। कृष्ण-चरित का रसिक भाग ही कवियों का प्रिय विषय बन गया। इस प्रकार कृष्णभक्तिकाव्य कृष्ण-प्रेम-काव्य के रूप में विकसित होकर प्रेमा भक्ति के आवरण में राधाकृष्ण का दिव्य शृंगारी काव्य बन गया।

इस परिवर्त्तन का ही यह फल हुआ कि सम्पूर्ण परवर्ती कृष्णकाव्य और प्रेम-काव्य मे अन्तर करना कठिन हो जाता है। विद्यापति में यह अन्तर करना कठिन है। यदि जयदेव का 'गीतगोविन्द' कृष्णप्रेम मे मतवाले भक्तों को प्रिय है, तो 'विद्यापति-पदावली' का भी इस रूप में स्वीकरण स्वाभाविक था। चैतन्य-सम्प्रदाय मे विद्यापति की पदावली का आदर था। कृष्णप्रेमी भक्तों मे अष्टछाप की पदावली भक्ति-तत्त्व से पूरित मानी जाती है। जिन भक्तों का सम्बन्ध किसी सम्प्रदायविशेष से नहीं है, वे भक्त शुद्ध प्रेम का काव्य रचते है। पर जिन भक्तों पर सम्प्रदाय की छाप लगी है उनमें भी, कुछ अपवादो को छोड़कर, सब कृष्णलीला के गायकमात्र है। केवल पुष्टिमार्गी कवियों में बाललीला-वर्णन का उत्साह है, शेष कवियों मे रसनागर कृष्ण और नागरी राधा या गोपियों की प्रेमलीलाओं में ही विशेष अनुरक्ति दीख पडती है।

सूरदास वल्लभमार्गी थे, उनका काव्य विशुद्ध पुष्टिमार्गी नही है। उसपर 'राधावल्लभी' सम्प्रदाय का भी प्रभाव है। इन सम्बन्ध मे डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का मूल्यांकन सही जान पड़ता है--

"सूरसागर मे शुद्धाद्वैत या पुष्टिमार्ग की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं मिलता। ......उन्होंने श्रीकृष्ण के लीला-वर्णन में पुष्टिमार्गसम्मत बाललीलाओ का वात्सल्य और सख्यभाव पर जो चित्रण किया है वह तो 'न भूतो न भविष्यति' कहा ही जा सकता है, परन्तु उनकी किशोरलीलाओं में, जो माधुर्य या कान्ताभाव की पोषक हैं, उनकी तन्मयता अपेक्षाकृत अधिक जान पडती है। इन लीलाओं मे स्वकीया-भाव, परकीया-भाव, निकुंज-केलि, नित्य विहार, सखीभाव, युगल-उपासना इत्यादि कृष्णभक्ति के वे सभी पक्ष स्वाभाविक रूप मे समन्वित मिलते है जिनपर पृथक्-पृथक् रूप में निम्बार्क, चैतन्य, हरिवंश और हरिदास के सम्प्रदायों में जोर दिया गया है। यदि साम्प्रदायिक मान्यता के आधार पर 'सूरसागर' में से, उदाहरण के लिए, नित्य विहार और युगल-उपासना-सम्बन्धी अंश यह कहकर अलग कर दिये जायँ कि वे तो राधावल्लभी मत के पोषक है, वल्लभमतानुयायी सूरदास के विचारों से मेल नहीं खाते, तो यह सूरदास पर उस साम्प्रदायिक संकीर्णता के आरोप करने की भूल होगी जिससे वे ऊपर उठे हुए थे।" ('हिन्दी-साहित्य', खंड २, पृ० ३५५)।

हिन्दी का सामान्य पाठक कभी यह अनुभव नहीं करता कि कृष्णभक्ति की पदा-

वली किसी सम्प्रदायविशेष के सिद्धान्तों से प्रभावित है। सभी सम्प्रदायों में कृष्ण-भक्ति में प्रेम-तत्त्व का मिश्रण आवश्यक तत्त्व मान लिया गया है अतः चाहे कवि किसी सम्प्रदायविशेष में दीक्षित हो, उसका काव्य सम्प्रदाय के रंग में रँगा हुआ अनुभूत नही होता। पुष्टिमार्गी या राधावल्लभी सम्प्रदाय के कवि की पदावली से वह कृष्णभक्ति का वैसा ही रसास्वादन करता है, जैसा मीराँ के पदों या रसखान के सवैयो से। सामान्यतः कृष्णभक्तिकाव्य साम्प्रदायिक प्रभाव से मुक्त है।

कृष्णकाव्यधारा

विद्यापति राधाकृष्ण की केलि-लीलाओं के गायक हैं। बाललीला में उनकी रुचि नही, भ्रमर-गीत के रूप मे ज्ञान और योग के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करने की उन्हे चिन्ता नही, 'हरि-हरि' जप का उपदेश देने का उनमे उत्साह नहीं; यदि उन्हे रुचि है तो मात्र कृष्ण की शृंगारी लीलाओं में, संयोग और वियोग के प्रसंगो में। विद्यापति के काव्य को उसी प्रकार कृष्णभक्ति का काव्य मानना चाहिए जिस प्रकार जयदेव के 'गीतगोविन्द' को माना जाता है। दोनों की प्रवृत्ति एक है, दोनों की शैली एक है। विद्यापति श्रीकृष्ण के भक्त थे या शिव के यह प्रश्न उनके मन में ही उठता है जो यह समझते हैं कि हिन्दू शिव और कृष्ण अथवा शिव और राम दोनों का एक साथ भक्त नही हो सकता। पौराणिक हिन्दू पंचदेवोपासक भी होता है और इष्टदेवोपासक भी। वह रामनवमी, शिवरात्रि और कृष्णाष्टमी सब एक साथ मनाते देखा जाता है। विद्यापति के इष्टदेव शिव थे और उनके शैवभक्ति के अनेक पद है; पर वे कृष्णभक्त भी हो सकते है, इसमे हमें कोई विरोध नही दीखता। सूर ने कृष्ण को शिव-वेश में देखा है। अतः विद्यापति के कृष्णकाव्य को शुद्ध ऐहिक काव्य मानना अथवा रीतिकालीन कवियों के साथ उनकी तुलना करना भी उचित नही जान पड़ता। विद्यापति ने विशुद्ध शृंगार के भी पद रचे है। उनमें यौवन, विलास, सौन्दर्य, मिलन और विरह के अनेक रमणीय चित्र अंकित किये गये है, जिनका मादक प्रभाव रसिक पाठकों के हृदय पर बहुत काल तक बना रहता है। नखशिखवर्णन, नायिकाभेद, ऋतु-वर्णन, अभिसार और दूतीप्रसंग, यह सब विद्यापति के काव्य में ऐहिक शृंगार के अनुकूल है; पर राधाकृष्णविषयक भक्तों के काव्य मे भी इस प्रकार की रचनाएँ मिलती है। विद्यापति और सूरदास में कही-कहीं भाव-साम्य या भाव-सादृश्य इतना अधिक है कि ऐसा अनुमान करने को जी चाहता है कि विद्यापति की पदावली से सूरदास का परिचय था। इसका यह कारण भी सम्भव है कि दोनों ने ही संस्कृत-कृष्णकाव्य से प्रभावित होकर रचना की थी। विद्यापति महात्मा नहीं थे, वे थे राजाश्रित कवि। 'सूरसागर' का बहुलाश ऐसा है जो शृगार का काव्य भी कहला सकता है; पर चूँकि सूरदास की प्रसिद्धि वल्लभमार्गी भक्त-रूप में रही है और वे भागवतानुसारी

रचना करते हैं, अतः हम उसे प्रेमा भक्ति या दिव्य शृंगार का काव्य मानने लगते है।

सूरदास

व्रजवासी कृष्णभक्त कवियों के मण्डल में सूरदास का वही स्थान है जो सौर-मण्डल मे सूर्य का। वल्लभाचार्य (१५३५-१५८७ वि०) उस काल मे कृष्णभक्ति के महान् प्रचारक हुए, जिन्होंने सस्कृत में शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन कर कृष्णभक्ति को दृढ़ किया। जब वे व्रज मे आकर बस गये तब उनके अनेक शिष्य हुए जिनमे सूरदास, परमानन्ददास, कुंभनदास और कृष्णदास सुकवि थे। वल्लभाचार्य के गोलोक-वास के बाद उनके पुत्र बिट्ठलनाथ ने अपने चार कवि-शिष्यों—चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी, नन्ददास और छीतस्वामी—को चुनकर श्रीनाथजी की सेवा के लिए अष्टछाप नाम देकर प्रतिष्ठित किया। इस अष्टछाप के सगठन के कारण थोड़े काल मे ही व्रजभाषा संगीतमयी मधुर भाषा हो गयी। वल्लभ और चैतन्य दोनों के योग का फल यह हुआ कि कृष्णभक्ति का आन्दोलन सारे उत्तरभारत का उस काल में सबसे प्रबल धार्मिक आन्दोलन हो गया। बिट्ठलनाथ के संगठन को उनके पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ ने और भी व्यापक बनाया। अष्टछाप के कवियों ने व्रजभाषा में कृष्णभक्ति की धारा ही बहा दी जिसमें अवगाहन कर कृष्णभक्तों और मधुर काव्य-रसिकों का हृदय तृप्त हो गया। सूरदास इन सबमे प्रतिभाशाली थे और इन्होंने 'भागवत' को आधार बनाकर 'लक्षपद' रचकर अपने 'सूरसागर' को कृष्णप्रेम का सागर बना दिया। अनुश्रुति यह है कि सूरदास ने एक लक्ष पद बनाये थे। इस अनुश्रुति में पद का अर्थ यदि हम चरण करें तो 'सूरसागर' के पदों के चरण लगभग एक लक्ष होते है। सूर ने कृष्णचरित का पूरा वर्णन किया है, 'भागवत' की सरणि पर चलने के कारण अन्य अवतारो का भी सक्षेप में वर्णन किया है; पर चित्रण कृष्ण के बालरूप और किशोररूप का ही हुआ। भागवत का दशम स्कन्ध ही 'सूरसागर' का प्राण है, जिसमे कृष्ण की रसमय लीलाओं को ही मग्न होकर सूर ने गाया है। सूर की तुलना किससे की जाय; काव्य-कला और प्रेम की व्यंजना मे उनके समकक्ष कोई नहीं ठहरता। तुलसीदास कवि ही नही धर्मोपदेशक भी है, लोक-कल्याण ओर समाज-निर्माण की भावना से प्रेरित होकर वे काव्य लिखते है, वर्णाश्रम की मर्यादा की रक्षा के लिए चिन्तित दीखते हैं; पर सूरदास न नीतिवक्ता है, न सूक्तिकार, न धर्मोपदेष्टा हैं, न लोकमर्यादा के रक्षक, वे आकण्ठ प्रेमरस मे डूबे कवि है। कृष्णभक्ति की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से ही वे कविकर्म मे प्रवृत्त हुए। वे मात्र सुन्दरम् के कवि है। अतः तुलसीदास से उनके काव्यादर्श मे भेद है। सादृश्य है तो बस यही कि दोनों भक्तिपथ के पथिक है। विष्णु के कृष्णावतार को सूर ने उपास्य बनाया तो रामावतार को तुलसी ने। एक ने मर्यादा को स्वीकार किया, दूसरे ने उसके उल्लं-

धन को भी वांछनीय ठहराया। प्रबन्धकार कवि 'बन्ध' को मानता है, मुक्तककार मुक्त अथवा निर्बन्ध होता है। प्रेम बन्धन नहीं मानता, मर्यादा नही जानता। प्रेमा भक्ति का आदर्श गोपियाँ है, जो कुल का बन्धन तोडकर प्रियतम कृष्ण से सम्बन्ध जोडती हैं। अतः जिसने भी 'सूर सूर तुलसी शशी' की उक्ति प्रचारित की, वह विशुद्ध काव्य का प्रेमी होगा और जिसने भी तुलसी को महान् माना, अवश्य ही उसकी दृष्टि में सत्यम्-शिवम् का विशेष आग्रह होगा। जो ऐसा समझते है कि सूर का काव्यवृत्त लघु है, उसकी परिधि संकुचित है, उन्हे यह नही विस्मृत करना चाहिए कि वृत्त छोटा हो या बडा, दोनों में वृत्त का गुण तो रहता ही है। तुलसी के वृत्त में निगमा-गम-पुराण सब-कुछ है, सूर के वृत्त में केवल 'पिबतु भागवत रसमालयम्' है। कृष्ण महाभारत में है, हरिवंश में है, ब्रह्मवैवर्त्त में है; पर प्रेमावतार कृष्ण भागवत मे ही हैं। गीता के योगेश्वर कृष्ण को भी सूर ने दूर रखा क्योंकि वे भागवत के रसेश्वर कृष्ण को ही चित्रित करना चाहते थे।

सूर ने समकालीन और परवर्त्ती सभी कृष्णभक्तों को प्रभावित किया था। अष्ट-छाप के अन्य कवि तो उनकी लीक पर चलते ही हैं, परवर्त्ती कवि भी इस चक्रवर्त्ती कवि के अनुवर्त्ती-से लगते है। किसी की महत्ता इसमें भी देखी जाती है कि वह कितनों को प्रभावित कर सका, कितने अनुयायी बना सका। इस कसौटी पर भी सूरदास तुलसी से अधिक सफल नेता रहे। सूरदास का काव्य लोकधर्म का नहीं, प्रेमधर्म का मर्म बतलाता है। सूरदास कृष्णभक्ति के आदिकवि के रूप में व्रजभूमि मे और व्रज-भाषा में अवतरित हुए। जिस प्रकार सन्त कबीर की लीक पर ही परवर्ती सन्त चलते रहे, उसी प्रकार सूर की बनायी लीक पर ही सैकडों व्रजभाषी कृष्णभक्त कवि रचना करते रहे। कही भेद है तो छंद-चयन या शैली का ही मुख्य भेद है, नही तो वर्ण्य विषय की एकता के कारण प्रायः सब सूरदास का ही अनुगमन, अनुसरण या अनु-चरण करते रहे। राधावल्लभी और हरिदासी सम्प्रदाय के कृष्णभक्त कवि भी सूरदास के प्रभाव के घेरे के बाहर बहुत कम जा सके। सूरदास संयोग और वियोग दोनों के वर्णन में अनुपम है। उत्प्रेक्षा के तो वे सम्राट् ही है। उत्प्रेक्षा-अलकार के रूप में ही पुराने कवि अपनी कल्पना का जौहर दिखलाया करते थे। संगीत और काव्य दोनों सूर के पदों पर लोटते है। जान पडता है कि वे कुशल गायनाचार्य थे। राग-रागि-नियो के प्रेमी गायक आज भी सूर को ही ऊँचा स्थान देते है। संगीतज्ञो ने सूरकाव्य के प्रचार में बडा योग दिया है। जिस प्रकार का कार्य कथावाचकों का 'मानस' के प्रचार के सम्बन्ध में रहा है, लगभग वैसा ही श्रेय गवैयों को है, जो शास्त्रीय सगीत के नाम पर प्रायः सूरदास या मीरा के पद ही सुनाते है।

परमानन्ददास वल्लभ से दीक्षा लेने के पूर्व ही कवि, संगीतज्ञ और कीर्तनकार के रूप में प्रसिद्ध थे। इनकी प्रतिभा और भक्ति को देखकर वल्लभ ने इन्हें अपना

शिष्य बनाया और ये कृष्ण-कीर्त्तन के प्रमुख कवि के रूप में विख्यात हुए। सूरदास के समान ही इनके पदों मे कृष्णप्रेम और गोपीभाव की मार्मिक व्यंजना हुई है। उक्ति, ओज, अनुप्रास, वर्णास्थिति[1] इत्यादि काव्य-गुणो मे सूरदास इनसे उत्कृष्ट थे; पर भक्ति की तन्मयता मे ये कम नही है। सूर, परमानन्ददास तथा अन्य सखाओं ने कृष्णभक्ति को संगीत के माधुर्य का योग देकर उसे जनता के बीच प्रसारित कर दिया। श्रीनाथजी का मन्दिर इस श्रेणी के अर्थात् अप्टछाप के भक्तो के अष्टयाम-कीर्त्तन से गुंजित हो उठा। व्रजभूमि कृष्णभक्तों का साधना-केन्द्र और भक्ति का स्रोत बन गयी। इस प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर राजरानी मीराँ राजस्थान का राजवैभव त्याग कर कीर्त्तन करने के लिए व्रजभूमि मे आ गयी। मतवाली मीराँ ने किसी सम्प्रदाय में दीक्षा नही ली, वे स्वतन्त्र होकर चैतन्य की तरह कीर्त्तन और नृत्य करने लगी। एक राजरानी की इस प्रकार की भक्तिचर्या देखकर सारा भक्त-समाज पुलकित हो गया। कृष्णप्रेम के दीवानों की टोली मे मीराँ के आ जाने से अवश्य ही कृष्णभक्तो का उत्साह बढ़ा होगा। इस काल में चतुर्दिक् एक ही दृश्य दीख पड़ता था, वातावरण भक्तिनाद से गुंजित हो रहा था। तुलसीदास के गुरुभाई या कुलभ्राता (यह अनिश्चित है) नन्ददास भी इस मंडली मे सम्मिलित हो गये। लगभग एक सौ वर्ष तक, बिट्ठलनाथ और गोकुलनाथ जैसे गोस्वामी-गद्दीधारियों के संगठन और अष्टछाप तथा अन्य कृष्णभक्त कवियों के समुदाय का फल यह हुआ कि भक्ति का गढ व्रजभूमि में स्थापित हुआ। उधर पूर्वभाग में तुलसीदासजी अपने 'मानस' की रचना कर राम-भक्ति द्वारा हिन्दू-समाज को जीवन-दान दे रहे थे। हिन्दू-समाज अपनी पराधीनता के दुख को, विदेशी शासन मे अपनी धर्मग्लानि को, मन के शोक को भक्ति के नशे में भूल-सा गया। किसी ने समाज के दैन्य पर, आर्थिक दुःखों पर और अपनी राष्ट्रीय पराजय पर ध्यान ही नही दिया। ऐसा लगता था, मानो हिन्दू-समाज को यह ध्यान ही नही था कि उसकी छाती पर विधर्मी शासन जमकर बैठा है। अकबर की उदार धर्मनीति ने हिन्दू-समाज की अपने दुःख-दैन्य को व्यक्त करने की प्रेरणा ही दबा दी। राजस्थान के चारण-भाटों की परम्परा का उत्तरप्रदेश में कोई प्रयोजन नहीं रह गया, स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य रह नही गये थे, उनके वीरभावोत्तेजक काव्यों पर रीझनेवाले राजाओं और सामन्तों का इस प्रदेश मे अभाव हो गया था। हिन्दुत्व की रक्षा और हिन्दुआने के स्वातंत्र्य का भाव राजस्थान में भी चित्तौड़ की चहारदीवारी में ही सुनाई पड़ता था। अनेक राजपूत राजाओं ने अकबर के कुल में विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर अपने पौरुष को प्रलोभन के जल से धो दिया था। देश के चतुर्दिक् 'हरे

१. उक्ति, ओज अनुप्रास, बरण अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी॥

—भक्तमाल

राम हरे राम, राम राम हरे हरे' की ध्वनि सुनाई पड रही थी। केवल तुलसीदास राम के असुरसंहारा रूप और रामराज्य की चिन्ता से कुछ व्यथित दीख पड़ते है; पर उनका 'मानस' भी भक्ति और धर्म के आवरण में ही नवजीवन का सन्देश दे रहा था। अकबर और उसके मंत्री रहीम आदि सबपर भक्ति-आन्दोलन का कुछ प्रभाव पड़ रहा था। अकबर का हिन्दू महात्माओं की शरण मे जाना, रहीम का तुलसी और अन्य भक्त कवियो से सम्पर्क स्थापित करना, यह सब यह सूचित करता है कि उस समय इन भगवद्भक्त स्वामियो और महात्माओ के प्रति सभी श्रद्धावान् थे। वस्तुतः वल्लभाचार्य और रामानन्द के प्रभाव से सूर-तुलसी और उनके समानधर्मा भक्त कवियों के प्रभावशाली धार्मिक व्यक्तित्व का फल यह हुआ कि लगभग एक सौ वर्षों की अवधि को 'भक्तिकाल' कहना ही उचित जान पड़ता है। जो ऐहिक भावों के कवि शुद्ध साहित्य की साधना में लगे थे उन्हें 'प्राकृत कवि' कहकर उपहसित किया जाता था, 'रसिक' और 'लौकिक' कहकर अपावन श्रेणी का कवि समझा जाने लगा था। ऐसे कवियों की प्रतिष्ठा दरबारों में थी। पर मुगल-दरबार मे हिन्दू कवियों को नाममात्र का ही सम्मान प्राप्त था। कुछ संस्कृत और हिन्दी के कवियों की काव्य-परीक्षा कर ली जाती थी, कुछ को कभी-कभी पुरस्कृत कर दिया जाता था; पर उन्हे वह गौरव प्राप्त नहीं होता था जो राजकवि को प्राप्त होना चाहिए। गंग की जो दशा हुई वह सर्वविदित है। लौकिक प्रवृत्तियों के कवियो को कोई स्थिर केन्द्रीय आश्रय नहीं मिल सकता था। छोटे-छोटे हिन्दू राज्यों की छाया में वे पलते थे। ऐसी परिस्थिति में भक्तिकाल के बीच ऐहिक काव्य की प्रवृत्तियों का आरम्भ हुआ। १७०० वि० तक भक्ति की बाढ का पानी, लगभग सौ वर्ष तक हिन्दी-क्षेत्र को उर्वर बनाने के बाद, उतरने लगा था। यह काल हिन्दी का, व्रजभाषा और अवधी का स्वर्णकाल है। इस काल में इन दोनों रूपो में काव्य-रचना हुई, इसमें ही हमारे लोक-मानस को हिल्लोलित करनेवाले प्रमुख कवियों का उदय हुआ। सूर और तुलसी का यही काल है; अष्टछाप, मीराँ, रहीम-रसखान का यही काल है; नाभादास-अग्रदास आदि के उदय का यही काल है। पर इसी काल में नवीन प्रवृत्तियाँ अन्तःसलिला फल्गु की तरह दबी दीख पड़ती है, जिनका नेतृत्व लौकिक काव्य अथवा काव्यशास्त्रीय शृंगारी काव्य के अग्रणी कवि केशवदास कर रहे थे। भक्तिकाल की कोख में ही गर्भस्थ शिशु के समान यह ऐहिक काव्य भी पल रहा था। केशव का सम्बन्ध रीति-काल से जोड़ते हुए हम प्रायः यह विस्मृत कर देते हैं कि केशव तुलसी के समकालीन थे। 'मानस' की रचना १६३१ ई० मे हुई थी और 'रसिकप्रिया' की १६४८ ई० में तथा 'कविप्रिया' की १६५८ ई० में।

कृष्णकाव्य छंद की दृष्टि से दो प्रकार की शैली में मिलता है। उसका प्रमुख रूप पदावली-शैली में है। पर उसका एक रूप दोहा, सवैया और कवित्त में भी

मिलता है। रसखान सवैया के प्रेमी है, नन्ददास ने छप्पय और सवादोचित छंदों का प्रयोग किया, वृन्दावनदास और व्रजवासीदास ने दोहा-चौपाई में रचना की। दोहा का थोड़ा-बहुत प्रयोग बहुतेरे कवियों ने किया। घनानन्द को सवैया-कवित्त-घनाक्षरी से अधिक प्रेम है। कृष्णचरित के अंशो पर कुछ खण्डकाव्य भी रचे गये। 'रासपंचाध्यायी', 'रुक्मिणीमंगल' और 'सुदामाचरित' काव्य इसी कोटि में आते है। हलधरदास और नरोत्तमदास के 'सुदामाचरित' इसी प्रकार की रचनाएँ है। जिन कवियो ने किसी सम्प्रदाय मे दीक्षा ली, उनके नामो के साथ 'दास' जुडा हुआ मिलता है।

केशवदास में भी भक्ति का उन्मेष यदा-कदा मिलता है। क्या 'रामचन्द्रिका' और 'विज्ञान-गीता' मे वे इस भक्तिभाव से प्रेरित नही हुए थे? हो सकता है कि इसी कारण वे भी 'दास' कहे जाने लगे हों। उनके 'दास' माने जाने मे यही बाधा है कि उनका जीवन एक रसिक गृहस्थ का जीवन था और वे राजसभा के सुख-वैभव का उपभोग करते थे। नही तो केशवदास भी अपने काल के प्रभाव से सर्वथा असंपृक्त नहीं रहे। केशवदास के साथ ही, हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों के अनुसार, रीतिकाल का उदय हो जाता है; यद्यपि इस काल का आरम्भ प्राय: १७०० वि० के बाद माना जाता है। केशव को रीतिकाल का प्रथम और प्रमुख आचार्य कवि मानना और रीतिकाल का आरम्भ १७०० वि० के पश्चात् मानना, इन दोनो वातों में तुक नही वैठता। साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हिन्दी मे केशव के बहुत पहले ही आरम्भ हो चुकी थी। कृपाराम की 'हिततरंगिणी' इस प्रसंग मे उल्लेखनीय है। रहीम का 'बरवै नायिकाभेद', गंग कवि की रचनाएँ शृंगार-धारा मे ही सम्बन्ध रखती है। जिस समय कृष्णभक्ति-धारा की वाढ आयी थी उसी समय ऐहिक शृंगारी काव्य की रचना भी हो रही थी, यह अनेक साक्ष्यों से प्रमाणित है। भक्त और अभक्त कवियों के दो वर्ग उस समय भी विद्यमान थे। इन अभक्त कवियों को ऐहिक काव्य के प्रणेता के रूप मे स्थान मिलना चाहिए। जब इस वर्ग में काव्यशास्त्र के विद्वान् कवियो का उदय हुआ तब रीतिकाल के आरम्भ के स्पष्ट चिह्न प्रकट होने लगे।

रीति काव्य-धारा

रीतिकाल या रीतिकाव्य में 'रीति' शब्द अपने काव्यशास्त्रीय अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। संस्कृत में रीति 'विशिष्टा पदरचना' है और इस काव्यांग के वैदर्भी, गौडी और पाचाली तीन भेद माने जाते है। इस प्रसंग मे हिन्दी मे रीति शब्द एक काव्यांगविशेष के रूप मे नही चलता। रीति से हिन्दी के इतिहास-लेखकों का अभिप्राय है साहित्यशास्त्र के अनुकूल शृंगारी काव्यरचना। रस, अलंकार, नायिकाभेद इत्यादि की प्रतिपादिका सभी कृतियों को रीतिग्रन्थ मान लिया जाता है। रीतिकाल

१७०० वि० से माना जाता है। पर वस्तुतः इसका आरम्भ १५९८ वि० में कृपाराम की 'हिततरंगिणी' से ही हो जाता है। यह दोहों में रचित ग्रन्थ है। इसके अनुसार ऐसे ग्रन्थ दूसरे छन्दो मे उसके पूर्व भी विद्यमान थे।[1] इस कविशिक्षाविषयक ग्रन्थ में भरतमुनि का अनुसरण हुआ है। १७०० वि० के पूर्व नन्ददास की 'रसमंजरी' करनेरु का 'श्रुतिभूषण', रहीम का 'बरवै नायिकाभेद', केशव की 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' इत्यादि प्रसिद्ध पुस्तके निकल चुकी थी। रीतिग्रन्थ और रीतिकाव्य काफी संख्या मे १७०० वि० के पूर्व ही निकल चुके थे; किन्तु भक्ति के प्रबल प्रवाह और सूर-तुलसी आदि भक्तों के उदय के कारण सत्रहवी शती में रीतिकाल नही माना जाता, यद्यपि उसकी परम्परा केशवदास के समय में ही पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

हम कह चुके हैं कि रीतिकाव्य वह काव्य है जो काव्यशास्त्र के अगो की पूर्त्ति के लिए या लक्षणो को उदाहृत करने के लिए रचा गया हो। इस धारा मे दो वर्ग के कवि हुए है—पहले वर्ग मे वे है जो लक्षण-ग्रन्थो के रचयिता है, दूसरे वर्ग मे वे है जिन्होंने अलंकार, नायिकाभेद, षड्ऋतु-वर्णन इत्यादि के पोषक काव्य रचकर प्रसिद्धि पायी। पहले वर्ग की कृतियों को लक्षणग्रन्थ और दूसरे वर्ग की कृतियों को लक्ष्यग्रन्थ कह सकते है।

रीतिकाव्य के प्रथम आचार्य कवि केशवदास है। उन्होंने 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचना कर प्रसिद्धि पायी। उन्होने भामह, दंडी आदि के सस्कृत-काव्यशास्त्रो का अवलम्ब लेकर अपनी पुस्तके लिखी। स्वयं वे काव्य मे अलंकार और चमत्कार को अधिक महत्त्व देते थे। 'कविप्रिया' मे रस-सिद्धान्त का उच्च कोटि का विवेचन नही किया गया और यह कविशिक्षाविषयक बाल-बोधक ग्रन्थ है।[2] केशव सुकवि भी थे। अतः आचार्य कवि के रूप में उन्हे उस काल में सर्वाधिक ख्याति मिली।

हिन्दी-काव्य सदा संस्कृत के पदचिह्नों पर चलकर विकसित होता आया है। जो लोग समझते है कि रीतिकाल मुगलो के वैभव-विलास के वातावरण के कारण फला-फूला अथवा स्वतन्त्र हिन्दू-राज्यो के पराभव के कारण वीरभावों के दबने के बाद सहसा आ गया, वे संस्कृत-काव्य—मुख्यतः मुक्तक-धारा—की प्रवृत्तियो को भूल जाते है। प्राकृत गाथा, सप्तशती, आर्यासप्तशती, अमरुकशतक, भर्तृहरि का शृंगारशतक और दर्जनों इस कोटि के श्लोक-सग्रहो के सम्बन्ध मे ऐसे विद्वान् क्या कारण बतायेगे ? राजशेखर के कुछ पूर्व से ही सस्कृत मे शृगारी मुक्तको की रचना होने लगी थी और इसके लगभग एक सहस्र वर्ष बाद हिन्दी मे रीतिकाल का आरम्भ हुआ।

---

१. बरनत कवि सिंगार रस छंद बड़े विस्तारि।
मैं बरन्यो दोहान बिच यातें सुघरि विचारि॥
२. समुझै बाला बालकन, वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियहु कवि अपराध॥

यह ठीक है कि मुगल-दरबार में रीतिकाल मे फारसी काव्य का आदर था एवं उसमें भी श्रृंगार का स्वर मुखरित था; पर हिन्दी-कवियो का प्रेरणास्रोत सस्कृत-प्राकृत में ही मिल जाता है। रीतिकाव्य के सैकडों सवैयो और कवित्तों तथा श्रृंगारी दोहो के प्रतिरूप श्लोक संस्कृत मे विद्यमान है। साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों मे उदाहरण के रूप में जो श्लोक भामह, दंडी, राजशेखर, पण्डितराज जगन्नाथ इत्यादि ने उद्धृत किये है वे प्रवृत्ति और शैली मे रीति-मुक्तकों के 'मॉडल'-(आदर्श) मे जान पडते हैं। हिन्दी का रीतिकाव्य राजाश्रय में फला-फूला और राजदरबारो में हिन्दी-कवियो को जो समादर प्राप्त हुआ वह भी हिन्दू-काल की राजसभाओ की परम्परा का ही निर्वाह था। राजा विक्रमादित्य, भोज, हर्षवर्धन इत्यादि की राजसभाओ की परम्परा से हम परिचित है, जहाँ कवियो की काव्यपरीक्षा होती थी, कवियों में परस्पर चढा-चढी और बढा-बढी, चुनौती और होड के दृश्य दिखाई पडते थे, समस्या-पूर्ति और सारस्वत द्वन्द्व हुआ करते थे। हिन्दू-राजाओ की छत्रछाया में यह सब मध्यकाल मे भी चलता था। अकवर के समय दरवार मे हिन्दी-कवियो को सम्मान मिला, गग कवि, बीरबल, टोडरमल, रहीम इत्यादि दर्जनो हिन्दी-कवियों को अकवर ने पुरस्कृत किया। हमारे मत में हिन्दी का रीतिकाव्य सस्कृत के श्रृंगारी मुक्तककाव्य से प्रभावित धारा है, जो संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत अपभ्रंश भाषाओ मे भी समृद्ध रूप मे दिखाई पडती है। भक्ति के आन्दोलन के कारण यह धारा मन्द-सी हो गयी थी; पर ज्योंही भक्ति का वेगवान् प्रवाह कुछ स्थिर हुआ और उसका पहला उफान और जोश मन्द पडा, ऐहिक काव्य ने फिर सिर उठाया और सहज लोकप्रिय हो गया। इसका परिणाम हुआ कि जो हिन्दी-काव्य सिद्धो और नाथो, निर्गुण और सगुण तथा सूफी सन्तो के प्रभाव से लौकिक ओर पार्थिव प्रेम को हेय मानकर भक्ति और रहस्य के रूप मे पारलौकिक हो चला था वह पुन: सामान्य गृहस्थ के ऐहिक प्रेम-सम्बन्ध को मूल्यवान् समझने लगा। रीतिकाल मे ही प्रथम बार हिन्दी-कविता शुद्ध काव्य के गुणों से युक्त होकर, काव्यशास्त्र के विविध अगों से युक्त होकर जनता के सम्मुख आयी। किन्तु यह देश इतना धर्मप्राण है और यहाँ धर्म का प्रभाव जातीय जीवन पर इतना गहरा है कि यहाँ प्रेम-काव्य भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए देवताओं का अथवा अवतारो का अवलम्ब लेने को विवश होता है। कृष्ण-काव्य में प्रेम की, सयोग-वियोग की ऐसी सजीव अभिव्यक्ति हो चुकी थी कि हिन्दी मे कवियों ने भक्तों के कृष्ण और राधा को ही नायक-नायिका-रूप में ग्रहण करने मे सुविधा देखी। धार्मिक रग में रंजित कृष्णकाव्य से नायक-नायिका-रूप मे ग्रहीत कृष्ण और राधा को लेकर रचे हुए प्रेम-काव्य तक पहुँचने में सुविधा दीख पडी। इस मार्ग से माया भी मिलती थी और राम भी। अत: श्रृंगार-रस के नायक-रूप में रसराज कृष्ण स्वीकृत हुए और नायिका-रूप मे रसेश्वरी राधा। देवता और देवियों के

काम-सम्बन्धों की कथाएँ पुराणो मे इतनी भरी पड़ी है कि सामान्य हिन्दू-पाठक इन्द्र और अन्य देवों की कामपरक कथाओ का अभ्यस्त हो गया है। कालिदास के 'कुमारसम्भव' से लेकर कृष्णकाव्य के रति-वर्णन और कामलीलाओ का वह इस रूप मे अभ्यस्त हो गया है कि राधा और कृष्ण को नायिका और नायक के रूप मे देखने में उसे किसी प्रकार का संकोच नही हुआ। जिस देश मे देवमन्दिरों मे अंकित युगनद्ध-मूर्त्तियो और वासनोत्तेजक भित्तिचित्रो पर आपत्ति नही की जाती थी, जहाँ वाम-मार्ग मे पचमकार का सेवन चलता था, सिद्धो मे पूर्वकाल मे नाना प्रकार के कामाचार धर्म के साधक माने जाते थे, वहाँ भक्तो के कृष्ण और राधा को नायक-नायिका-रूप मे स्वीकृत करने मे अड़चन ही क्या थी? अतः रीतिकाव्य का अधिकाश 'राधिका-कन्हाई' का प्रेम-काव्य भी है और कवियों का 'सुमिरन' भी है। सुकवि रीझें तो कविता, नही तो हरिस्मरण![1] इस प्रसंग में एक आलोचक का कथन है—"रीतिकाल के ठीक पूर्व भक्तिकालीन रचनाओं मे पहले से ही रीतितत्त्व मौजूद थे···पर जहाँ भक्तकवि राधाकृष्ण की आराधना मे तनमन से तन्मयीभूत थे वहाँ रीतिकवि राधाकृष्ण के स्मरण के बहाने शृंगारिक भावों की अभिव्यक्ति करते थे।···किन्तु भक्तकवियों की राधाकृष्णविषयक घोर शृंगारिक कविताओ ने रीति-कवियो के नैतिक अवरोध को दूर कर दिया। फिर तो भगवद्भक्तिसम्बन्धी शृंगारिक भावनाओं को निर्बाध भाव से लौकिक शृंगार मे परिणत किया जाने लगा।"

रीतिकाव्य का प्रतिपाद्य रस शृंगार है। इस रस की उपेक्षा अबतक हिन्दी-काव्य मे हुई थी। यदि प्रेम की अभिव्यक्ति इसके पूर्व हुई भी थी तो उसपर दिव्यता का आवरण था। ईश्वरीय प्रेम या अलख प्रियतम के प्रेम के रूप मे निर्गुण सन्तो ने, सूफियों और प्रेमाख्यानक कवियों ने प्रेम की सूक्ष्म और उदात्त अभिव्यक्ति की थी अवश्य; पर प्रेम का लौकिक, पार्थिव रूप अबतक हिन्दी-काव्य मे इस रूप मे अंकित नही हुआ था। नायिकाभेद के साँचे मे और नखशिख के रूप मे लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति जिस रूप मे रीतिकाव्य में हुई, वैसा उसके पूर्व कभी नही हुआ था। यहाँ प्रेम को उदात्त रूप देने का आभास दिखाई नही देता, काम को दमित करने की चेष्टा नहीं दिखाई देती, नारी-सौन्दर्य के वर्णन मे सकोच या कुण्ठा नहीं है, संयोग और वियोग मे कही परदा नही है। कवियों ने अपने प्रेम को मुक्त कर स्वच्छन्द विहार की छट दे दी है, उन्हे लोकलाज और मर्यादा की चिन्ता नही है। इसका फल यह हुआ कि रीतिकालीन अभिव्यक्ति में रूमानी तत्त्व पर्याप्त मात्रा मे वर्त्तमान है। अभिसार और प्रियमिलन के लिए दूतियो की मदद प्रेमी-प्रेमिकाओं द्वारा ली जाती है; परिवार के लोगों की, विशेषकर सास-जेठानी-ननद सबकी सीख की अवहेलना की जाती

१. आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

है । प्रणयी-युगल के प्रेम-सम्बन्ध को ही इन कवियों ने अपना विषय बनाया है ।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, "शृंगारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नहीं हैं, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न । जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वंचित रही हों, परन्तु शृंगारिक कुंठाओं से वे मुक्त थीं । इसी कारण इस युग की शृंगारिकता में घुमड़ अथवा मानसिक छलना नहीं है ।"

रीतिकाल का काव्य बड़ा समृद्ध है । नैतिकता के नाम पर इस काव्य की जितनी निन्दा हम करें, यह काव्य सुन्दरम् की साधना का काव्य है । लोकसग्रह अथवा समाज-कल्याण की भावना इस काव्य मे नहीं है तो इससे क्या; क्या काव्य का नीति से सम्बन्ध आवश्यक है ? विश्व के अनेक महाकवि, जिन्होंने प्रेमकाव्य की रचना कर स्थायी कीर्त्ति पायी, क्या लोक-कल्याण की भावना से विरहित नहीं है ? इस कसौटी पर कसने पर देव, बिहारी, घनानन्द इत्यादि प्रेमकवि केवल इसलिए सामान्य कवि नहीं हो जाते, चूँकि इन महाकवियो ने काव्य-कला को केवल कला के रूप में ग्रहण किया और इसके माध्यम से मानव की कोमल भावनाओं को पुलकित-कम्पित किया । समाज के प्रति उत्तरदायित्व का बोध अवश्य ही इन कवियों को नहीं हुआ; पर यह बात तो अनेक महाकवियो के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है । नर-नारी का प्रेमसम्बन्ध तो काव्य का पुरातन और चिरंतन विषय है, सब देशों के साहित्य में मानवीय प्रेम की सरल, सहज और सरस अभिव्यक्ति का महत्त्व स्वीकृत किया गया है; अतः नायिकाभेद और नखशिख के चौखटे में जड़े हुए अलंकृत शब्दचित्र निन्द्य है, यह 'प्योरिटन' (पवित्रतावादी) दृष्टिकोण 'कला कला के लिए' माननेवाले स्वीकार करने को तैयार नहीं है । हमने अपनी पराधीनता के युग मे, जब हम राजनीतिक उत्पीड़न के दंशन का प्रतिपल अनुभव कर रहे थे, जब अनेक सामाजिक कुप्रथाओं में बँधे हुए हम तड़प रहे थे, तब इस रीतिकाव्य को जिस दृष्टि से हम देखने लगे थे, वह मूल्यांकन एकांगी था । आवश्यकता है कि रीतिकाव्य का पुनर्मूल्यांकन हो और हमारी समीक्षा-तुला शुद्ध काव्यशास्त्रीय हो । रीतिकवियों को कबीर-सूर-तुलसी की पंक्ति में बैठाकर उनपर निर्णय देना ठीक नहीं है; वे लौकिक कवि या प्राकृत कवि है, अतः उनकी तुलना ऋषितुल्य कवियों से न कर हम मानवीय सवेदना और भावनाओं के ऐहिक कवियों से करें तो हम उनकी कला को, उनकी कल्पना की सूक्ष्मता को, उनकी भावना की तरलता को अधिक सहानुभूति के साथ समझ सकेंगे ।

केशवदास

रीतिकाव्य के अन्तर्गत शुक्लजी ने लगभग एक सौ कवियों को स्थान दिया है । हमने इस संकलन में उनमें से केवल आठ श्रेष्ठ कवियों को चुनकर इस काव्य का

प्रतिनिधित्व कराया है।[1] केशवदास 'उडुगण' के रूप में प्रसिद्ध हैं, क्योंकि हमने उन्हें काव्याकाश के सूर्य-चन्द्र के बीच रख दिया है। अन्यथा वे रीतिकाव्य के सुकवि और आचार्य के रूप में एक परम्परा के प्रवर्त्तक है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र को विधिवत् हिन्दी में लाने का श्रेय केशवदास को ही है। जब वे मुक्तक लिखते हैं तब न वे 'कठिन काव्य के प्रेत' जान पड़ते है और न शुष्क मस्तिष्कप्रधान। कहीं-कही, विशेष-कर 'रामचन्द्रिका' में, पाण्डित्यप्रदर्शन की प्रबल प्रवृत्ति के वे शिकार हो जाते है; पर सर्वदा हम उन्हें इस रूप में नहीं पाते। केशव की कुछ कविताएँ पर्याप्त सरस हैं, जो उनकी रसिकता की प्रमाण है।

'रसिकप्रिया' में १३ प्रकाशों में शृंगाररस का ही विवेचन है। एक 'प्रकाश' में अन्य रसों का सामान्य विवेचन है। बाद मे वृत्तियों और रसदोष की चर्चा है। 'कवि-प्रिया' मे भी शृंगार ही प्रमुख है। बाला और बालको को समझाने के लिए इसकी रचना हुई है। इसमें अलकारों को अधिक महत्त्व मिला है, क्योंकि कविता के सभी तत्त्वो में महत्त्वपूर्ण अलंकार ही है--

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन विनु न बिराजई कविता बनिता मित्त॥

अलंकार शब्द का प्रयोग केशव व्यापक अर्थ में करते हैं। छन्दों पर भी केशव की एक पुस्तक 'छन्दमाला' मिली है। इस प्रकार केशव ने हिन्दी में प्रथम बार काव्य के विविध अंगो पर पुस्तकें लिखीं। संस्कृत के साहित्यशास्त्र के ग्रन्थो की तुलना में हिन्दी के लक्षणग्रन्थों का स्तर सामान्य है। कदाचित् हिन्दी मे अधिक ठोस और गम्भीर काव्यशास्त्र भारी पड़ता, अतः केशव और अन्य आचार्यो ने भी न्याय और दर्शन के सहारे सिद्धान्तों का विवेचन नही किया। सामान्य शिष्यों के बोधनार्थ ही ये ग्रन्थ रचे गये।

केशव की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने मुक्तक के अतिरिक्त प्रबन्धकाव्यो की

---

१. भिखारीदास ने अपने समय में इतने कवियों की ब्रजभाषा को प्रमाण माना है—

सूर, केसव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
    चिन्तामनि, मतिराम, भूषन सुजानिये।
लीलाधर, सेनापति, निपट नेवाज, निधि-
    नीलकंठ, मिश्रसुखदेव, देव मानिये।
आलम, रहीम, रसखान, सुन्दरादिक
    अनेकन सुमति भये कहाँ लौ बखानिये।
ब्रजभाषा हेत ब्रजबासही न अनुमानौ
    ऐसे-ऐसे कविन की बानी हूँ सो जानिये।

इस सूची में सूरदास के अतिरिक्त सभी रीतिकाल के हैं।

भी रचना की। 'रामचन्द्रिका' रसमय काव्य नहीं है, पर उसमें उक्तिवैचित्र्य, सवाद-कौशल और अर्थगौरव से युक्त अनेक स्थल है। केशव की प्रतिभा तीन दिशाओं मे प्रस्फुटित हुई—एक आचार्य-रूप मे कविशिक्षाविषयक पुस्तकों में, दूसरे प्रबन्ध-काव्य-रचयिता-रूप मे और तीसरे मुक्तक कवित्तो और सवैयो के क्षेत्र मे। केशव का सहज कविरूप अन्तिम क्षेत्र मे दीख पड़ता है। 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' के उदाहरण ही कवि केशव की प्रतिभा के द्योतक है।

सेनापति

सेनापति का 'कवित्तरत्नाकर' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। शुक्लजी ने इनकी मर्मस्पर्शिनी कविता की बड़ी सराहना की है। इनके कवित्त भाव-भाषा दोनो ही दृष्टि से बडे सफल है। श्लेष के चमत्कार मे सेनापति बड़े निपुण है। इनके समान ऋतुवर्णन किसी कवि का नही हुआ है। "एक निश्चित लय मे सन्तुलित गति से चलती हुई पंक्तियाँ नर्त्तकी के पद-सचार तथा वर्णो और शब्दो के ध्वनि-सौन्दर्य, नृत्य की ललित झमक और अबाध प्रवाह से युक्त है।" सेनापति का शब्दचयन उनके भाषासम्बन्धी असाधारण अधिकार का द्योतक है।

बिहारी

बिहारीलाल काव्यशास्त्र लिखने के मोह में नही पड़े, पर उनकी 'सतसई' काव्य के शास्त्रीय आदर्शो से प्रेरित अवश्य है। नायिकाभेद और अलकार के चौखटे में ही 'सतसई' के दोह जड़े जान पडते है। इन दोहो मे मुक्तककाव्य के सकल गुण सचित हो गये है ब्रजभाषा मे इनके पूर्व और इनके बाद भी दोहा छन्द मे ऐसी शृगारी रचना नही हुई। बिहारी के आदर्श 'आर्यासप्तशती-गाथासप्तशती' आदि शृगार की रचनाएँ है, अपभ्रंश के शृंगारी दोहे है, संस्कृत की 'अमरुकशतक' आदि कृतियाँ है; पर बिहारी में कलात्मक निपुणता अपनी है। इस 'सतसई' के ढंग पर कई कवियों ने सत-सइयाँ रचीं, पर असल और नकल का अन्तर बना ही रहा। बिहारी शृंगारी दोहों की परम्परा के प्रवर्त्तकरूप मे हिन्दी में चिरकाल तक स्मृत रहेगे। इस 'सतसई' का इतना अनुशीलन मध्यकाल मे ही हो चुका था कि 'रामचरितमानस' के बाद सबसे अधिक इसकी टीकाएँ निकली और इसका प्रभाव पडा। 'सतसई' मे नायिकाभेद और अलंकार का चमत्कार तो है ही, इसमें रमणीय चित्रण और चुस्त शब्दयोजना भी मिलती है। दोहों मे अगर सजावट है तो कसावट भी है। इस लघुछन्द में सभी काव्यांगों को सुन्दरता के साथ दिखलाना कितना कठिन है, यह वही अनुभव करता है जिसने इस छन्द में कहने की चेष्टा की है। बिहारी की सफलता का भेद कदाचित् उनकी शब्द-योजना, नाद-योजना और चित्रात्मक शैली मे निहित है। नायिका की

रूपछवि के मादक चित्र, यौवन मे सयोग के प्रसंगों की विविधता, नायिका की अंग-भंगिमा और भावपूर्ण विलास-चेष्टाएं इनके दोहों में शृंगार का रसमय वातावरण बनाने मे समर्थ हुई है। वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति, श्लेष और उत्प्रेक्षा के सुन्दर-से-सुन्दर उदाहरण 'सतसई' से दिये जा सकते है।

हिन्दी मे बिहारी और देव की तुलना से ही तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ हुआ। दोनो कवि शृंगार-धारा के है और परस्पर तुलनीय है। सवैया-कवित्तो की रचना मे देव को भी सफलता खूब मिली, पर उन्हें किसी प्रवृत्ति या परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय नही दिया जा सकता। दोहे की सकुचित परिधि मे रचना करना सवैया आर कवित्त रचने से कठिन कविकर्म है। एकात्मता के साथ लघुता का योग होने के कारण हिन्दी मे सबसे अधिक उद्धरणीय छन्द दोहा है। सवैया-कवित्त की परम्परा देव के पूर्व से पूर्णतः विकसित रूप मे मिलती है। उस परम्परा को आगे बढाने का श्रेय सभी रीतिकवियो को है। देव उस धारा के प्रतिभाशाली कवि है तथा उनकी एक विशेषता यह है कि उन्होने बहुतेरी पुस्तकें लिखी, विविधता और बहुरूपता उनकी कविता मे मिलती है, ज्ञान-भक्ति-पोषक रचनाएँ भी अनेक है; पर बिहारी दोहा छन्द के एकनिष्ठ साधक है। एक बार जिस छन्द को बिहारी ने निज काव्यशक्ति को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त समझकर वरण कर लिया, फिर दूसरे छन्द के मोह मे नही पड़े। दीर्घकालीन साधना के बल पर ही सफलता मिलती है। बिहारी के सात सौ दोहे जीवनव्यापी काव्य-साधना के फल के रूप मे जान पडते है। कम लिखकर अधिक यश यदि किसी कवि को मिला तो बिहारी को। जिस छन्द में कबीर ने साखियाँ लिखीं, तुलसी ने भक्ति और नीति की शिक्षा दी, वही छन्द बिहारी को शृंगार के हेतु उपयुक्त जँचा। इस छन्द मे शृंगार की उत्कृष्ट रचना कर बिहारी ने दोहे से आर्या का काम लिया। इसके पूर्व दोहा अनुष्टुप श्लोक का ही प्रयोजन पूरा करता था। बिहारी मे 'कल्पना की समाहारशक्ति के साथ भाषा की समासशक्ति' का अद्भुत योग है।

अन्य कवि

मतिराम और पद्माकर रीतिकाल की प्रवृत्तियो का देव और चिन्तामणि के समान ही प्रतिनिधित्व करते है। दोनों में काव्यशास्त्र और ललितकाव्य की रचना की प्रवृत्ति है और दोनों ही एक ही धारा मे बहते है। 'ललितललाम', 'रसराज', 'अलकारपंचादर्श' मतिराम के लक्षण-ग्रन्थ है। पर, जैसा कि अन्य रीतिकाव्यो का गुण है, इस कवि के उदाहरणरूप में लिखित पद्य ही महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत-काव्यशास्त्र के लेखकों ने गद्य मे विषय का विवेचन किया था और दूसरे कवियो की रचनाओं के उदाहरण प्रस्तुत किये थे। हिन्दी के कवियो ने शास्त्रीय विवेचन के हेतु

भी पद्य का माध्यम चुना, जिसके कारण विशद और शुद्ध विवेचन में बाधा पड़ गयी। इस दोष से सभी कवि युक्त हैं। मतिराम ने बिहारी का अनुकरण कर 'सतसई' भी लिखी, पर उनमे बिहारी के समान प्रौढता और वचनवक्रता नहीं है। इस सतसई के बहुत कम दोहे बिहारी की उच्चता को छू पाये है। मतिराम सवैया और कवित्त रचने मे ही प्रवीण है और उनकी इस श्रेणी की रचनाओं मे भाव-सौन्दर्य और शब्द-लालित्य अधिक है। भाषा का उच्छल प्रवाह देखते ही बनता है।

पद्माकर रीतिकाल के अन्तिम प्रौढ़ कवि हैं। कविता के द्वारा उन्होने अपने समय में सबसे अधिक धन और यश अर्जित किया। शब्दालंकारों में अनुप्रास का उन्हे विशेष मोह है। पद्माकर शब्दमोह से ग्रस्त होकर वर्णन-चमत्कार दिखलाने लगते है। अन्यथा जहाँ यह मोह कम है, वहाँ वे प्रतिभावान् कवि के समान शृंगार और भक्ति के भावों को अभिव्यक्त करने मे पूर्ण सफल है। 'पद्माभरण' और 'जगद्विनोद' उनके रीति-शास्त्रीय ग्रन्थ है, जो अपने समय में बड़े लोकप्रिय हुए। पर उनकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण था, सुन्दर उदाहरणों का बाहुल्य। मतिराम और पद्माकर मे भाषा की दृष्टि से मतिराम की भाषा ही स्वच्छ और चलती-निखरी हुई व्रजभाषा है। पद्माकर नादसौन्दर्य और अनुप्रासमोह के कारण शब्दों को विकृत करने लगते है। शब्द के बल पर चमत्कार दिखलाने की प्रवृत्ति उनमे दीखती है और वे शब्द को ही सब-कुछ मान बैठते है। मतिराम इस दोष से प्रायः मुक्त है। पर पद्माकर के समान लोक-प्रिय कवि मतिराम नही है। देव की बहुमुखी प्रतिभा की विद्वानों ने सराहना की है, पर देव भी पद्माकर के समान प्रसिद्ध नही हुए। रीतियुग के इन कवियो ने व्रजभाषा को इतना सरस, सजीव और समृद्ध कर दिया कि व्रजभाषा सर्वस्वीकृत काव्यभाषा हो गयी।

रीतियुग में दो कवियों की चर्चा अलग से करने की आवश्यकता है। एक हैं कृष्णभक्त रसखान, जो वस्तुतः कृष्णभक्तिशाखा के कवि है, पर उनकी सरस व्रज-भाषा और सवैयों की माधुरी ने रीतिकाल के शृंगारी कवियों को भी प्रभावित किया। रसखान के सवैये रस की खान हैं। कृष्णप्रेम मे रँगे हुए इस मुसलमान भक्त की भाषा का जादू सबके सिर चढकर बोलता है। रसखान की रचनाएँ रीतिमुक्त धारा के अन्तर्गत भी स्थान पाने के योग्य है। ऐसे ही कृष्णप्रेम के मतवाले रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द है, जो अपनी मार्मिक प्रेमव्यंजना और प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए प्रसिद्ध है। घनानन्द के सम्बन्ध में शुक्लजी का मत है कि "इनकी-सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी व्रजभाषा लिखने मे और कोई कवि समर्थ नही हुआ।" घनानन्द रीतिकाल में प्रेमी कवि के रूप में दीख पड़ते है। 'नेही महा व्रजभाषा प्रवीन औ सुन्दरता के भेद को जानै'—यही उनका सही परिचय है। पर रसखान की भाषा की मधुरता विशेष मुग्ध करती है। घनानन्द की भाषा में माधुर्य और प्रसाद

दोनों गुण समान रूप में है। रसखान में माधुर्य गुण घनानन्द से अधिक है। इन दोनों कवियों का पूर्वजीवन लौकिक प्रेम के अनुभव से पूर्ण रहा और परवर्त्ती जीवन में उस पूर्वानुभव की तीव्रता और सघनता ही कृष्णप्रेम में परिणत हो गयी। प्रेमी की पीर, प्रेम की मादकता और प्रेम की गहराई में घनानन्द को दूसरे रीतिकालीन शृंगारी कवि नहीं पा सकते है। दूसरे कवि शृंगारी है, घनानन्द आद्यन्त प्रेमी। प्रेम को सर्वस्व मानकर इस कवि के करुणाविगलित हृदय से जो उद्गार निकले, उन्हें नायिकाभेद और नखशिख के चौखटे में जड़े चित्र नहीं पा सकते। कल्पना, चमत्कार, वक्रोक्ति और शब्द-शिल्प को महत्त्व देनेवाले अधिकांश रीतिकवियों मे और घनानन्द में अन्तर है।

रीतिकाल के अन्तिम कवि के रूप मे हरिश्चन्द्र का भी उल्लेख होना चाहिए। हरिश्चन्द्र और भारतेन्दु एक ही व्यक्ति के दो रूप है। भारतेन्दु रीतियुग की प्रवृत्तियों के वातावरण में ही पले थे, इस धारा के साथ बहुत दिनो तक वे बहते रहे। बाद मे उनमे सामाजिक और राजनीतिक चेतना का उदय हुआ और उन्होने पीडित भारत की पुकार सुनी। रीतिकालीन कविता के संस्कारो से वे मुक्त नही हुए। उनके सवैयो और कवित्तों मे देव-मतिराम-पद्माकर की कविता की ही परम्परा का निर्वाह हुआ है।

हरिश्चन्द्र के काव्य में भक्तिधारा और रीतिधारा का सगम है। भक्ति का उन्मेष होने पर वे कृष्णभक्तों की पदावली-शैली में रचना करते है और शृंगार मे रीतिकाव्य की सवैया-कवित्त-शैली मे लिखते है। हरिश्चन्द्र वल्लभ-कुल के वैष्णव भी है और शृंगारी प्रवृत्तियों के सरसहृदय कवि भी। अन्तिम कुछ वर्षो मे वे समकालीन सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना से उद्वेलित होकर नवभारत के वैतालिक कवि के रूप में उद्बोधन का स्वर उच्चारित करते है। हरिश्चन्द्र के बाद रीतिकाव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया का आरम्भ होता है। हरिश्चन्द्र 'भारतेन्दु' के रूप मे मूर्च्छित भारत को जगाकर नवजीवन लाने का प्रयास कर आधुनिक युग का आरम्भ करते दिखाई देते है।

वीरकाव्य

आदिकाल में रासो-परम्परा के काव्य चारण-भाटों द्वारा राजाश्रय मे रचे गये थे और उनमें राजपूत नरेशों के वीरकर्म का ओर उनके चरित का प्रशस्तिमूलक वर्णन होता था। इन चरितकाव्यों मे वीर राजाओं के युद्धों के अतिरिक्त उनके विवाह, प्रेम और राजकीय वैभव के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करने की परम्परा का पालन होता था। मध्यकाल में राजस्थान के प्रमुख राजवंशों की पराजय के बाद हिन्दू-राज्य बुन्देलखंड-बघेलखंड-प्रदेश में सिमटकर जीवित थे। इन छोटे राज्यों ने भी सैकड़ों वर्षो तक अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मुसलमान आक्रामकों से भीषण युद्ध किये और अनुपम शौर्य-वीर्य का परिचय दिया। मध्यकाल के वीरकाव्य में हम हिन्दुत्व की

भावना को प्रेरणारूप मे देखते है। जब मुगल-साम्राज्य अकबर की उदार नीति के कारण सुदृढ़ हो गया और धीरे-धीरे साम्राज्य मे व्यवस्था और शान्ति आयी तब कुछ काल के लिए हिन्दुओं को अपना धर्म निरापद लगने लगा और हिन्दू-जाति का विरोध मन्द पड गया। पर मुस्लिम शासन का विरोधी रूप शीघ्र ही प्रकट हुआ और परवर्त्ती मुस्लिम शासकों ने हिन्दू प्रजा पर अत्याचार करना आरम्भ किया। १७वी सदी के बाद राष्ट्रधर्म का भाव हिन्दुओं मे जाग्रत हुआ। हिन्दू-जाति के धर्म, सस्कृति और अधिकारों पर जब खुलकर प्रहार होने लगे तब हिन्दी-क्षेत्र में वीर-काव्यो ने भी नवीन रूप धारण किया। हिन्दूधर्मध्वंसक, मूर्त्तिभजक म्लेच्छ राजाओं की तुलना असुरो से की जाने लगी। पठान-वश और आरम्भिक मुगल-वंश के शासक हिन्दू सस्कृति, धर्म और जाति के उन्मूलन में अधिक उत्साह नही दिखलाते थे; पर औरगजेब के आते ही मुस्लिम शासन का हिन्दूविरोधी प्रचंड रूप प्रकट हुआ। इन अत्याचारो की प्रतिक्रिया मे हिन्दू-राष्ट्र की भावना जगी, 'हिन्दुआने' (हिन्दू-भूमि) की एकता और रक्षा का भाव उदित हुआ। ठीक इसी समय विन्ध्याचल के दक्षिण मराठा-शक्ति का उदय हुआ, जो 'हिन्दू-स्वराज्य' की भावना से प्रेरित आन्दोलन का प्रभाव था। अबतक हिन्दू राजे अपने-अपने राज्य की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए युद्ध करते थे; किन्तु मराठा-शक्ति ने आक्रामक नीति का अवलम्ब लेकर हिन्दू स्वतन्त्र क्षेत्र स्थापित करने का निश्चय किया। इसका फल यह हुआ कि हिन्दू राष्ट्रीय भावना वेग से देश मे फैलने लगी। शिवाजी इस भावना की मूर्त्ति के रूप मे हिन्दू-जाति के त्राता बनकर आये और छत्रसाल उस आदर्श से अनुप्राणित युवक नेता हुए। शिवाजी और छत्रसाल के हृदय में हिन्दू-राष्ट्र की भावना उमड रही थी। मुस्लिम शासनकाल मे हिन्दू-जागरण का प्रथम उद्घोष भूषण कवि ने किया। भूषण के पूर्व के वीररस के कवियों में और भूषण में दृष्टिकोण का अन्तर है। भूषण का काव्य हिन्दू-जाति का विद्रोही स्वर है, मुस्लिम-शासन के विरुद्ध क्रान्ति का काव्य है।

शिवाजी को भूषण ने क्यों इतनी श्रद्धा अर्पित की? इसका कारण यह था कि उस समय हिन्दू प्रजा मुस्लिम शासन के लौह-चक्र के तले पिसती हुई कराह रही थी, मन्दिरों की मूर्त्तियाँ तोडी जा रही थीं, कर का बोझ बढ़ता जा रहा था और हिन्दुओं की मर्यादा खतरे मे थी।[1] भूषण ने शिवाजी का यशोगान करना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य अनुभव किया, क्योंकि हिन्दू-राज्य की स्थापना के लिए वे प्रयत्नशील थे और उन्हें इस दिशा मे कुछ सफलता प्राप्त हो चुकी थी। भूषण की कविता मे

१. डाढी के रखैयन की डाढी-सी रहति छाती
बाढ़ी मरजाद जस हद हिन्दुवाने की।
कढ़ि गई रैयति के मन की कसक सब
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।

शिवाजी के प्रताप और तेज का, अदम्य उत्साह और संकल्प का, हिन्दू-धर्म में गहरी श्रद्धा का बडा ही तेजस्वी वर्णन है। मुसलमानो के प्रति भूषण अनुदार और कठोर हैं अवश्य, पर इसका कारण यह है कि मुसलमानो की धर्मध्वसक नीति के वे विरोधी थे। वे मुगलानियों के मन के त्रास को, भय को और घबराहट को चित्रित करते हैं। उनके द्वारा दिल्ली, गोलकुण्डा, बीजापुर के मुसलमान शासको के भय और आतक तथा शिवाजी के तेज और प्रताप का बडा ही ओजपूर्ण वर्णन हुआ है। वैसे ही उत्साह से कवि ने छत्रसाल की वीरता का वर्णन भी किया है। 'शिवाबावनी' और 'शिवराजभूषण' दोनो ही पुस्तकों में भूषण के वीररसपूर्ण कवित्तो और घनाक्षरियो का संग्रह है। 'छत्रसाल-दशक' मे छत्रसाल के शौर्य और तेज का वर्णन है। छत्रसाल को हम शिवाजी के ही आदर्शो से प्रेरित पाते है। भूषण उस रीतिकाल में अपवाद है, जब चारो ओर शृंगार को ही काव्य का एकमात्र रस अनुभव किया जाने लगा था।

औरगजेब के क्रूर अत्याचारों ने हिन्दू राजाओ को सचेत और जाग्रत कर दिया और शिवाजी तथा छत्रसाल के मन मे हिन्दू-धर्म के रक्षार्थ मुसलमानो से लोहा लेने का भाव जाग्रत हुआ। हिन्दी के कवियों मे सर्वप्रथम भूषण के मन मे हिन्दू राष्ट्री-यता के भाव का उदय हुआ और वे ऐसे तेजस्वी राष्ट्रनायकों और हिन्दूधर्म के रक्षको को देखकर पुलकित हो गये। भूषण हिन्दी मे जातीय भावों से प्रेरित होकर ही छत्रसाल और शिवाजी के आश्रय मे आये, केवल अर्थ का लोभ होता तो उन्हे पास-पडोस मे भी राजसम्मान मिल सकता था। भूषण हिन्दूधर्म के रक्षक राजा की खोज मे थे। आश्रयदाता की प्रशस्ति लिखनेवाले चाटुकार कवियो से भूषण मे अन्तर है। उनके चतुर्दिक् शृंगारी कवियों का वातावरण था, सभी कवि नायिकाभेद और नखशिख के ही घेरे मे चक्कर काट रहे थे। देशात्मबोध और राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट करने के लिए भूषण ने वीररस की कविता रची। जब उन्हे अनु-कूल वीर नायक प्राप्त हुए तब उनकी प्रतिभा को विकसित होने का उपयुक्त क्षेत्र भी मिल गया। शिवाजी को उन्होने हिन्दूधर्म के रक्षार्थ नये अवतार के रूप मे स्वीकार किया। राम-कृष्ण आदि का अवतार असुरों के सहारार्थ हुआ था; उसी प्रकार शिवाजी म्लेच्छ-वश का सहार करने के लिए अवतरित हुए है, ऐसा उनका विश्वास था। शिवाजी भूषण के लिए युगावतार थे, शिव-शक्ति का तेज लेकर अवतरित थे, म्लेच्छो पर विजय पाने के लिए उत्पन्न हुए थे। ऐसी श्रद्धा के साथ किसी अन्य वीर-रस के कवि ने अपने नायक को अकित नही किया था। उस समय इस देश मे हिन्दू और मुस्लिम शक्ति में संघर्ष था, अतः हिन्दुत्व का समर्थन और हिन्दुआने की रक्षा के लिए किया हुआ प्रयास ही राष्ट्रीय था। चूँकि हिन्दू-भावना का मूर्त्तिमान रूप शिवाजी और छत्रसाल मे भूषण को दिखाई पड़ा, इसलिए वे इन देशोद्धारक धर्म-रक्षक वीरों का यशोगान करने में प्रवृत्त हुए।

भूषण के बाद गोरेलाल और सूदन वीररस के प्रमुख कवि हैं। गोरेलाल के 'छत्र-प्रकाश' में छत्रसाल के पराक्रम और तेज का वर्णन है। इस पुस्तक में शिवाजी द्वारा छत्रसाल को उपदेश देने का उल्लेख है, जिससे जान पडता है कि छत्रसाल शिवाजी के प्रति गुरुवत् श्रद्धाभाव व्यक्त करते थे। शिवाजी ने अपने हाथ से छत्रसाल को तेग बाँधकर विदा किया था। हो सकता है, छत्रसाल की सभा में ही शिवाजी के हिन्दू-रक्षक-रूप की ख्याति सुनकर भूषण के मन मे शिवाजी का आश्रय ग्रहण करने का भाव उदित हुआ हो। 'छत्रप्रकाश' साहित्य और इतिहास दोनों ही दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है।

'सूदन' कवि मथुरावासी थे। इनका 'सुजानचरित्र' नामक काव्य प्रसिद्ध है। इसकी रचना लगभग १८१० वि० मे हुई। इस पुस्तक में युद्ध का वर्णन चमत्कारपूर्ण शैली में हुआ है। इसपर 'डिंगल' के वीरकाव्य की शैली का प्रभाव स्पष्ट है। शब्दों में कठोरता लाने के लिए वर्णों को द्वित्व कर दिया गया है। शस्त्रों के नाम को शब्दों द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा हुई है। तरह-तरह के शस्त्रास्त्रों का विशद वर्णन है। वीर-रस के उपयुक्त व्रजभाषा को बनाने के लिए अनेक शब्दों को बहुत विकृत कर दिया गया है।

वीरकाव्य के रचयिता के रूप में केशव और पद्माकर का नाम भी लिया जाता है। पर इन कवियों को रीतिकाव्य का प्रतिनिधि कवि मानकर ही विचार करना ठीक है। केशव का 'वीरसिंहदेवचरित' और पद्माकर का 'हिम्मतबहादुर विरुदा-वली' वीरकाव्य है। इन पुस्तको के नायक प्रसिद्ध और प्रतापी राजे नही थे, अतः इन काव्यों को अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता।

नीतिकाव्य

सन्त-महात्माओं की रचनाओं मे नीतिमूलक और उपदेशमूलक रचनाएँ मिलती हैं। भारतीय साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें लोकमंगल की भावना ने सदा कवियों को प्रेरित किया। संस्कृत का नीतिकाव्य बडा समृद्ध है। चाणक्यनीति, शुक्रनीति, विदुरनीति, भर्तृहरिनीतिशतक इत्यादि सग्रह बहुत प्रसिद्ध है। हिन्दी मे नीतिकाव्य की परम्परा का आरम्भ 'तुलसी सतसई' और रहीम के दोहासंग्रह से माना जा सकता है। नीति के कुछ उत्कृष्ट दोहे कबीर और दूसरे सन्तों ने भी लिखे है। पर शुद्ध सूक्ति-कार या नीतिकार कवियो की श्रेणी मे रहीम, वृन्द, वैताल, गिरिधर और दीनदयाल गिरि आते है। वैताल के छप्पय, गिरधर की कुण्डलियाँ, दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ जीवन के व्यावहारिक अनुभव से पूर्ण है। घाघ और भड्डरी मुख्यतः कृषि-जीवन और ग्रामीण समाज के लिए उपयोगी ज्ञान देते है।

वृन्द कवि संस्कृत के नीति के श्लोकों से प्रभावित हैं। इन्होंने प्रसिद्ध नीतिपूर्ण

संस्कृत-पद्यों के आशय को सरल भाषा में सूक्तियों के रूप में व्यक्त किया है। वृन्द में कवित्व कम और उपदेश अधिक है। नीतिपरक रचनाओं में रहीम सर्वोत्कृष्ट है। उन्हे जीवन के संघर्षो का प्रत्यक्ष अनुभव था, अपने जीवन मे उन्होंने कई बार उत्थान-पतन देखा था, सुख और दु:ख दोनों को भोगा था। अतः स्वानुभव के रस मे मिश्रित उनकी उक्तियाँ हृदय पर सीधा प्रभाव डालती है। वृन्द या गिरिधर उस उच्चता और गहराई तक नही जा सके जहाँ तक रहीम की पहुँच है। परन्तु लोकप्रियता की दृष्टि से गिरिधर कविराय सफल है। कुंडलिया छन्द की चर्चा चलते ही उनकी याद आ जाती है। भक्तों के नीतिकाव्य पर आध्यात्मिक रग चढा है। गिरिधर, वृन्द और गिरि में व्यवहारपक्ष ही प्रधान है। इनके समाजनीति और राजनीति से सम्बद्ध पद्य उद्धरणीय होते हैं तथा वार्ता और संलाप में वक्ता अपने विचार को पुष्ट करने के लिए ऐसी सूक्तियों का प्रयोग करता है। लोकशिक्षा और सदाचार के पोषण के लिए नीति की सूक्तियों का महत्त्व अधिक है। सूक्तियो के लिए छोटे छन्द अधिक उपयुक्त है। हिन्दी में दोहा इस कार्य के लिए सबसे उपयुक्त है। साखीकारो ने दोहे के इस महत्त्व का अनुभव बहुत पहले ही कर लिया था। तुलसी के दोहे भी बहुत लोकप्रिय हुए। रहीम और वृन्द ने भी दोहे को अपनाकर उसकी प्रतिष्ठा बढायी। आधुनिक युग में नीतिकाव्य की धारा सूखने लगी। छायावादी युग मे काव्य में कल्पना-तत्त्व का अधिक महत्त्व बढा और इसका परिणाम यह हुआ कि नीतिपरक रचनाएँ कम होने लगी। आधुनिक कवियो मे गुप्तजी की कविता मे ही नीनि के कुछ पद्य मिलते है। मध्यकाल मे अनेक कवियो ने इस धारा को जीवित रखा। नीतिकाव्य लोकमंगल की भावना से प्रेरित होकर रचा जाता है। समाज के लिए ऐसा काव्य उपयोगी होता है।

मध्यकालीन काव्य की प्रमुख धाराओं और प्रवृत्तियो की पीठिका का ज्ञान आवश्यक है। लगभग पाँच शताब्दियो के काव्य की गति-विधि, रीति-प्रवृत्ति, चढाव-उतार इत्यादि का इतिहास प्रस्तुत करना हमारा इष्ट नही है। पर हमारा विश्वास है कि यह पीठिका मध्यकालीन काव्य के अध्ययन-अनुशीलन मे सहायक होगी और अध्येताओ की अभिरुचि को जाग्रत करेगी।

—मुरलीधर श्रीवास्तव

निर्गुण-काव्य

१. कबीर
२. रैदास
३. नानक
४. दादू
५. सुन्दरदास
६. दरिया साहब

कबीर

जन्म— सं० १४५६
मृत्यु— अनिश्चित, सम्भवतः संवत् १५७५
स्थान—काशी

पद

१

हमारै गुर दीन्हीं अजब जरी।
कहा कहो कछु कहत न आवै अम्रित रसन भरी ।। टेक ।।
याही तै मोहि प्यारी लागी लैकै गुपुत धरी।
पांचौ नांग पचीसौ नांगिनि सूंघत तुरत मरी ।।
डाइनि एक सकल जग खायौ सो भी देखि डरी।
कहै कवीर भया घट निरमल सकल बियाधि टरी ।।

२

दुलहिनी गावहु मंगलचार।
हंम घरि आए राजा रांम भरतार ।। टेक ।।
तन रत करि मै मन रति करिहौं पांचउ तत्त बराती।
रांम देव मोरै पाहुनै आए मैं जोबन मैंमाती ।।
सरीर सरोबर बेदी करिहौ ब्रह्मा वेद उचारा।
रांम देव संगि भांवरि लेइहौ धंनि-धंनि भाग हमारा ।।

३

बालम आउ हमांरै गेह रे।
तुम्ह बिन दुखिया देह रे ।। टेक ।।
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी मोकौं यह अन्देह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लगि कैसा नेह रे ।।
अन्न न भावै नींद न आवै ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यौ कांमीं कौ कांमिनि प्यारी ज्यौं प्यासे कौ नीर रे ।।
है कोई ऐसा पर उपगारी हरि सौ कहै सुनाइ रे।
अब तौ बेहाल कबीर भए हैं बिनु देखें जिउ जाइ रे ।।

४

अबिनासी दुलहा कब मिलिहौ सभ संतन के प्रतिपाल।
जल उपजी जल ही सौ नेहा रटत पियास पियास।
मै बिरहिनि ठाढ़ी मग जोऊं रांम तुम्हारी आस ।।

छांड्यौ गेह नेह लगि तुमसे भई चरन लौलींन ।
तालावेलि होत घट भीतर जैसै जल बिनु मीन ।।
दिवस न भूख रैनि नहि निद्रा घर अंगना न सुहाइ ।
सेजरिया बैरिनि भई मोकौ जागत रैनि बिहाइ ।।
मै तो तुम्हारी दासी हो सजनां तुम हमरै भरतार ।
दीन दयाल दया करि आवौ समरथ सिरजन हार ।।

५

माधौ कब करिहौ दाया ।
कांम क्रोध हंकार बिआपै नां छूटै माया ।। टेक ।।
उतपति बिंदु भयौ जा दिन तै कबहूं सचु नहि पायौ ।
पंच चोर संगि लाइ दिए हैं इन संगि जनम गंवायौ ।।
तन मन डस्यौ भुजंग भांमिनीं लहरइं वार न पारा ।
गुर गारड़ मिल्यौ नहिं कबहूं पसर्‌यौ बिख बिकरारा ।।
कहै कबीर दुख कासौं कहिए कोई दरद न जांनै ।
देहु दीदार बिकार दूर करि तब मेरा मन मांनै ।।

६

अवधू मेरा मनु मतिवारा ।
उनमनि चढ़ा मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा ।।
गुड़ करि ग्यांन ध्यांन करि महुआ भौ भाठी मन धारा ।
सुखमनि नारी सहज समांनीं पीवै पीवनहारा ।।
दोइ पुर जोरि रसाई भाठी चुआ महा रसु भारी ।
कांमु क्रोध दोइ किए बलीता छूटि गई संसारी ।।
सहज सुन्नि मैं जिन रस चाखा सतिगुर तै सुधि पाई ।
दासु कबीर तासु मद माता उछकि न कबहूं जाई ।।

७

फिरहु का फूले फूले फूले ।
जब दस मास उरध मुखि होते सो दिन काहे भूले ।।
जब जरिऐ तब होइ भसम तन रहै किरिम दल खाई ।
कांचै कुंभ उदिक ज्यौ भरिया या तन की इहै बड़ाई ।।

ज्यौं मांखी सहतैं नहिं बिहुरैं जोरि जोरि धन कीन्हां।
मूएं पीछै लेहु लेहु करैं भूत रहन क्यूं दीन्हां॥
देहरि लौ बरी नारि संग है आगैं सजन सुहेला।
मरहट लौ सभ लोग कुटुंब भयौ आगैं हंसु अकेला॥
रांम न रमसि मोह कहा माते परहु काल बस कूवा।
कहै कबीर नर आपु बंधायौ ज्यौं ललनीं भ्रमि सूवा॥

८

रांम सुमिरि पछिताइगा।
पापी जियरा लोभ करत है आजु कालि उठि जाइगा॥ टेक॥
लालच लागैं जनम गंवाया माया भरमि भुलाइगा।
धन जोवन का गरब न कीजै कागद ज्यों गरि जाइगा॥
जब जम आइ केस गहि पटकै ता दिन कछु न बसाइगा।
सुमिरन भजन दया नहि कीन्ही तौ मुखि चोटा खाइगा॥
धरमराइ जब लेखा मांगै क्या मुख लै कै जाइगा।
कहत कबीर सुनहु रे संतौ साध सगति तरि जाइगा॥

९

अैसी नगरिया मै केहि बिधि रहनां।
नित उठि कलंक लगावै सहनां॥ टेक॥
एकै कुवां पांच पनिहारी।
एकै लेजु भरै नौ नारी।
फटि गया कुवां बिनसि गई बारी।
बिलग भईं पांचौ पनिहारी॥
कहै कबीर छाड़ि मै मेरा।
उठि गया हाकिम लुटि गया डेरा॥

१०

सतगुरु संग होरी खेलिए।
जातैं जरा मरन भ्रम जाइ॥ टेक॥
ध्यांन जुगति को करि पिचकारी खिमा चलावनहार।
आतम ब्रह्म जो खेलन लागे काया नग्र मझार॥

ग्यांन गली मैं होरी खेलै मची प्रेम की कीच।
लोभ मोह दोऊ कटि [कढ़ि ?] भागे सुनि सुनि सबद अतीत॥
त्रिकुटी महल मैं बाजा बाजै होत छतीसौ राग।
सुरति सखी जहं देखि तमासा सतगुर खेलै फाग॥
सतगुर मिलिया फगुवा दीया पैंड़ा दिया बताइ।
कहै कबीर सोई ततवेता जीवन मुक्ति समाइ॥

११

रस गगन गुफा मैं अजर झरै।
अजपा सुमिरन जाप करै॥ टेक॥
बिनु बाजा झनकार उठै जहं समुझि परै जब ध्यांन धरै।
बिनु चंदा उजियारी बरसै जहं तहं हंसा नजरि परै॥
दसवें द्वारै ताड़ी लागी अलख पुरुख जाकौ ध्यान धरै॥
काल कराल निकटि नहिं आवै कांम क्रोध मद लोभ जरै।
जुगन-जुगन की त्रिखा बुझांनीं करम भरम अघ ब्याधि टरै॥
कहै कबीर सुनौ भाई साधौ अमर होइ कबहूं न मरै॥

१२

वा घर की सुधि कोइ न बतावै जा घर तै जिउ आया हो।
काया छांड़ि चला जब हंसा कहौ न कहां समाया हो॥ टेक॥
धरती अकास पवन नहि पांनीं नहि तब आदी माया हो।
ब्रह्मां बिस्नु महेस नहीं तब जीव कहां तें आया हो॥
मैं मेरी ममता कै कारनि बार बार पछिताया हो।
लखि नहि परै नांम साहेब का फिर फिर भटका खाया हो॥
मेरी प्रीति पीव सौ लागी उलटि निरंजन ध्याया हो।
कहै कबीर सुनौ भाई साधौ बा घर बिरलै पाया हो॥

१३

पंडित बाद बदै सो झूठा।
रांम कहें दुनियां गति पावै खाड़ कहें मुख मीठा॥ टेक॥
पावक कहें पांव जे दाझै जल कहै त्रिखा बुझाई।
भोजन कहें भूख जे भाजै तो सब कोई तिरि जाई॥

नर कै संगि सुवा हरि बोलै हरि परताप न जांनै ।
जौ कबहू उडि जाइ जंगल मै बहुरि सुरति नहि आनै ।।
बिनु देखें बिनु अरस परस बिनु नांम लिएं का होई ।
धन के कहें धनिक जौ होई तौ निरधन रहै न कोई ।।
सांची प्रीति बिखै माया सौं हरि भगतन सौ हांसी ।
कहै कबीर प्रेम नहिं उपजै तौ बांधे जमपुर जासी ।।

१४

आऊंगा न जाऊंगा मरूंगा न जिऊंगा ।
गुर कै साथि अमी रस पिऊंगा ।। टेक ।।
कोई फेरै माला कोई फेरे तसबी । देखौ रे लोगा दोनौं कसबी ।
कोई जावै मक्के कोई जावै कासी । दोऊ कै गलि परि गई पासी ।।
कहत कबीर सुनौ नर लोई । हंम न किसी के न हमरा कोई ।।

साखी

सतगुरु की महिमां अनंत, अनंत किया उपगार ।
लोचन अनंत उघारिया, अनंत दिखावनहार ।। १
गुर गोबिंद तौ एक हैं, दूजा सब आकार ।
आपा मेटै हरि भजै, तब पावै दीदार ।। २
बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न मांनै कोइ ।
रांम बियोगी नां जिअै, जिअै त बउरा होइ ।। ३
हिरदै भीतरि दौ बलै, धुवां न परगट होइ ।
जाके लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ ।। ४
परबति परबति मै फिरा, नैन गंवाया रोइ ।
सो बूटी पाऊं नही, जातै जीवन होइ ।। ५
बिरहिन ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ ।
एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलिहिगे आइ ।। ६
अंखियन तौ झांई परी, पंथ निहारि निहारि ।
जिभ्या मै छाला परा, राम पुकारि पुकारि ।। ७
हंसि हंसि कंत न पाइअै, जिन पाया तिन रोइ ।
हांसी खेलां पिउ मिलै, तौ नही दुहागिनि कोइ ।। ८
कै बिरहिन कौं मीच दै, कै आपा दिखलाइ ।
आठ पहर का दाझनां, मौपै सहा न जाइ ।। ९

नैंनां नीझर लाइया, रहट वहै निस घांम।
पपिहा ज्यौ पिउ पिउ करौं, कब रे मिलहुगे रांम।। १०

तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूं।
वारी तेरे नांउं परि, जित देखौं तित तूं।। ११

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसनां नहिं रांम।
ते नर आइ संसार मैं, उपजि खए बेकांम।। १२

मेरै संगी दोई जनां, एक बैस्नौं एक रांम।
वो है दाता मुकुति का, वो सुमिरावै नांम।। १३

सब घटि मेरा सांइयां, सूनी सेज न कोइ।
भाग तिनहुं का हे सखी, जिहिं घटि परगट होइ।। १४

ऐसा कोई नां मिलै, जासौं रहिए लागि।
सब जग जरता देखिया, अपनी अपनीं आगि।। १५

कबीर कूता रांम का, मुतिया मेरा नांउं।
गले राम की जेवरी, जित खैंचै तित जाउं।। १६

नां कछु किया न करहिंगे, नां करनैं जोग सरीर।
जो कछु किया सु हरि किया, भया कबीर कबीर।। १७

कबीर करनीं क्या करै, जौं रांम न करै सहाइ।
जिहिं जिहिं डारी पग धरौ, सोई नइ-नइ जाइ।। १८

कीयां कछू न होत है, अनकीयां सब होइ।
जौ कीएं ही होत है, तौ करता औरे कोइ।। १९

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
बूंद समांनीं समुंद मैं, सो कत हेरी जाइ।। २०

आया था संसार मैं, देखन कौं बहु रूप।
कहे कबीरा संत हो, परि गया नजरि अनूप।। २१

कबीर मारग कठिन है, मुनि जन बैठे थाकि।
तहां कबीर चलि गया, गहि सतगुर की साखि।। २२

जिसु मरनैं तै जग डरै, सो मेरै आनंद।
कब मरिहौ कब भेटहौं, पूरन परमानंद।। २३

रांम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवन दुलंभ है, मांगै सीस कलाल।। २४

एकै साधें सव सधै, सब साधें सब जाइ ।
उलटि जो सीचै मूल कौ, फूलै फलै अघाइ ॥ २५

मै मैं बड़ी बलाइ है, सकै तौ नीकसि भागि ।
कब लगि राखौ रांम जी, रुई लपेटी आगि ॥ २६

बस्तु कहीं खोजै कही, क्यौं करि आवै हाथि ।
कहै कबीर तब पाइए, जब भेदी लीजै साथि ॥ २७

सबद सबद बहु अंतरा, सार सबद चित देहु ।
जा सबदै साहिब मिलै, सोइ सबद गहि लेहु ॥ २८

जो ऊगै सो आथवै, फूलै सो कुम्हिलाइ ।
जो चुनिया सो ढहि पड़ै, जांमै सो मरि जाइ ॥ २९

मेरा बीर लुहारिया, तूं जिनि जारै मोंहि ।
इक दिन ऐसा होइगा, हौ जारौगी तोहि ॥ ३०

जब गुन कौं गाहक मिलै, तब गुन लाख बिकाइ ।
जब गुन कौ गाहक नहीं, तब कौड़ी बदलै जाइ ॥ ३१

बोली हमरी पूरबी, ताहि न चीन्हैं कोइ ।
हमरी बोली सो लखै, जो पूरब का होइ ॥ ३२

मरतां मरता जग मुवा, मुवै न जांनां कोइ ।
दास कबीरा यौ मुवा, ज्यौ बहुरि न मरनां होइ ॥ ३३

मोंहि मरनै का चाउ है, मरौं त रांम दुआरि ।
मति हरि पूछै कौन है, परा हमारै बारि ॥ ३४

कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास ।
कबीर ऐसा होइ रहा, ज्यों पावां तलि घास ॥ ३५

आपा मेटें हरि मिलै, हरि मेटें सब जाइ ।
अकथ कहांनी प्रेम की, कहें न कोइ पतियाइ ॥ ३६

कबीर दुनिया देहुरै, सीस नवावन जाइ ।
हिरदै भीतरि हरि बसै, तूं ताही सौं ल्यौ लाइ ॥ ३७

काया कजरी बन अहै, मन कुंजर मैंमंत ।
अंकुस ग्यांन रतन है, खेवट बिरला संत ॥ ३८

माया की झलि जग जरै, कनक कांमिनीं लागि ।
कहु धौ किहि बिधि राखिए, रुई लपेटी आगि ॥ ३९

माया मुई न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर।
आसा तृस्नां नां मुई, यौ कहै दास कबीर ॥ ४०
संत न बांधै गाठरी, पेट समाता लेइ।
आगै पाछै हरि खड़ा, जब मागै तब देइ ॥ ४१
भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भांड़ा गढि जिन मुख दिया, सोई पुरवन जोग ॥ ४२
सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिंहि सहजै साहिब मिलै, सहज कहावै सोइ ॥ ४३

रैदास

जन्म— अनिश्चित (कबीर के समकालीन)

मृत्यु—अनिश्चित

स्थान—काशी

पद

१

जिहि कुल साधु बैसनो होइ ।
बरन अबरन रंक नही ईश्वर, बिमल बासु जानिये जग सोइ ।।
बाँभन बैस सूद अरु ख्यत्री डोम चंडाल मलेच्छ किन सोइ ।
होइ पुनीत भगवंत भजन ते आपु तारि तारै कुल दोइ ।।
धनि सु गाउँ धनि धनि सो ठाऊँ, धनि पुनीत कुटंब सभ लोइ ।
जिनि पिया सार रस तजे आन रस होइ रसमगन डारे बिषु खोइ ।।
पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबरि औरु न कोइ ।
जैसे पुरैन पात जल रहै समीप मनि·रविदास जमे जगि ओइ ।।

२

जो दिन आवहि सो दिन जाही ।
करना कूच रहन थिरु नाही ।।
संगु चलत हैं हम भी चलना ।
दूरि गवनु सिर ऊपरि मरना ।।
क्या तू सोया जाग अयाना ।
तै जीवन जगि सचु करि जाना ।।
जिनि दिया सु रिजकु अंबरावै ।
सभ घट भीतरि हाटु चलावै ।।
करि बदिगी छांडि मैं मेरा ।
हिरदै नामु सम्हारि सबेरा ।।
जनमु सिरानो पंथु न सँवारा ।
साँझ परी दह दिसि अँधियारा ।।
कह रविदास नदान दीवांने ।
चेतसि नाही दुनिया फनखाने ।।

३

गाइ गाइ अब का कहि गाऊँ ।
गावनहार को निकट बताऊँ ।।

जब लगि है इहि तन की आसा, तब लगि करै पुकारा।
जब मन मिल्यौ आस नहिं तन की, तब को गावनहारा॥
जब लगि नदी न समुंद्र समावै, तब लगि बढ़ै हुँकारा।
जब मन मिल्यौ रामसागर सौं, तब यह मिटी पुकारा॥
जब लगि भगति मुकति की आसा, परमतत्व सुनि गावै।
जहँ जहँ आस धरत है इहि मन तहँ तहँ कछू न पावै॥
छाँड़ै आस निरास परमपद, तब सुख सति कर होई।
कहि रैदास जासौं और करत है, परमतत्व अब सोई॥

४

राम-भगत को जन न कहाऊँ, सेवा करूँ न दासा।
जोग जग्य गुन कछू न जानूँ, ताते रहूँ उदासा॥
भगत भया तो चढ़ै बड़ाई, जोग करूँ जग मानै।
जो गुन भया तौ कहै गुनी जन, गुनी आपको जानै॥
ना मै ममता मोह न महिया, ये सब जाहि बिलाई।
दोजख भिस्त दोउ सम करि जानूँ, दुहुँ ते तरक है भाई॥
मैं अरु ममता देखि सकल जग, मैं सेमूल गवाँई।
जब मन ममता एक-एक मन, तबहि एक है भाई॥
क्रुस्न करीम राम हरि राघव, जब लगि एक न पेखा।
बेद कितेब कुरान पुरानन, सहज एक नहिं देखा॥
जोइ-जोइ पूजिय सोई-सोई काँची, सहज भाव सति होई।
कहि रैदास मैं ताहि को पूजूँ, जाके ठाँव नाँव नहि होई॥

५

नरहरि, चंचल है मति मेरी, कैसे भगति करूँ मैं तेरी।
तूँ मोहि देखै हौ तोहि देखूँ, प्रीति परस्पर होई॥
तूँ मोहि देखै तोहि न देखूँ, यह मति सब बुधि खोई।
सब घट अन्तर रमसि निरंतर, मैं देखन नहिं जाना॥
गुन सब तोर मोर सब औगुन, कृत उपकार न माना॥
मैं तै तोरि मोरि असमझि सों, कैसे करि निस्तारा।
कहि रैदास क्रुस्न करुनामय, जै जै जगत अधारा॥

६

राम मैं पूजा कहा चढ़ाऊँ। फल अरु फूल अनूप न पाऊँ॥

थनहर दूध जो बछरु जुठारी । पुहुप भँवर जल मीन बिगारी ।।
मलयागिरि बेधियो भुअंगा । विष अंम्रित दोउ एकै संगा ।।
मनही पूजा मनही धूप । मनहीं सेऊँ सहज सरूप ।।
पूजा अरचा न जानूँ तेरी । कहि रैदास कवन गति मेरी ।।

७

मैं वेदनि कासनि आखूँ,
हरि बिन जिव न रहै कस राखूँ ।।
जिव तरसै ल्यौ आसरु तेरा, करहु सँभाल न सुर मुनि मेरा ।।
बिरह तपै तन अधिक जरावै, नीद न आवै भोज न भावै ।।
सखी सहेली गरब गहेली, पिउ की बात न सुनहु सहेली ।
मैं रे दुहागिनि अध करि जानी, गया सो जोवन साध न मानी ।।
तूँ सांई औ साहिब मेरा, खिजमतगार बंदा मै तेरा ।
कहि रैदास अँदेसा येही, बिन दरसन क्यों जिवहि सनेही ।।

८

चल मन, हरि चटसाल पढाऊँ ।
गुरु की साटि ग्यान का अच्छर,
बिसरै तौ सहज समाधि लगाऊँ ।।
प्रेम की पाटी सुरति की लेखनि,
ररौ ममौ लिखि आँक लखाऊँ ।
इहि बिधि मुक्त भये सनकादिक,
रिदै विचार प्रकास दिखाऊँ ।।
कागद कँवल मति मसि करि निर्मल,
बिन रसना निसिदिन गुन गाऊँ ।
कहि रैदास, राम भजु भाई,
संत साखि दे बहुरि न आऊँ ।।

९

मैं का जानूँ देव, मैं का जानूँ ।
मन माया के हाथ बिकानूँ ।।
चंचल मनुवाँ चहूँ दिसि धावै ।
पाँचौं इंद्री थिर न रहावै ।।

तुम तौ आहि जगतगुरु स्वामी।
हम कहियत कलिजुग के कामी ॥
लोक वेद मेरे सुकृत बड़ाई।
लोक लीक मोपै तजी न जाई ॥
इन मिलि मेरा मन जो बिगार्यो।
दिन दिन हरि सों अतर पार्यो ॥
सनक सनंदन महामुनि ग्यानी।
सुख नारद अरु ब्यास बखानी ॥
गावत निगम उमापति स्वामी।
सेस सहसमुख कीरति गामी ॥

१०

जहँ जाऊँ तहँ दुख की रासी।
जो न पतियाई साधु है साखी ॥
जमदूतन बहु विधि करि मार्यो।
तऊ निलज अजहूँ नहि हार्यो ॥
हरिपद बिमुख आस नहिं छूटै।
ताते तृस्ना दिन दिन लूटै ॥
बहु बिधि करम लिये भटकावै।
तुम्हें दोष हरि कौन लगावै ॥
केवल राम नाम नहि लीया।
संतत विषय स्वाद चित दीया ॥
कहि रैदास कहाँ लगि कहिये।
बिन रघुनाथ बहुत दुख सहिये ॥

११

अब कैसे छूटे नामरट लागी।
प्रभुजी तुम चंदन हम पानी। जाकी अंग अँग बास समानी ॥
प्रभुजी तुम घन बन हम मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा ॥
प्रभुजी तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहि मिलत सुहागा ॥
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥

नानक

जन्म— वैशाख शुक्ल ३, १५२६ वि०
मृत्यु— आश्विन शुक्ल १, १५९५ वि०
जन्म-स्थान— तलवंडी गाँव (पंजाब)

पद

१

बरसु घना मेरा मनु मीना।
अमृत बूँद सुहानी हियरै गुरि मोहि मनु हरि रसि लीना।।
सहजि सुखी वर कामणि पियारी जिसु गुरवचनी मनु मानिआ।
हरि वरि नारी भई सोहागणि, मनि तनि प्रेम सुखानिआ।।
अवगण तिआगि भई बैरागनि असथिरु वरु सोहागु हरी।
सोगु विजोगु तिसु कदे न विआपै, हरि प्रभु अपणी किरपा करी।।
आवण जाण नही मुन निहचलु पूरे गुर की ओट गही।
नानक रामनामु जपि गुरमुखि धनु सोहागणि साच् सही।।

२

गगन मै थालु रवि चदु दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती।
धूपु मलआनलो पवणू चवरो करे सगल बनराइ फूलंत जोती।।
कैसी आरती होइ भवखंडना तेरी आरती। अनहता सबद वाजंत भेरी।
सहस तव नैन नन नैन हहि तोहि कउ सहस मूरति क्षण नना एक तोही।।
सहस पद बिमल नन एक पद गंध बिनु सहस तव गध इव चलत मोही।।
सभ महि जोति जोति है सोई। तिसदै चानणु सभ महि चानणु होइ।।
गुर साखी जोती परगटु होइ। जो तिसु भावै सु आरती होइ।।
हरि चरण कमल मकरंद लोभित मनो अनदिनो मोहि आही पिआसा।।
कृपाजलु देहि नानक सारिग कउ होइ जाते तेरै नाइ वासा।।

३

हिरदै नामु सरब धनु धारणु गुरु परसादी पाईऐ।
अमर पदारथ ते किरतारथ सहज धिआनि लिव लाईऐ।।
मन रे, राम भगति चितु लाईऐ।
गुरुमुखि राम नाम जपि हिरदै सहज सेती घटि जाईऐ।।
मरम भेद भउ कबहु न छूटसि आवत जात न जानी।
बिनु हरिनाम कोउ मुकति न पावसि डूबि मुए बिनु पानी।।

धंधा करत सकलि पति खोवसि भरमु न मिटसि गवारा ।
बिनु गुरु सबद मुकति नहीं कबही अँधुले धंधु पसारा ।।
अकल निरंजन सिउ मनु मानिआ मन ही ते मनु मूआ ।
अंतरि बाहरि एको जानिआ नानक अवरु न दूआ ।।

४

राम नाम बिनु बिरथे जगि जनमा ।
बिखु खावै बिखु बोलै बिनु नावै निहफलु मटि भ्रमना ।।
पुसतक पाठ व्याकरण बखाणै संधिआ करम तिकाल करै ।
बिनु गुरसबद मुकति कहा प्राणी राम नाम बिनु अरुझि मरै ।।
डंड कमंडल सिखा सूत धोती तीरथ गवनु अति भ्रमनु करै ।
रामनाम बिनु सांति न आवै जपि हरि हरि नाम सु पारि परै ।।
जटा मुकटु तन भसम लगाई वसत्र छोड़ि तन नगन भइआ ।
जेते जीअ जंत जल थल महीअल जत्र तत्र तू सरब जीआ ।।
गुरु परसादि राखिले जन कोउ हरिरस नानक झोलि पीआ ।

दादू

जन्म—संवत् १६०१

मृत्यु—संवत् १६६०

स्थान—अहमदाबाद

साखी

सबद दूध घृत रामरस, कोइ साधु बिलोवण हार।
दादू अँमृत काढिले, गुरमुखि गहै बिचार।। १
घीव दूध मै रमि रह्या, व्यापक सबही ठौर।
दादू बकता बहुत है, मथिकाढै तें और।। २
ना घरि रह्या न बनि गया, ना कुछ किया कलेस।
दादू मन हीं मन मिल्या, सतगुर के उपदेस।। ३
घरि घरि घट कोल्हू चलै, अमी महारस जाइ।
दादू गुर के ग्यान बिन, बिखै हलाहल खाइ।। ४
दादू सब जग नीधना, धनवंता नहि कोइ।
सो धनवंता जाणिये, जाकै रांमपदारथ होइ।। ५
दादू इस संसार में, मुझसा दुखी न कोइ।
पीव मिलन के कारणै, मै जग मरिया रोइ।। ६
दादू इस हिवड़े ये साल, पिव बिन क्योहि न जाइसी।
जब देखौं मेरा लाल, तब रोम रोम सुख आइसी।। ७
हम कसिये क्यो होयगा, बिड़द तुम्हारा जाइ।
पीछे ही पछताहुगे, ता थें प्रगटहु आइ।। ८
ग्यान ध्यान सब छाड़ि दे, जप तप साधन जोग।
दादू बिरहा लै रहै, छाड़ि सकल रसभोग।। ९
अंदरि पीड़ न ऊभरै, बाहरि करै पुकार।
दादू सो क्यौकरि लहै, साहिब का दीदार।। १०
दादू पाती प्रेम की, बिरला बाँचै कोइ।
वेद पुरान पुस्तक पढ़ै, प्रेम बिना क्या होइ।। ११
प्रीति जु मेरे पीव की, पैठी पिंजर मांहि।
रोम रोम पिव पिब करै, दादू दूसर नाहिं।। १२
जहाँ रांम तहँ मै नहीं, मैं तहँ नाहीं राम।
दादू महल बारीक है, द्वै कौ नाहीं ठाम।। १३

दादू देही मांहै दोइ दिल, इक खाकी इक नूर।
खाकी दिल सूझै नहीं, नूरी मांझ हजूर ॥ १४
सून्यहि मारग आइया, सून्यहि मारग जाइ।
चेतन पैंडा सुरति का, दादू रहु ल्यौ लाइ ॥ १५
दादू गावै सुरति सौं, बाणी बाजै ताल।
यहु मन नाचै प्रेम सौ, आगै दीनदयाल ॥ १६
साहिब का दर छाड़ि करि, सेवग कही न जाइ।
दादू बैठा मूल गहि, डालौं फिरै बलाइ ॥ १७
मांखण मन पाहण भया, मायारस पीया।
पाहण मन माखण भया, रांमरस लीया ॥ १८
दादू माया चेरी सन्त की, दासी उस दरिबारि।
ठकुराणी सब जगत की, तीन्यू लोक मंझारि ॥ १९
सो काफिर जे बोलै काफ, दिल अपणा नहि राखै साफ।
साई को पहचानै नाही, कूड़ कपट सब उनहीं माही ॥ २०
सो मोमिन मोमदिल होइ, सांई को पहचानै सोइ।
जोर न करै, हराम न खाइ, सो मोमिन मिसत मै जाइ ॥ २१
दादू काया महल मैं निमाज गुजारूँ, तहं और न आवन पावै।
मन मणके करि तसबी फेरूँ, तब साहिब के मन भावै ॥ २२
कागद काले करि मुये, केते वेद पुरान।
एकै अखिर पीव का, दादू पढ़ै सुजान ॥ २३
कबीर बिचारा कह गया, बहुत भांति समझाइ।
दादू दुनिया बावरी, ताके संगि न जाइ ॥ २४
जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बात।
सबै साधौं का एकमत, बिच के बारह बाट ॥ २५
साध नदी, जल रांमरस, तहाँ पखालै अंग।
दादू निर्मल, मल गया, साधूजन के संग ॥ २६
दादू इस संसार मैं, ये द्वै रतन अमोल।
इक साईं अरु संतजन, इनका मोल न तोल ॥ २७
दादू ना हम हिन्दू होहिंगे, ना हम मुसलमान।
षट दर्सन मैं हम नहीं, हम राते रहिमान ॥ २८
दादू करणी हिन्दू तुरक की, अपणी अपणी ठौर।
दुहुँ बिचि मारग साध का, यहु संतौ की रह और ॥ २९
यहु मसीति यहु देहुरा, सतगुर दिया दिखाइ।
भीतरि सेवा बंदिगी, बाहरि काहे जाइ ॥ ३०

जे था कंत कबीर का, सोई बर बरिहूँ ।
मनसा बाचा कर्मना, मै और न करिहूँ ॥ ३१
दादू मेरा बैरी मै मुवा, मुझे न मारै कोई ।
मैं ही मुझकौ मारता, मै मरजीवा होई ॥ ३२
दादू तौ तूं पावै पीव कौ, जे जीवत मृतक होई ।
आप गँवाये पिव मिलै, जानत है सब कोई ॥ ३३
मेरे आगै मै खड़ा, तौयं रह्या लुकाइ ।
दादू परगट पीव है, जे यहु आपा जाइ ॥ ३४
दादू यहु घट काचा जल भर्‌या, बिनसत नाही बार ।
यहु घट फूटा जल गया, समझत नही गंवार ॥ ३५
अविनासी कै आसरै, अजरावर की ओट ।
दादू सरणै साच कै, कदे न लागै चोट ॥ ३६
सब हम देख्या सोधि करि, दूजा नाही आन ।
सब घट एकै आत्मा, क्या हिन्दू मूसलमान ॥ ३७
किससौ बैरी है रह्या, दूजा कोई नाहि ।
जिसके अंग थै ऊपजै, सोई है सब मांहि ॥ ३८
काहेकौ दुख दीजिये, सांई है सब मांहि ।
दादू एकै आत्मा, दूजा कोई नाहि ॥ ३९
दादू निदक बपुरा जिनि मरै, पर उपगारी सोइ ।
हमकूं करता ऊजला, आपण मैला होइ ॥ ४०
तिल तिल का अपराधी तेरा, रती रती का चोर ।
पल पल का मैं गुनही तेरा, बकसहु औगुण मोर ॥ ४१
जिनकी रख्या तूं करै, तै उबरे करतार ।
जे तै छाड़े हाथथैं, ते डूबे संसार ॥ ४२
खुसी तुम्हारी त्यूं करौ, हम तो मानी हारि ।
भावै बन्दा बकसिये, भावै गहि करि मारि ॥ ४३

सुन्दरदास

जन्म— संवत् १६५३

मृत्यु— संवत् १७४६

स्थान— धौसा (जयपुर राज्य)

सवैया

१

प्रेम लग्यौ परमेश्वर सौं, तब भूलि गयौ सब ही घरबारा।
ज्यौं उनमत्त फिरै जित ही तित, नैंकु रही न शरीर संभारा।।
स्वास उस्वास उठै सब रोम, चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करे नवधा विधि, छाकि पर्‌यौ रस पी मतवारा।।

२

पेटहि कारण जीव हतै बहु पेटहि मांस भखै रु सुरापी।
पेटहि लैकरि चोरी करावत पेटहि कौं गठरी गहि कापी।।
पेटहि पासि गरे महि डारत पेटहि डारत कूपहु बापी।
सुन्दर काहे कौं पेट दियौ प्रभु, पेट सौ और नही कोउ पापी।।

३

आपुन काज संवारन के हित और कौ काज बिगारत जाई।
आपुन कारज होउ न होउ बुरौ करि और कौ डारत भाई।।
आपुहु खोजत औरहु खोवत खोइ दुवों घर देत बहाई।
सुन्दर देखत हो बनि आवत दुष्ट करै नहिं कौन बुराई।।

४

गेह तज्यौ अरु नेह तज्यौ पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेघ सहे सिर सीत सह्‌यौ तनु धूप समै जु पंचागनि बारी।।
भूख सही रहि रूख तरै परि सुन्दरदास सहे दुख भारी।
डासन छाड़िकै कांसन ऊपर आसन मार्‌यौ पै आस न मारी।।

५

जौ मन नारि की वोर निहारत तौ मन होत है ताहिकौ रूपा।
जौ मन काहु सौ क्रोध करै जब क्रोधमई होइ जात तद्रूपा।

जौ मन माया हि माया रटै नित तौ मन बूड़त माया के कूपा।
सुन्दर जौ मन ब्रह्म विचारत तौ मन होत है ब्रह्मस्वरूपा ।।

६

होइ अनन्य भजै भगवंतहि और कछू उर मै नहि राखै।
देविय देव जहाँ लग है डरिकै तिनसौं कहु दीन न भाखै ।।
योगहु यज्ञ व्रतादि क्रिया तिनकौं नहि तौ सुपनैं अभिलाखै।
सुन्दर अंमृत पान कियौ तब तौ कहि कौन हलाहल चाखै ।।

७

सोवत सोवत सोइ गयौ सठ रोवत रोवत कै बर रोयौ।
गोवन गोवत गोइ धर्‌यौ धन खोवत खोवत तै सब खोयौ ।।
जोवत जोवत बीति गये दिन बोवत बोवत लै विष बोयौ।
सुन्दर सुन्दर राम भज्यौ नहि ढोवत ढोवत बोझहि ढोयौ ।।

८

जासौं कहूँ, सब मै वह एक तौ सो कहै, कैसो है, आँखि दिखइये।
जौ कहूँ रूप न रेख तिसै कहै कैसो है, आँखि दिखइये ।।
जौ कहूं सुन्दर नैंननि मांझि तौ नैनहूं बैन गये पुनि हइये।
क्या कहिये कहते न बनै कछु जो कहिये कहते ही लजइये ।।

९

प्रीति की रीति नहीं कछु राखत जाति न पांति नहीं कुल गारौ।
प्रेम कै नेम कहूं नहि दीसत लाज न कानि लग्यौ सब खारौ ।।
लीन भयौ हरि सौ अभिअंतर आठहु जाम रहै मतवारौ।
सुन्दर कोउ न जानि सकै यह गोकुल गाँव कौ पैंडो ही न्यारौ ।।

पद

१

हमारै गुरु दीनी एक जरी।
कहा कहौ कछु कहत न आवै, अंमृत रसहि भरी ।।

ताकौ मरम संतजन जानत, वस्तु अमोल परी।
यातें मोहि पियारी लागति, लैकरि सीस धरी ॥
मन-भुजंग अरु पंच नागनी, सूंघत तुरत मरी।
डायनि एक खात सब जग कौ, सो भी देख डरी ॥
त्रिविध त्रिकार ताप तनि भागी, दुरमति सकल हरी।
ताकौ गुन सुनि मीच पलाई, और कवन बपुरी ॥
निसबासर नहि ताहि बिसारत, पल छिन आध घरी।
सुन्दरदास भयौ घट निरविष, सबही ब्याधि टरी ॥

२

लगा मोहि राम पियारा हो।
प्रीति तजी संसार सौं, मन किया नियारा हो ॥
सतगुरु शब्द सुनाइया, दिया ज्ञान बिचारा हो।
भरम तिमर भागै सबै, महि कीया उजियारा हो ॥
चाखि चाखि सब छाड़िया, भाया रस खारा हो।
नाम सुधारस पीजिये, छिन बारम्बारा हो ॥
मै बन्दा हौ ब्रह्म का, जाका बार न पारा हो।
ताहि भजै कोइ साधवा, जिनि तन मन मारा हो ॥
आन देव कौ ध्यावई, ताकै मुख छारा हो।
अलख निरंजन ऊपरै, जस सुन्दर बारा हो ॥

३

आजु मेरे गृह सतगुरु आये।
भरम करम की निसा बितीती, भोर भयौ रवि प्रगट दिखाये ॥
अति आनन्दकन्द सुखसागर, दरसन देखत नैन सिराये।
प्रफुलित कमल अंग सब पुलकित, प्रेम सहित मन मंगल गाये ॥
बचन सुनत सबही दुख भागे, जागे भाग चरन सिर लाये।
सुन्दर सुफल भयौ सबही तनु, जन्म जन्म के पाप नसाये ॥

४

तेल जरै बाती जरै, दीपक जरै न कोइ।
दीपक जरता सब कहै, भारी अचरज होइ ॥

भारी अचरज होइ, जरै लकरी अरु घासा।
अग्नि जरत सब कहैं, होइ यह बड़ा तमासा॥
सुन्दर आतम अजर, जरै यह देह बिजाती।
दीपक जरै न कोइ, जरत है तेल रु बाती॥

५

पिय कै बिरह वियोग भई हूं बावरी।
शीतल मंद सुगंध सुहात न बावरी॥
अब मुहि दोष न कोइ परौगी बावरी।
(परि हां) सुन्दर चहूं दिश बिरह सुघेरी बावरी॥
पिय नैननि की वोर सैन मुहि दे हरी।
फेरि न आये द्वार न मेरी देहरी॥
बिरह सु अंदर पैठि जरावत देह री।
(परि हां) सुन्दर बिरहनि दुखित सीख का देह री॥
दूभर रैनि बिहाय अकेली सेजरी।
जिनकै संगि न पीव बिरहनी से जरी॥
बिरहै संकल बाहि बिचारी से जरी।
(हरि हां) सुन्दर दुख आपार न पाऊं से जरी॥

कवित्त

१

काहू सौं न रोष तोष काहू सौं न राग दोष,
काहू सौ न बैरभाव काहू की न घात है।
काहू सौ न बकवाद काहू सौ नही बिषाद,
काहू सौं न संग न तौ कोउ पक्षपात है।
काहू सौ न दुष्ट बैन काहू सौ न लैन दैन,
ब्रह्म कौ बिचार कछू और न सुहात है।
सुन्दर कहत सोई ईशनि को महाईश,
सो गुरदेव जाकै दूसरी न बात है॥

२

मेरौ देह मेरौ गेह मेरौ परिवार सब,
मेरौ धन माल मैं तौ बहुबिधि भारौ हौ।

मेरौ सब सेवक हुकुम कोउ मेटै नांहि,
मेरी जुवती कौ मै तौ अधिक पियारौ हौ।
मेरौ बंश ऊंचौ मेरे बाप दादा ऐसे भये,
करत बडाई मैं तौ जगत उज्यारौ हौ।
सुन्दर कहत, मेरौ मेरौ करि जानै सठ,
ऐसी नहि जानै मैं तौ काल ही कौ चारौ हौ॥

दोहा

सुन्दर अंदर पैसिकरि, दिल मौं गोता मारि।
तौ दिल ही मौ पाइये, सांई सिरजनहार॥ १
सुन्दर या संसार तें, काहि न निकसत भागि।
सुख सोवत क्यो बावरे, घर में लागी आगि॥ २
नखसिख देह लगै भली, सुन्दर अधिक स्वरूप।
चेतनि हीरा चलि गयौ, भयौ अंधेराघूप॥ ३
सुन्दर दुष्ट स्वभाव है, औगुन देखै आइ।
जैसै कीरी महल मै, छिद्र ताकती जाइ॥ ४
मन ही बडौ कपूत है, मन ही महा सपूत।
सुन्दर जौ मन थिर रहै, तौ मन ही अवधूत॥ ५
जब मन देखै जगत कौ, जगतरूप ह्वै जाइ।
सुन्दर देखै ब्रह्म कौ, तब मन बहम समाइ॥ ६
लोन पूतरी उदधि मैं, थाह लेन कौं जाइ।
सुन्दर थाह न पाइये, बिचिही गई बिलाइ॥ ७
सुन्दर जाकै बित्त है, सो वह राखै गोइ।
कौड़ी फिरै उछालतौ, जो टटपूंज्यौ होइ॥ ८
गज अलि मीन पतग मृग, इक इक दोष विनाश।
जाकै तन पचौ बसै, ताकी कैसी आश॥ ९
बहै जात संसार मै, सदगुरु पकडे केश।
सुन्दर काढे डूबते, दै अदभुत उपदेश॥ १०
मेरी मेरी करत है, देखहु नर की भोल।
फिरि पीछे पछिताहुगु [सु] हरि बोलो हरि बोल॥ ११
तेरौ तेरे पास हे, अपनै माहिं टटोल।
राई घटै ना तिल बढ़ै, [सु] हरि बोलो हरि बोल॥ १२

राम नाम पीयूष तजि, बिष पीवै मतिहीन।
सुन्दर डोलै भटकते, जन जन आगे दीन।। १३
सुन्दर सुरति समेटि कै, सुमरिन सौ लै लीन।
मन बच क्रम करि होत हैं, हरि ताके आधीन।। १४
मारग जोवै विरहनी, चितवै पिय की वोर।
सुन्दर जियरै जक नही, कल न परत निसभोर।। १५
मन मुक्ति के पौरिया, तिनसौ करिये प्यार।
कूंजी उनकै हाथ है, सुन्दर खोलहि द्वार।। १६
सुखदाई सीतल हृदय, देखत सीतल नैन।
सुन्दर ऐसे संतजन, बोलत अंमृत बैन।। १७

दरिया साहब

जन्म— सं० १७३१
मृत्यु—सं० १८३७, भाद्र कृ० ४
स्थान—धरकंधा (जि० शाहाबाद)

प्रेम-मूला

प्रेम कंवल जल भीतरै, प्रेम भंवर लै बास।
होत प्रात सूपट खुलै, भान तेज परगास॥ १

जैसे म्रिगा नाद लव लाई, सुनत स्त्रवन धुनि प्रेम समाई।
प्रेम बसी होय प्रानहि दीन्हा, सन्मुख जीव हाथ कै लीन्हा।
जब लगि प्रेम दिआ नहि बरई, भवन कूप अँधियारा परई।
बिना प्रेम नर जमपुर जावे, होए प्रेम अम्रित फल पावे।

प्रेम प्रीत करु नाम से, भौ जल जाय न हारि।
बिना प्रेम नहि भगति है, कंवल सुखे बिनु बारि॥ २

जल में कुमुदिनि चंद अकासा, ऐसो प्रेम प्रीति परगासा।
चात्रिक प्रीति स्वातिही लागा, जीवन जन्म सो भयउ सुभागा।
ज्यों टेक चित चात्रिक राखा, बारिसु बूंद अम्रित रस चाखा।
जैसे कनक सोहागा गासा, ऐसे प्रेम पुर्ख के पासा।
चकोर प्रीति पावक से कीन्हा, चुंगत अगिनि प्रेम रस भीना।
नैन सोइ जेहि प्रेम समाना, बिना प्रेम है सील पाषाना।
बिना प्रेम नैना है खाली, बिना बाटिका जैसे माली।
बिना प्रेम मानुष है कैसा, मधु काढ़ी छारै मुख जैसा।
बिना प्रेम जन गावै कोई, भाट भांड गनिका मत वोई।
प्रेम पंथ पगु दीन्हो जानी, अब तो दोसरि होए न आनी।
लोकै लाज सकल कुल गारी, तोरि डारि सब जग परचारी।
तोरै नाता जाति का, (जन) निजु पुर पहुँचै जाए।
आपे बूझे प्रेम' है, निरखि नाम निजु पाए॥ ३

प्रेम पतग दीपक महं हूला, तन सभ जरिगो लागु न सूला।
साहस नारि करै पिय लागी, भसम भया तन देखत आगी।
प्रेम प्रकास अगिनि नहि जाना, भया प्रेम जनु चढ़ी बिवाना।

प्रेम मारग बांको बड़ो, समुझि चढ़े कोइ जानि।
ज्यों खांडो की धार है, सतगुर कहा बखानि॥ ४

तपै धूप जो बास अमाना, धरती प्रेम जो रहा समाना।
जल लै पवन चढ़ा असमाना, बारिस बुन्द धरती पर आना।

जनमि अंकुर जिमि बहुत सोहाई, (चहुँ) दिस गुलजार रहा जो छाई।
जैसे पवन जौ जलहि उड़ावै, ऐसे सब्द जीव मुकुतावै।
अब कहौं कपूर की खानी, एई भेद बिरला केहु जानी।
यह केदली बिनु लाए जो लागै, अपनी सुरती से वह जागै।
फल फूल कबही नाहि होई, वह केदली बहुधा नहि सोई।
नव कोपर सुरवाति जो आना, केदली भाग जो आए तुलाना।
वोहि अवसर स्वाती भरि लाई, पहिला बुंद परा जो आई।
मास एक महं गोटा बंधाना, कपुर बास जो आए तुलाना।
पारखि जन निकालि ले आवै, हाट माहं ले सभहि देखावै।
कोइ केदली नाहि करै बखाना, नाम कपूर सभै कोइ जाना।
बहुत सेत ज्यों सुबुग सोहाई, बहुत जतन कै राखहि जाई।
सेवाती तो गुर भए, केदलि काया बंधान।
नाम सजीवनि प्रेम रस, मिला सो निर्मल ज्ञान ॥ ५
प्रथमहि दूध सबै कोइ जाना, दूध मे बास जो रहा समाना।
पावक पर अच्छा जो कीन्हा, ठंढा करि जोरन तब दीन्हा।
जोरन जावन देइ के, दही भया सब थीर।
बास बिमल तब पाइये, मथनी मथो सरीर ॥ ६
ज्यों लगि प्रेम जुक्ति नहि होई, तब लगि बास पावै नाहि कोई।
है खुसबोई घट महं भाई, मथो प्रेम बासना पाई।
छीर करु छिमा दया करु दही, मन मथनी महि घ्रित सो अही।
सील संतोष खंभ करु भाई, सुरति निरति का नेता लाई।
तनु करु मटुकि प्रेम करु पानी, निकले घ्रित सुबास बखानी।
करमहि जीव मलिन जो कीन्हा, सत्त बिना ब्रह्म भौं छीन्हा।
पारस प्रेम जो मइलि कटाई, सतगुर सब्द खोजो चित लाई।
आगे द्रिस्टि गगन के धावै, खोजै प्रेम मुक्ति फल पावै।
देखत झरि तहां बहुत सोहाई, परिमल अग्र बास तहां पाई।
बिना प्रेम नाहि फूलै बारी, सीचत जल फूला फुलवारी।
तिल पर फूल जो दिया बिछाई, धैंचि बासना तिलहि समाई।
तिल को तेल फुलेल भयो, मेटा तिल का नावं।
सतगुर नाम समानेओ, बसेउ अमरपुर गावं ॥ ७
स्वाती को जल पारस लीन्हा, भ्रिंगी प्रेम जुक्ति जो कीन्हा।
कीट कै पंख तोरि कै लीन्हा, घर अंधियार बैठ का कीन्हा।
मुख सो पारस मुख में दीन्हा, सात रोज में भ्रिंगी कीन्हा।
कीट के गुरु भ्रिगा कीन्हा, मानुख के गुरु सतगुरु चीन्हा।

सहस्र वर्ष भुअग बिषि पासा, मानुख पाव कबहि नाहि ग्रासा।
जोग जुक्ति सूरज कह बिनवै, त्रिमिरि छूटि जवै भी दिनवै।
बिषि मे मानि जलाजल भएऊ, स्वाती को बुंद अम्रित पएऊ।
मिटिगो बिषि मनि उपजी आई, भयो सिद्ध तन तपत बुझाई।
ज्ञान जुक्ति प्रेम है मुक्ता, पाप पुन्य कबही नहि जुक्ता।
कह दरिया सतगुर खोजो, (सत) सब्दहि करो विचार।
अब गुर सस्ता जक्त मे, निरमल मिला ना सार॥ ८

परा बुंद मस्तक पर आई, बिन चुंगल कांजी होए जाई।
चुंगल चोच मस्तक पर दीन्हा, छुअत जल भीतर को लीन्हा।
उपजै मुक्ता निरमल सारा, चुंगल पारस भेद निनारा।
सतगुरु प्रेम प्रीति निज भेदा, तबहि ज्ञान निजु करौ निखेदा।
सीप आस सेवातिही लाई, बिनु पारस मोती नहि पाई।
वरसि बूंद स्वातीही दीन्हा, सुपट खोलि इच्छा भरि लीन्हा।
ऐसो मोती सिरजनहारा, सतगुरु खोजहु ज्ञान बिचारा।
हीरानख पंछी है नाऊँ, अस्ट सिला परबत के ठांऊँ।
स्वाती जवै बरिस गो पानी, पंछी सो जल पिवै बखानी।
हीरा उपजै मनि उजियारा, बूझो पण्डित करो बिचारा।
हीरा तो हंसा भए, पंछी सकल सरीर।
सत्त नाम के जानके, भया हिरंमर थीर॥ ९

जाके प्रेम बसे दिन राती, सो जन कबहि ना परै कुभाती।
विचलै काम चलै तब हारी, दीन्हो पगु टारत नाहि टारी।
सुन राजा कै मधुरी बानी, रोए रोए कहै मोह की रानी।
आठो अंग ढील के लीन्हा, नैन रोदन बहुतै जो कीन्हा।
वासों ज्ञान कहब समुझाई, कों हम को तुम्ह कहँवाँ आई।
का कर नाती पूत परिवारा, झुठी बनीजी करै संसारा।
तब मोहनी मुख अंचल दीन्हा, सकुचै बैन बोलै तब लीन्हा।
धन्य सोई जिहि खसमहि जाना, धन्य सोई सत बरतहि ठाना।
राड करै मरद कै साजा, निस दिन औगुन होत अकाजा।
बिपरिति देखै औगुन होई, वाके संग बसै जनि कोई।
बैठु सभा महं सो कुलहीनी, बेस्वा की गति ता कर चीन्हा।
भगती करै ग्रिही में रहई, अपना स्वामी से सुख लहई।
त्रिया भवन बिच भगति है, रहे पिया के पास।
मन उदास नहिं चाहिए, चरन कवल की आस॥ १०

पद

१

अबरी के बार बकसु मोरे साहब। तुम लायक सब जोग, हे ।।
गून बकसिहौ सब भ्रम नसिहौ। रखिहौ आपन पास, हे ।।
अछै-बिरछि तर लै बैठेहौ। तहवाँ धूप न छाँह, हे ।।
चाँद न सुरज दिवस नहि तहवाँ। नहि निसु होत बिहान, हे ।।
अमृत फल मुख चाखन दैहौ। सेज सुगन्ध सुहाय, हे ।।
जुग जुग अचल अमर पद दैहौ। इतना अरज हमार, हे ।।
भवसागर दुख दारुन मिटिहै। छुटि जैहे कुल परिवार, हे ।।
कह दरिया यह मंगल मूल। अनूप फुलैला जहाँ फूल, हे ।।

२

विहंगम, कौन दिसा उडि जैहो।
नाम विहूना सो परहीना भरमि भरमि भौ रहिहौ ।।
गुरु निन्दक बद सत के द्रोही निन्दै जनम गँवैहौ ।।
पर दारा पर सग परस्पर कहहु कौन गुन लहिहौ ।।
मद पी माति मदन तन ब्यापेउ अमृत तजि विष खैहौ।
समझहु नहि वा दिन की बाते पल पल घात लगैहौ ।।
चरन कँवल बिनु सो नर बूड़ेउ उभि चुभि थाह न पैहौ।
कहै दरिया सतनाम भजन बिनु रोइ रोइ जनम गँवैहौ ।।

३

मैं कुलवंती खसम-पियारी। जाँचत तू लै दीपक बारी ।।
गंध सुगंध थार भरि लीन्हा। चंदन चर्चित आरति कीन्हा ।।
फूलन सेज सुगंध बिछायौं। आपन पिया पलँग पौढ़ायौ ।।
सेवत चरन रैनि गइ बीती। प्रेम प्रीति तुमही सो रीती ।।
कह दरिया ऐसो चित लागा। भई सुलछनि प्रेम अनुरागा ।।

दोहा

बारिधि अगम अथाह जल, बोहित बिनु किमि पार।
कनहरिया 'गुरु ना' मिला, बूड़त है मँझधार ।। १

दरिया तन से नहि जुदा, सब कुछ तन के माँहिं ।।
जोग-जुगति सों पाइये, बिना जुगति किछु नाहि ।। २
दरिया दिल दरियाव है, अगम अपार बेअंत ।
सब मँह तुम, तुममे सभे, जानि मरम कोइ संत ।। ३
दरिया भवजल अगम अति, सतगुरु करहु जहाज ।
तेहि पर हंस चढाइ कै, जाइ करहु सुख राज ।। ४
जंगम जोगी सेवडा, पडे काल के हाथ ।
कह दरिया सोइ बाचिहै, सत्त नाम के साथ ।। ५
भजन भरोसा एक बल, एक आस विस्वास ।
प्रीति प्रतीति इक नाम पर, सोइ सत विवेकी दास ।। ६

प्रेमाख्यान-काव्य

१. जायसी
२. मंझन

जायसी

जन्म—— सं० १५२० (लगभग)
मृत्यु—— सं० १६०० (लगभग)
स्थान—— जायस

नागमती (वियोग-खण्ड)

१

नागमती चितउर पँथ हेरा। पिउ जो गए फिरि कीन्ह न फेरा ।।
नागरि नारि काहु बस परा। तेइँ बिमोहि मो सौ चितु हरा ।।
सुवा काल होइ लैगा पीऊ। पिउ नहिं लेत लेत बरु जीऊ ।।
भएउ नरायन बावन करा। राज करत बलि राजा छरा ।।
करन बान लीन्हेउ कै छंदू। भारथ भएउ भिलमिल आनंदू ।।
मानत भोग गोपीचँद भोगी। ले उपसवा जलंधर जोगी ।।
लेइ कान्हहि भा अकरुर अलोपी। कठिन बिछोउ जिअहि किमि गोपी ।।

सारस जोरी किमि हरी, मारि गएउ किन खग्गि ।।
झुरि झुरि पाँजरि धनि भई, बिरह कै लागी अग्गि ।।

२

पिउ बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा तस बोलै पिउ पीऊ ।।
अधिक काम दगधै सो रामा। हरि जिउ लै सो गएउ पिय नामा ।।
बिरह बान तस लाग न डोली। रकत पसीजि भीजि तन चोली ।।
सखि हिय हेरि हार मैन मारी। हहरि परान तजै अब नारी ।।
खिन एक आव पेट महँ स्वाँसा। खिनहि जाइ सब होइ निरासा ।।
पौनु डोलावहि सीचहि चोला। पहरक समुझि नारि मुख बोला ।।
प्रान पयान होत केइँ राखा। को मिलाव चात्रिक कै भाखा ।।

आह जो मारी बिरह की, आगि उठी तेहि हाँक।
हस जो रहा सरीर महँ, पाँख जरे तन थाक ।।

३

पाट महादेइ हिएँ न हारु। समुझि जीउ चित चेतु सँभारु ।।
भँवर कँवल सँग होइ न परावा। सँवरि नेह मालति पहँ आवा ।।
पीउ सेवाति सौ जैस पिरीती। टेकु पियास बाँधु जिय थीती ।।
धरती जैस गँगन के नेहा। पलटि भरै बरखा रितु मेहा ।।
पुनि बसंत रितु आव नवेली। सो रस सो मधुकर सो बेली ।।

जनि अस जीउ करसि तूँ नारी । दहि तरिवर पुनि उठहि सँभारी ।।
दिन दस जल सूखा का नंसा । पुनि सोइ सरवर सोई हंसा ।।
मिलहि जो बिछुरै साजना, गहि-गहि भेंट गहंत ।
तपनि मिरगिसिरा जे सहहिं अदरा ते पलुहंत ।।

४

चढ़ा असाढ़ गँगन घन गाजा । साजा बिरह दुंद दल बाजा ।।
धूम स्याम धौरे घन धाए । सेत धुजा बगु पाँति देखाए ।।
खरग बीजु चमकै चहुँ औरा । बुंद बान बरिसै घन घोरा ।।
अद्रा लाग बीज भुइँ लेई । मोहि पिय बिनु को आदर देई ।।
ओनै घटा आई चहुँ फेरी । कंत उबारु मदन हौ घेरी ।।
दादुर मोर कोकिला पीऊ । करहि बेझ घट रहै न जीऊ ।।
पुख नछत्र सिर ऊपर आवा । हौ बिनु नाँह मँदिर को छावा ।।
जिन्ह घर कंता ते सुखी तिन्ह गारौ तिन्ह गर्ब ।
कंत पियारा बाहिरें हम सुख भूला सर्ब ।।

५

सावन बरिस मेह अतिवानी । भरनि भरइ हौ बिरह झुरानी ।।
लागु पुनर्बसु पीउ न देखा । भै बाउरि कहँ कंत सरेखा ।।
रकत क आँसु परे भुइँ टूटी । रेंगि चली जनु बीर बहूटी ।।
सखिन्ह रचा पिउ संगहि डोला । हरियर भुइँ कुसुंभि तन चोला ।।
हिय हिंडोल जस डोलै मोरा । बिरह झुलावै देइ झँकोरा ।।
बाट असूझ अथाह गँभीरा । जिउ बाउर भा भवै भँभीरा ।।
जग जल बूड़ि जहाँ लगि ताकी । मोर नाव खेवक बिनु थाकी ।।
परबत समुँद अगम बिच बन बेहड़ घन ढंख ।
किमि करि भेटौ कंत तोहि ना मोहि पाँव न पंख ।।

६

भर भादौ दूभर अति भारी । कैसें भरौ रैनि अँधियारी ।।
मँदिल सून पिय अनतै बसा । सेज नाग भे धै धै डसा ।।
रहौ अकेलि गहें एक पाटी । नैन पसारि मरौं हिय फाटी ।।
चमकि बीज घन गरजि तरासा । बिरह काल होइ जीउ गरासा ।।
बरिसै मघा झँकोरि झँकोरी । मोर दुइ नैन चुवहि जसि ओरी ।।

पुरवा लाग पुहुमि जल पूरी। आक जवास भई हौ झूरी ॥
धनि सूखी भर भादौ माहाँ। अबहूँ आइ न सीचति नाहाँ ॥
जल थल भरे अपूरि सब गँगन धरति मिलि एक।
धनि जोबन औगाह महँ दे बूड़त पिय टेक ॥

७

लाग कुआर नीर जग घटा। अबहुँ आउ पिउ परभुमि लटा ॥
तोहि देखे पिउ पलुहै काया। उतरा चित्त फेरि करु माया ॥
उए अगस्ति हस्ति घन गाजा। तुरै पलानि चढे रन राजा ॥
चित्रा मित मीन घर आवा। कोकिल पीउ पुकारत पावा ॥
स्वाति बुंद चातिक मुख परे। सीप समुंद्र मोंति लै भरै ॥
सरवर सँवरि हंस चलि आए। सारस कुररहि खँजन देखाए ॥
भए अवगास कांस बन फूले। कंत न फिरे बिदेसहि भूले ॥
बिरह हस्ति तन सालै खाइ करै तन चूर।
बेगि आइ पिय बाजहु गाजहु होइ सदूर ॥

८

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरहैं जारी ॥
चौदह करा कीन्ह परगासू। जानहुँ जरें सब धरति अकासू ॥
तन मन सेज करै अगिडाहू। सब कहँ चाँद मोहिं होइ राहू ॥
चहूँ खंड लागै अँधियारा। जौ घर नाहिंन कंत पियारा ॥
अबहूँ निठुर आव एहि बारा। परब देवारी होइ संसारा ॥
सखि झूमक गावहि अँग मोरी। हौ झूरौ बिछुरी जेहि जोरी ॥
जेहि घर पिउ सो मुनिवरा पूजा। मो कहँ बिरह सवति दुख दूजा ॥
सखि मानहि तेवहार सब गाइ देवारी खेलि।
हौ का खेलौ कंत बिनु तेहि रही छार सिर मेलि ॥

९

अगहन देवस घटा निसि बाढ़ी। दूभर दुख सो जाइ किमि काढी ॥
अब धनि देवस बिरह भा राती। जरै बिरह ज्यौ दीपक बाती ॥
काँपा हिया जान वा सीऊ। तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ ॥
घर घर चीर रचा सब काहूँ। मोर रूप रँग लै गा नाहूँ ॥
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई। अबहूँ फिरै फिरै रँग सोई ॥

सियरि अगिनि बिरहिन हिय जारा। सुलगि सुलगि दगधै भै छारा ।।
यह दुख दगध न जानै कंतू। जोबन जरम करै भसमंतू ।।
पिय सौ कहेहु सँदेसरा ऐ भँवरा ऐ काग।
सो धनि बिरहें जरि गई तेहिक धुआँ हम लाग ।।

१०

पूस जाड थर थर तन काँपा। सुरुज जड़ाई लंक दिसि तापा ।।
बिरह बाढ़ि भा दारुन सीऊ। कँपि कँपि मरौ लेहि हरि जीऊ ।।
कंत कहाँ हौ लागौ हियरें। पंथ अपार सूझ नहि नियरें ।।
सौर सुपेती आवै जूड़ी। जानहूँ सेज हिवंचल बूड़ी ।।
चकई निसि बिछुरै दिन मिला। हौ निसि बासर बिरह कोकिला ।।
रैन अकेलि साथ नहि सखी। कैसें जिऔ बिछोही पँखी ।।
बिरह सैचान भँवै तन चाँड़ा। जीयत खाइ मुएँ नहि छाँड़ा ।।
रकत ढरा माँसू गरा हाड़ भए सब पंख।
धनि सारस होइ ररि मुई आइ समेटहु पंख ।।

११

लागेउ माँह परै अब पाला। बिरहा काल भएउ जड़ काला ।।
पहल पहल तन रुई जो झाँपै। हहलि हहलि अधिकौ हिय काँपै ।।
आइ सूर होइ तपु रे नाहाँ। तेहि बिनु जाड़ न छूटै माहाँ ।।
एहि मास उपजै रस मूलू। तूँ सो भँवर मोर जोबन फूलू ।।
नैन चुवहि जस माँहुट नीरू। तेहि जल अंग लाग सर चीरू ।।
टूटहि बूंद परहि जस ओला। बिरह पवन होइ मारै झोला ।।
केहिक सिंगार को पहिर पटोरा। गियँ नहिं हार रही होइ डोरा ।।
तुम्ह बिनु कंता धनि हरुई तन तिनुवर भा डोल।
तेहि पर बिरह जराइकै चहै उड़ावा झोल ।।

१२

फागुन पवन झँकोरै बहा। चौगुन सीउ जाइ किमि सहा ।।
तन जस पियर पात भा मोरा। बिरह न रहै पवन होइ झोरा ।।
तरिवर झरै झरै बन ढाँखा। भइ अनपत फूल फर साखा ।।
करिन्ह बनाफति कीन्ह हुलासू। मो कहँ भा जग दून उदासू ।।
फाग करहि सब चाँचरि जोरी। मोहि जिय लाइ दीन्हि जसि होरी ।।

जो पै पियहि जरत अस भावा । जरत मरत मोहि रोस न आवा ।।
रातिहु देवस इहै मन मोरें । लागौ कंत थार जेउँ तोरें ।।
यह तन जारौ छार कै, कहौं कि पवन उड़ाउ ।
मकु तेहि मारग होइ परौ, कंत धरै जहँ पाउ ।।

१३

चैत बसंता होइ धमारी । मोहि लेखें संसार उजारी ।।
पंचम बिरह पंच सर मारै । रकत रोइ सगरौ बन ढारै ।।
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता । भीज मंजीठ टेसू बन राता ।।
मोरैं आँब फरैं अब लागे । अबहु सँवरि घर आउ सभागे ।।
सहस भाव फूली बनफती । मधुकर फिरे सँवरि मालती ।।
मो कहँ फूल भए जस काँटे । दिस्टि परत तन लागहिं चाँटे ।।
भर जोबन एहु नारँग साखा । सोवा बिरह अब जाइ न राखा ।।
घिरिनि परेवा आव जस आइ परहु पिय टूटि ।
नारि पराएँ हाथ है तुम्ह बिनु पाव न छूटि ।।

१४

भा वैसाख तपनि अति लागी । चोला चीर चँदन भौ आगी ।।
सूरुज जरत हिवंचल ताका । बिरह बजागि सौहँ रथ हाँका ।।
जरत बजागिनी होउ पिय छाँहाँ । आइ बुझाउ अँगारन्ह माँहाँ ।।
तोहि दरसन होइ सीतल नारी । आइ आगि सों करु फुलवारी ।।
लागिउँ जरे जरे जस भारू । बहुरि जो भूँजसि तजौ न बारू ।।
सरवर हिया घटत निति जाई । टूक टूक होइ होइ बिहराई ।।
बिहरत हिया करहु पिय टेका । दिस्टि दवँगरा मेरवहु एका ।।
कँवल जो बिगसा मानसर छारहि मिलै सुखाइ ।।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै जौ पिय सींचहु आइ ।।

१५

जेठ जरै जग बहै लुवारा । उठै बबंडर धिकै पहारा ।।
बिरह गाजि हनिवंत होइ जागा । लंका डाह करै तन लागा ।।
चारिहुँ पवन झँकोरै आगी । लंका डाहि पलंका लागी ।।
दहि भइ स्याम नदी कालिंदी । बिरह कि आगि कठिन असि मंदी ।।
उठै आगि औ आवै आँधी । नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी ।।
अधजर भई माँसु तन सूखा । लागेउ बिरह काग होइ भूखा ।।
माँसु खाइ अब हाड़न्ह लागा । अबहूँ आउ आवत सुनि भागा ।।

परबत समुँद मेघ ससि दिनअर सहि न सकहिं यह आगि ।
मुहमद सती सराहिऐ जरै जो अस पिय लागि ।।

१६

तपै लागे अब जेठ असाढी । भै मोकहँ यह छाजनि गाढ़ी ।।
तन तिनुवर भा झूरौ खरी । भै बिरहा आगरि सिर परी ।।
साँठि नाहि लगि बात को पूँछा । बिनु जिय भएउ मूँज तन छूँछा ।।
बंध नाहि औ कंध न कोई । बाक न आव कहौ केहि रोई ।।
ररि दूबरि भई टेक बिहूनी । थंभ नाहि उठी सकै न थूनी ।।
बरसहि नैन चुअहि घर माहाँ । तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाँहाँ ।।
कोरे कहाँ ठाट नव साजा । तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाजा ।।
अबहूँ दिस्टि मया करु छान्हिन तजु घर आउ ।
मंदिल उजार होत है नव कै आनि बसाउ ।।

१७

रोइ गँवाएउ बारह मासा । सहस सहस दुख एक एक साँसा ।।
तिल तिल बरिस बरिस बरु जाई । पहर पहर जुग जुग न सिराई ।।
सो न आउ पिय रूप मुरारी । जासौ पाव सोहाग सो नारी ।।
साँझ भए झुरि झुरि पँथ हेरा । कौनु सो घरी करै पिउ फेरा ।।
दहि कोइल भे कंत सनेहा । तोला माँस रहा नहि देहा ।।
रकत न रहा बिरह तन गरा । रती रती होइ नैनन्हि ढरा ।।
पाव लागि चेरी धनी हाहा । चूरा नेहु जोरु रे नाहा ।।
बरिस देवस धनि रोइ कै हारि परी चित झाँखि ।
मानुस घर घर पूँछि कै पूँछै निसरी पाँखि ।।

१८

भई पुछारि लीन्ह बनबासू । बैरिनि सवति दीन्ह चिल्हवाँसू ।।
कै खर बान कसै पिय लागा । जौ घर आवै अबहूँ कागा ।।
हारिल भई पंथमैं सेवा । अब तहँ पठवौ कौनु परेवा ।।
धौरी पंडुक कहु पिय ठाऊँ । जौ चित रोख न दोसर नाऊँ ।।
जाहि बया गहि पिय कँठ लवा । करे मेराउ सोई गौरवा ।।
कोइलि भई पुकारत रही । महरि पुकारि लेहु रे दही ।।
पियरि तिलोरि आव जलहंसा । बिरहा पैठि हिएँ कत नसा ।।

जेहि पंखी कहँ अढवौ कहि सो बिरह कै बात ।
सोई पंखि जाइ डहि तरिवर होइ निपात ॥

१६

कुहुकि कुहुकि जसि कोइलि रोई । रकत आँसु घुंघची बन बोई ॥
पै करमुखी नैन तन राती । को सिराव बिरहा दुख ताती ॥
जहँ जहँ ठाढि होइ बनबासी । तहँ तहँ होइ घुंघुचिन्ह कै रासी ॥
बुंद बुंद महँ जानहुँ जीऊ । कुंजा गुंजि करहि पिउ पिऊ ॥
तेहि दुख डहे परास निपाते । लोहू बूड़ि उठे परभाते ॥
राते बिब भए तेहि लोहू । परवर पाक फाट हिय गोहूँ ॥
देखिअ जहाँ सोइ होइ राता । जहाँ सो रतन कहै को बाता ॥

ना पावस ओहि देसरें ना हेबंत बसंत ।
ना कोकिल न पपीहरा केहि सुनि आवहि कंत ॥

मंझन

जन्म—सं० १५७० (लगभग)

मृत्यु— अनिश्चित

स्थान—अज्ञात

चित्रसारी-खण्ड

१

चित्रसारि एक तहाँ सँवारी, तहँ खेलै हम जाहि धमारी।
दिन एक सखी सबै जो आई, कहेन्हि चलौ खेलै अंबराई।
कह जौ माता की अग्या पावौ, तौ तुअ संग अंबरावै आवौ।
पुनि उठि मैं माता पहँ आई, माय चूँबि कै कोर बैसाई।
कहेन्हि तिल एक आयसु पावौ, सखी साथ बारी भैं आवौ।
मातै कहा आजु घर खेलहु, इहवाँ केलि कराहु।
भरम होइ तौ जीव मों, बाहर कतहुँ न जाहु।।

२

जौ मातै येह बचन सुनावा, लरिकाईं जिब गहबरि आवा।
आँसु पोछि जो कहा बुझाई, होहु सयानि छोड़ु लरकाई।
मात पिता कर प्रान अधारी, और कहा तै बारि कुमारी।
नैन वोट जे तिल न कराऊँ, निति जावे छाड़हु लखराऊँ।
पुनि अस कहा बार जै लाबहु, तिल एक खेलि बहुरि घर आवहु।
भा अनंद जिअ सुनि कै, दुख भागा सुख भा जीअ।
रहसी सबै सहेली, मिलि हँसि मातै आयेसु दीअ।।

३

पुनि मातै सब सखी बोलाई, फूलन्ह से रचि सबै बनाई।
गगन बदन ता चंदन सारी, सिरी अमा पुनिव ससि सिगारी।
सबै चतुर जो सहज दुलारी, कनक औटि जो साँचे ढारी।
कबहुँ भाव जोबन कै देखी, कबहुँ सहज लरिकाई पेखी।
अरु सौतुख जानि न जाई, दुई मो दहु काकी अधिकाई।
दूनौ बाद करै आपुस मों, जोबन औ लरिकाइ।
धन जोबन धन ते दिन, अरु धन ते बेलसाइ।।

४

और कहौ जो भाव बिचारी, धनु बिधना जे कलि औतारी।
अजहूँ पेम भाव न जाना, अजहुँ न नरपति गात समाना।

अजहुँ न कंत भिरे गीव लाई, अजहुँ न रूठे मान मनाई।
अजहूँ रंग रोस तिन्ह थोरा, अजहुँ न उभरे कनक कचोरा।
अजहुँ न जोबन कली न मोली, अजहूँ सहज दुलारे बोली।
अजहुँ सरोर न छाँड़ै, लरिकाई कर भाउ।
अजहुँ अमोलि न जानौ, पेम सुरा कर चाउ।।

५

अजहूँ पहिरि न जानौ चोली, अजहुँ पेम रस भाव अमोली।
अजहूँ अधर अमीरस डाके, अजहुँ न भये न लोयेन बाँके।
अजहूँ नाह सूति गात न लागे, अजहूँ सुरति काम न जागे।
अजहूँ प्रीतम नाहिन आवा, अजहूँ काम भाव न जगावा।
अजहूँ सुरति संक मन माही, अजहूँ उससि धरा न बाँही।
अजहूँ अहौ अमोली, नहि जानौ रसबात।
अजहुँ नैन तीखन बाँके, का जानौ बिहसंत।।

६

तेहि दिन संग भौ सब बाला, म्रिगनैनी हँसि गौनी चाला।
रहसि चली बालापन बाले, आपे अमी रस भरे रसाले।
सब सुकुमारि लता जो डोलै, बचन सुरस कोकिला बोलै।
देखत लंक मर्म जिब करई, बिधि येह छुअत टूट ना परई।
अमिअकुंड नाभि बस बारी, वेनी सीस ताहि रखवारी।
चतुर गुनी सब नागरी, सुंदर सुबुधि सुजान।
भौह धनुख बरुनी सर, मारहि ताकि परान।।

७

कहै सखी सब मोहिं बुझाइ, पेमा तुरित चलौ अंबराई।
मातै कहा न लावहु बारा, उनके आयेसु करु प्रतिहारा।
कौनो सखी करै हम छाँहा, कौनौ उससि देइ गले बाँहा।
कौनौ सखी पान खिआवै, कौनौ सुरस बचन सुनावँ।
बहु बिधि कोड़ करै ते नारी, रूप अपछरा जोबन बारी।
ते सब मिलि कै संग ही, रहसि चली अँबराउ।
मकु विधि तब न संभारा, जो अस भौ बिपाउ।।

८

केलि करत मैं मधुबन आई, जहाँ आहि सब सखी सवाई।

सुरस मखी भाखा बररई, चातिक बहुत पीउ पिउ करई।
कतहूँ भौर पुहुप लपटाने, कतहूँ पंचम बैन सुठाने।
कतहूँ बिगसी कली बिगासै, कतहूँ मोर कोकिला बासै।
कतहूँ फूल सुरंग सुबासा, जहाँ देखि तहँ पेम हुलासा।
जेहि सरीर ना सँचरा, मनमथ तेहि छाँव धराइ।
मदन सहाइ देखि अंबराई, मुआ अंत जिआइ॥

९

देखि सखी जो रही हुलासी, केलि करै खेलै नौ लासी।
कोइ कोकिला कोइल उड़ावै, कोइ मजूर नाच देखि धावै।
चित अनंद रहसी जो खेलै, बहुत कुसुम तोरि गीवा मेलै।
बहुतन्ह फूल चढ़ावा माथे, बहुतन्ह हार गीव गीव गाँथे।
कुसुम बास सुरंग जो पावै, सो मोहि पास धाइ लै आवै।
रहसत खै ते मधुबन, तोरै कुसुम सुबास।
कौल बदन म्रिगनैनी, भौर न छोड़ैं पास॥

१०

एहि बिधि केलि करै ते नारी, कौंल बदनि ते अति सुकवारी।
औ सब बास सुबासित लाये, पुहुप बास ते मधुकर धाये।
काहू सीस जे चढ़ि चढ़ि बैसे, काहू उर जो चाहहिं पैसे।
अधर सुरंग अमी जो अहे, कौल बास ते मधुकर गहे।
अब लगि बहुत जतन जे राखे, ते मधुकर बरबस रस चाखे।
ढाँके अधर सबन्ह के, अकुतानी बर नारि।
आगे मधुकर घेरे, पाछे गहे पुछारि॥

११

बिगसै कौंल भाँति ते बारी, बैठे मधुकर कै बिकरारी।
व्याकुल बात कहै ना पावैं, साँस लेत मुँह पैसै धावै।
अकुतानी भौ भंग सिंगारू, कंचुकि फाटि टूटि गा हारू।
परी अवस्था सब अकुतानी, नासा तिलक माँग बिथरानी।
नौ सत जो घर से कै आई, नासि चली ते सब अंबराई।
दुइ कर बदन छपाये, धाइ गही ते बर नारि।
चित्रसारि गै पैठी, पौरि दीन्ह सब ढारि॥

१२

येहि अवस्था ते बर नारी, आइ धाइ मंदिल चित्रसारी।
बहुतन्ह के उर ककन फूटे, बहुतन्ह हार गीव गहि टूटे।
बहुतौ अधर पयोहर टोवहि, बहुतौ चिन्ह अधर देखि रोवहि।
बहुतौ हँसहि बहुतौ बिलखाही, बहुतौ माता पिता सकाही।
बहुतौ सीस केस मोकलाये, बहुतौ काजर नेन नसाये।
सबै सिगार जो भग भा, कोइ हँसे कोइ बिलखाइ।
भोर भये भैं भरमी, घर दिस चलै न जाइ॥

१३

पुनि आपुस मों कहै बिचारी, घर घर चलौ तजौ चित्रसारी।
बहुरि कहा कैसे घर जाइ, जननी पूछ तौ कहा कहाई।
किछु उर संका जननी धरहीं, बहुत संक मधुकर कर करहीं।
जनी चारि एक आइ सयानी, ते कछु अलप संक मन मानी।
कहेन्हि चलहु होहि हम आगे, तुह आवहु हम पाछे लाग।
पुनि उठि पौरि उघारा, निसरी सबै सँकात।
मदन न भरम उघारै, साननि बोलै बात॥

१४

बाहर चित्रसारि जो आई, भरम न गौ जो जिउ भर्माई।
डर ना आपुस भो बेगराहीं, एकहि ठाँव भई सब जाहीं।
पुनि राकस एक आइ तुलाना, देखि सखिन्ह जो तजा पराना।
तेहि देखे मन संका आई, हम रुखन्ह तर रही छिपाई।
हौं जेहि ठाँव छपानी अही, राकस आइ तहाँ हम गही।
साठि सखी मो एकसरि, मोहि धरेसी बेगराइ।
नैन मटक के मारत, एहि बनखंड लै आइ॥

१५

एक बरसि भा मोहिं एहि ठाऊं, सपने न सुना मानुस नांऊं।
आजु निमिख एक जीवन लेखेउं, मानुस रूप जौ रे तोहि देखेऊं।
बिन जिउ भई रही येहि ठाई, जिउ बिनु कया जिअब कब ताई।
कुटुंब बिवोग रैनि दिन दहई, पापी जिउ निकसै ना चहई।
सुख हरि लीन्हा दुख जिव बाढ़ा, अब सो जीउ जाइ ना काढ़ा।

येहि संताप दुख कौलहि, जग जीअत रहाब ।
जस सरसल बिनु कादौं, उरध फाटि मर जाब ॥

१६

मैं आपन सब परिहरि जाई, बिना जीउ मोहिं जिऐं न आई ।
यह रे दुख दिन एक मरि जैहौ, कब लगि मै ऐसे जिउ रहिहौ ।
सुन्न सरीर अधर पर साँसा, छाँडी कया जिवन कै आसा ।
कुंअर देखि तै मोहि बिचारी, बिनु जिउ बात कहै वर नारी ।
रहस चाव जे सब परिहरा, जेहि दिन सौ मोहिं दानौ छरा ।
बिना आयु घर जीव है, ता पर विरह दहाइ ।
जे जिउ जाइ बिवोग मो, सो केउँ आइ भनाइ ॥

१७

बारह मास रकत मै रोवा, मरना भला न यह रे बिछोवा ।
समुझि समुझि जे फाटै छाती, माँसु न कया हाड़ भौ काँती ।
हिआ फटै बन देखि अकेली, दुख सुख भौ बिरह सहेली ।
बिधि किछु पुरब मंद लिखि राखा, जन्म ब्रिछ बिख फर साखा ।
कै काहू दुख दीन्हा भोरे, सो रे उलटि परा मोरे कोरे ।
गुपुत रकत निसि बासर, पिऐ सवाई आउ ।
दिन एक रकत बिना सिहि, बाहर काढै धाउ ॥

१८

कहौ बात आपनि मै तोहीं, दुख बिन और न साथी मोही ।
मात कोर मै पखी न दुखायेउँ, कौन पाप विधान सौ पायेउँ ।
येह निकुंज बन दोसर न कोई, जो भोरे दुख क संघाती होई ।
दुख संताप बिनु और न पावौ, जासौ तिल एक दिल बहलावौ ।
प्रान तजै चाहत है बरनारी, जीवन भा जगत मो भारी ।
पीर करेजे हिये दुख, बिरह दग्धि उतपात ।
दैया केउँ करि जिऔ, यह दुख बिरह संताप ॥

कृष्ण-काव्य

१. विद्यापति

२. सूरदास

३. परमानन्ददास

४. मीराँ

५. नन्ददास

६. रसखान

७. हलधरदास

विद्यापति

जन्म— सं० १४०७ (लगभग)
स्थान— बिस्पी (दरभंगा)
मृत्यु— सं० १५०७ (लगभग)

पद

१

अविरल नयन गलए जलधार
नव जल बिन्दु सहए के पार ।।
कुच दुहु उपर आननहि हेरु
चान्द राहु डरे चढ़ल सुमेरु ।।
कि कहब सुन्दरि ताहेरि कहिनी
कहहि न पारिअ देखलि जहिनी ।।
अनल अनिल बम मलअज बीख
जे छल सीतल से भेल तीख ।।
चान्द सन्ताबए सविताहु जीनि
नहि जीवन एकमत भेल तीनि ।।
किछु उपचार न मानए आन
एहि बेआधि अथिक पचवान ।।
तुअ दरसन बिनु तिलाओ न जीब
जैअओ कलामति पीउख पीब ।।
भनइ विद्यापतीत्यादि ।।

२

कंटक माझ कुसुम परगास
भमर बिकल नहि पाबए पास ।।
रसमति मालति पुनु पुनु देखि
पिबए चाह मधु जीव उपेषि ।।
भमरा विकल भमए सब ठाम
तोह बिनु मालति नहि बिसराम ।।
ओ मधुजीवी तजे मधुरासि
साचि धरसि मधु तजे न लजासि ।।
अपने मने धनि बुझ अवगाहि
तोहर दुषन बध लागत काहि ।।
भनइ विद्यापतीत्यादि ।।

३

आसा मन्दिर बेस निसि गमाबए
सुखे न सूत सयान।
जखने जतने जाहि निहारए
ताहि ताहि तुअ भान॥
वन उपवन कुज कुटीरहि
सबहि तोर निरूप।
तोहि बिनु पुनु पुनु मुरुछए
अइसन पेम सरूप॥

मालति सफल जीवन तोर।
तोरे विरहे भूवन भमए
भेल मधुकर भोर॥
जातकि केतकि कत न अछ
कुसुम रस समान।
सपनहु नहि काहु निहारए
मधु कि करत पान॥
जकर हृदय जतए रहल
धसि पए ततहि जाए।
जैअओ जतने बान्धि निरोधिअ
निमन नीर समाए॥
भने विद्यापतीत्यादि॥

४

लाखे तरुअर कोटीहि लता
जुवति कत न लेख।
सबहि फूला मधु मधुकर
मधुहु मधु विशेष॥
सुन्दरि अबहु वचन सून।
सबे परिहरि तोहि इछ हरि
आपु सराहसि पून॥
जे मधु भमर निन्दहु सुमर
बासि बिसरए न पार।

एकि मधुकर जहि उडि पल
सेहे ससारक सार ॥
तोरि सराहनि तोरिए चिन्ता
सेजहु तोरिए ठाम ।
सपनेहु तोहि देखि पुनु कए
लए उठ तोरिए नाम ॥
आलिङ्गन दए पाछु निहारए
तोहि बिनु सुन कोर ।
पाछिलि कथा अकथ कथा
लाजे न तेजए नोर ॥
भनइ विद्यापतीत्यादि ॥

५

सेह परदेसे परजोषित रसिआ
हमे धनि कुलमति नारि
तन्हि पुनु कुशले आओब निज आलए
हम जीवे गेलाह मारि ॥
कहब पथिक पिआ मन दए रे
जौवन बले चलि जाए ।
जञो आबिअ तञो अइसना आओब
जाओ विजयी रितुराज ।
अवधि बहुत हे रहत नहि जीवन
पलटि न होएत समाज ॥
गेला नीर निरोधक की फल
अवसर बहला दान ।
जञो अपने नहि जानीआ रे
भल जन पुछब आन ॥
विद्यापतीत्यादि ॥

६

गगन मंडल दुहुक भूखन
एकसर उग चन्दा ।

गए चकोरी अमिअ पीवए
कुमुदिनि सानन्दा ।।
मालति काञिजें करिअ रोस
एकल भमर बहुत कुसुम
कमन ताहेरि दोस ।।
जातकि केतकि नवि पदुमिनि
सब सम अनुराग ।
ताहि अवसर तोहि न बिसर
एहे तोहर बड भाग ।।
भिअ नव रस रभस पओले
कमन रह विवेक ।
भने विद्यापति परहित कर
तैसन हरि पए एक ।।

७

दरसन लागि पुजए निते काम
अनुखन जपए तोहरि पए नाम ।
अवधि समापल मास अषाढ
अबे दिने दिने हे जीवन भेल गाढ ।।
कहब समाद बालभु सखि मोर
सबतह समय जलद बड घोर ।
एके अबला हे कुपुत पञ्चबान
मरम लखिए कर सर सन्धान ।।
तुअ गुण बान्धल अछए परान ।
पर वेदन देख पर नहि जान ।।
भनइ विद्यापतीत्यादि ।।

८

मालति मधु मधुकर कर पाँन
सुपुरुष जञो हो गुणक निधान ।।
अबुझ न बुझए भलाहु बोल मन्द
भेँभ न पिबए कुसुम मकरन्द ।।
ए सखि कि कहब अपनुक दन्द
सपनेहुँ जनु हो कुपुरुष संग ।

दूधे पटाइअ मीचीअ नीत
सहज न तेज करइला तीत ।।
कते जतने उपजाइअ गून
कहल न बुझए हृदयक सून ।
मन्दा रतन भेद नहि जान
बान्दर मूह न सोभए पान ।।
विद्यापतीत्यादि ।।

९

प्रथमहि कएलह नयनक मेलि
आसा देलह हसि कहु हेरि ।
ते हमे आज अएलाहु तुअ पास
वचनेहु तोहे अति भेलि हे उदास ।।
साजनि तोहर सिनेह भल भेल
पहिला चुम्बनाक दुर गेल ।
आबहु करिअ रस परिहरि लाज
अङ्गिरल ऋन छड़ाबह आज ।।
अपना वचन नहीं परकार
जे अगिरिअ से देलहि नितार ।।
भनइ विद्यापतीत्यादि ।।

१०

प्रथम सिरीफल गरवे गमओलह
जे गुणगाहक आबे ।
गेल जौवन पुनु पलटि न आबए
किछू दिन जा पचताबे ।।
सुन्दरि, मोरे बोले करब अवधाने ।
तोह सनि नारि दोसरि हमे अछलिहु
अइसन उपजु हम भाने ।।
जौवन सिरी ताबे रह सुन्दरि
जाबे मदन अधिकारी ।
दिन दस गेले छाड़ि पलाएत
सकल जगत परचारी ।।

विद्यापति कह जुवति लाख लह
पड़ल पयोधर तूले ।
दिने दिने आबे तोहे तैसनि होएबह
घोसिना घोरक मूले ।।

११

तो हे कुलमति रति कुलमति नारि
बाके दरसने भुलल मुरारि ।
उचितहु बलइते अबे अवधान
संसय मेललह तन्हिक परान ।।
सुन्दरि की कहब कहइते लाज
तोरे नामे परहु सओ बाज ।
थावर जंगम मनहि अनुमान
सबहिक विषय तोहर होअ भान ।।
आओर कहि की बुझओबिसि तोहि
जनि उधमति उमताबए मोहि ।।
भनइ विद्यापतीत्यादि ।।

१२

जौवन रतन अछल दिन चारि
ताबे से आदर कएल मुरारि ।
आबे भेल झाल कुसुम रस छूछ
वारि बिहुन सर केओ नहि पूछ ।।
हमरिओ विनति कहब सखि गोए
सुपुरुष सिनेह अन्त नहि होए ।
जाबे से धन रह अपना हाथ
जाबे से आदर कर संग साथ ।।
धनिकक आदर सबका होए
निरधन बापुल पुछ नहि कोए ।।
भनइ विद्यापतीत्यादि ।

१३

दहए बुलिए भमरि करुणा कर
आहा दइआ इ की भेल ।

कोर सुतल पिआ आन्तरो न देल हिआ
के ँ जान कञोन दिग गेल ॥
अवे कैसे जीउव मञो रे
सुमरि बालभु नव नेह ॥
एकहि मन्दिर बसि पिआ न पुछए हसि
मोरे लेखे समुदक पार।
इ दुइ जौवना तरुण लाख लह
से आवे परस गमार ॥
पटसुति बुनि बुनि मोतिसरि किनि किनि
मोरे पिआञो गाथल हार।
लाख लेखि तन्हि हरबा गाथल
से आबे तोलत गमार ॥
अरे रे पथिक भइआ समाद लए जइहह
जाहि देस बस मोर नाह।
हमर से दुख सुख तन्हि पिआ कहिहह
सुन्दरि समाइलि वाह ॥
भनइ विद्यापति अरे रे जुवति
अबे चिते करह उछाह।
राजा सिवसिह रूपनराएन
लखिमा देवि वर नाह ॥

१४

जमुना तीर युवति केलि कर
ऊठि उगल सानन्दा।
चिकुर सेमार हार अरुझाएल
जूथे जूथे उग चन्दा ॥
मानिनि अपरुब तुअ निरमाने।
पाँचेबाने जनि सेना साजलि
अइसन उपजु मोहि भाने ॥
आनि पुनिम ससिकनकथोए कसि
सिरिजल तुअ मुख सारा।
जे सबे उबरल काटि नडाओल
से सबे उपजल तारा ॥

उबरल कनक औंटि बटुराओल
सिरिजल दुइ आरम्भा।
सीतल छाह छैले छुइ छाडल
छाडि गेल सबे दम्भा॥
भनइ विद्यापतीत्यादि॥

१५

सामर सुन्दर ञे बाटे आयल
तेँ मोरि लागलि आँखी।
आरति आँचर साजि न भेले
सबे सखी जन साखी॥
कहहि मो सखि कहहि मो
कथा ताहेरि वासा।
दूरहु दुगुण ऐडि मञे आबओ
पुनु दरसन आसा॥
कि मोरा जीवने कि मोरा जौवने
कि मोरा चतुरपने॥
मदन बाणे मुरुछलि अछओ
सहओ जीव अपने॥
आध पयोधर ते मोर देखल
नागर जन समाजे।
कठिन हृदय भेदि न भेले
जाओ रसातल लाजे॥
सुरपति पाए लोचन मागओ
गरुड मागओ पाखी।
नन्देरि नन्दन मञे देषि आबओ
मन मनोरथ राखी॥
भनइ विद्यापतीत्यादि॥

१६

कामिनि करए सनाने
हेरइते हृदय हरए पचबाने।

चिकुर गलए जलधारा
मुख शशि डरे जनि रोअए अँधारा ।।
तितल वसन तनु लागू
मुनिहुक मानस मनमथ जागू ।
ते शङ्काए भुजपाशे
बान्धि धरिअ पुनु ऊड तरासे ।।
कुचयुग चारु चकेबा
निअ कुल मिलत आनि कओने देबा ।।
भनइ विद्यापतीत्यादि ।।

१७

सोरभ लोभे भमर भमि आएल
पुरुब पेम बिसवासे ।
बहुत कुसुम मधुपान पिआसल
जाएत तुअउ पासे ।।
मालति करिअ हृदय परगासे ।
कत दिन भमरे पराभव पाओब
भल नहि अधिक उदासे ।।
कओनक अभिमत के नहि राखए
जीवओ दए जग हेरि ।
की करब ते धन अरु जीवने
जे नहि बिलसए वेरि ।।
सबहि कुसुम मधुपान भमर कर
सुकवि विद्यापति भाने ।।

१८

ए सखि पेखल एक अनुरूप ।
सुनइत मानवि सपन-सरूप ।।
कमल जुगल पर चाँदक माल ।
तापर उपजल तरुन तमाल ।।
तापर बेढ़लि विजुरि-लता ।
कालिन्दि तीर धीर चलि जाता ।।
साखा-सिखर सुधाकर पाँति ।
ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति ।।

विमल विम्ब फल जुगल विकास ।
तापर कीर थीर करु वास ॥
तापर चञ्चल खञ्जन-जोर ।
तापर सापिनि झाँपल मोर ॥
ए सखि रङ्गिनि कहल निसान ।
हेरइत पुनि हेम रहल गिआन ॥
कवि विद्यापति एह रस भान ।
सुपुरुख मरम तुहू भल जान ॥

१६

ए धनि मानिनि करह सञ्जात ।
तुअ कुच हेम-घट हार-भुजङ्गिनि ताक ऊपर धर हात ॥
तोहे छाड़ि जदि हम परसब कोय ।
तुअ हार नागिनि काटब मोय ॥
हमर बचन जदि नहि परतीत ।
बूझि करह साति जे होय उचीत ॥
भुज पास बाँधि जघन तर तारि ।
पयोधर पाथर हिय दह मारि ।
उरकारा बाँधि राख दिन राति ।
विद्यापति कह उचित हइ साति ॥

२०

कतिहुँ मदन तनु दहसि हमारि ।
हम नहि सङ्कर हूँ वर नारि ॥
नहि जट इह बेनिविभंग ।
मालतिमाल सिरे नह गङ्ग ॥
मोतिम-बन्ध मौलि नह इन्दु ।
भाले नयन नह सिन्दुर विन्दु ॥
कण्ठे गरल नह मृगमद-सार ।
नह फनिराज ओरे मनिहार ॥
नील पटाम्बर नह बाघ छाल ।
केलिक कमल इह नह ए कपाल ॥
विद्यापति कह एहन सुछन्द ।
अङ्गे भसम नह मलयज पङ्क ॥

२१

आयल ऋतुपति-राज वसन्त ।
धाओल अलिकुल माधवि पन्थ ॥
दिनकर-किरण भेल पौगण्ड ।
केसर कुसुम धएल हेमदण्ड ॥
नृप आसन नव पीठल पात ।
काञ्चन कुसुम छत्र धरु माथ ॥
मौलि रसाल-मुकुल भेल ताय ।
समुखहि कोकिल पञ्चम गाय ॥
सिखिकुल नाचत अलिकुल जन्त्र ।
द्विजकुल आन पढ़ आसिख मन्त्र ॥
चन्द्रातप उड़े कुसुम पराग ।
मलय पवन सह भेल अनुराग ॥
कुन्दकली तरु धएल निसान ।
पाटल तृण असोक-दलवान ॥
किसुक लवङ्ग-लता एक सङ्ग ।
हेरि सिसिर रितु आगे दल भङ्ग ॥
सैन साजल मधुमखिका कुल ।
सिसिरक सबहु कएल निरमूल ॥
उधारल पाउल प्रान ।
निज नव दले करु आसन दान ॥
नव वृन्दावन राज विहार ।
विद्यापति कह समयक सार ॥

२२

नव वृन्दावन नव नव तरुगन नव नव विकसित फूल ।
नवल वसन्त नवल मलयानिल मातल नव अलि कूल ॥
विहरइ नवल किसोर ।
कालिन्दि पुलिन कुञ्जवन सोभन नव नव प्रेम-विभोर ॥
नवल रसाल-मुकुल-मधु मातल नव कोकिल कुल गाय ।
नवजुवती गन चित उमताअइ नव रस कानन धाय ॥
नव जुवराज नवल नव नागरि मिलए नव नव भाँति ।
निति निति ऐसन नव मव खेलन विद्यापति मति माति ॥

२३

सखि हे हमर दुःखेर नहि ओर ।
ए भर बादर माह भादर शून्य मन्दिर मोर ॥
झम्पे घन गरजन्ति सन्तति भुवन भरि बरिखन्तिया ।
कन्त पाहुन काम दारुन सवने खर सर हन्तिया ॥
कुलिस कत शत पात मोदित मयूर नाचत मातिया ।
मत्त दादुरि डाके डाहुकि फाटि जायत छातिया ॥
तिमिर भरि भरि घोर जामिनि न थिर बिजुरिक पाँतिया ।
विद्यापति कह कैछे गोंआयबि हरि बिने दिन रातिया ॥

२४

माधव सो अब सुन्दरि बाला ।
अविरत नयने वारि रु निर्झर जनु घन सावन माला ॥
पुनिमक इन्दुनिन्दि मुख सुन्दर से भेल अब ससिरेहा ।
कलेवर कमल काँति जिनि कामिनी दिने दिने खीन भेल देहा ॥
उपवन हेरि मुरछि पडु भूतले चिन्तित सखीगन सङ्ग ।
पद अंगुलि देइ खिति पर लिखइ पानि कपोल अवलम्ब ॥
ऐसन हेरि तुरिते हम आउलूँ अब तुहुँ करह विचार ।
विद्यापति कह निकरुन माधव बुझलूँ कुलिसक सार ॥

२५

माधव कत परबोधब राधा ।
हा हरि हा हरि कहतहि बेरि बेरि अब जिउ करब समाधा ॥
धरनी धरिय धनि जतनहि बैठत पुनहि उठइ नाहि पारा ।
सहजहि विरहिणि जग माहा तापिनि बैरी मदनसर धारा ॥
अरुण नयन लोरे तीतल कलेवर विलुलित दीघल केसा ।
मन्दिर बाहिर करइते संसय सहचरि गनतइ सेसा ॥
आनि नलिनि केउ धनिक सुताइओलि केउ देइ मुख पर नीरे ।
निसबद हेरि कोइ शास नेहारत केउ देइ मन्द समीरे ॥
कि कहब खेद भेद जनु अन्तर घन घन उतपद श्वास ।
भनइ विद्यापति सोह कलावति जिवन-बन्धन आश पाश ॥

२६

अनुखन माधव माधव सोवँरिते सुन्दरि भेल मधाई।
आ निज भाव सुभावहि बिसरल आपन गुन लुबधाई॥
माधव अपरूप तोहार सिनेह।
अपने विरह अपन तनु जर जर जिवइते भेल सन्देह॥
भारहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रचइत आधा आधा कहु बानि॥
राधा सँय जब पुनतहि माधव माधव सँय जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत बाटत विरहक बाधा॥
दुहु दिशे दारु दहने जैसे दगधइ आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति भान॥

२७

चानन भेल विसम सर रे भूसन भेल भारी।
सपनहुँ नहि हरि आएल रे गोकुल गिरधारी॥
एकसरि ठाढ़ि कदमतर रे पथ हेरथि मुरारि।
हरि बिनु देह दगध भेल रे झामर भेल सारी॥
जाह जाह तोहे ऊधव हे तोहे मधुपुर जाहे।
चन्द्रवदनि नहि जीउत रे बध लागति काहे॥
भनइ विद्यापति तन मन दे सुनु गुनमति नारी।
आजु आओत हरि गोकुल रे पथ चलु झटझारी॥

२८

माधव कि कहब सुन्दरि रूपे।
कतेक जतन बिहि आनि समारल देखलि नयन सरूपे॥
पल्लवराज चरण-जुग सोभित गति गजराजक भाने।
कनककदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने॥
मेरु उपर दुइ कमल फुलायल नाल बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार कह सुरसरि तैं नहि कमल सुखाई॥
अधर बिम्ब सन सदन दाडिम बिजु रवि ससि उगथिक पासे।
राहु दूरि बसु नियरो न आवथि तैं नहि करथि गरासे॥
सारङ्ग नयन वचन पुन सारङ्ग सारङ्ग तसु समधाने।
सारङ्ग ऊपर उगल दस सारङ्ग केलि करथु मधुपाने॥

भनइ विद्यापति सुन बरजौवति एहन जगत नहिं जाने।
राजा सिवसिह रूपनरायन लखिमा देइ प्रति भाने॥

२९

उठ उठ माधव कि सुतसि मन्द।
गहन लाग देखु पुनिमक चन्द॥
हार रोमावलि जमुना गङ्ग।
त्रिवलि त्रिवेनी विपु अनङ्ग॥
सिन्दूर तिलक तरनि सम भास।
धूसर मुख ससि नहि परगास॥
एहन समय पूजह पंचबान।
होउ उगरास देह रतिदान॥
पिक मधुकर पुर कहइत बोल।
अलपउ अवसर दान अतौल॥
विद्यापति कवि एहो रस भान।
राय सिवसिंह सब रसक निधान॥

३०

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज, की सरसिज बिनु सूरे।
जौवन बिनु तन, तन बिनु यौवन, की जौवन पिय दूरे॥
ससि हे मोर बड़ दैव विरोधी !
मदन बेदन वड़ पिया मोर बोल छड़ अबहु देह परबोधी॥
चौदिस भमर भम कुसुमे कुसुमे रम, नीरस भाजरि पीवइ।
मन्द पवन बह, पिक कुहु-कुहु कह, सुनि बिरहिनि कइसे जीवइ॥
सिनेह अछल जत हम भेल न टूटत बड़ बोल जत सबइ धीरे।
अइसन कए बोलदहु निअसिम तेजि कहु उछल पयोनिधि नीरे॥
भनइ विद्यापति, अबेरे कमलमुखि, गुन गाहक पिय तोरा।
राजा सिवसिह रूपनरायन सहजे एको नहि भोरा॥

सूरदास

जन्म—सं० १५३५

मृत्यु—सं० १६४०

स्थान—सीही

पद

१

माधौ जू, यह मेरी इक गाइ।
अब आज तै आप आगै दई लै आइयै चराइ ।।
यह अति हरहाई, हटकत हूँ बहुत अमारग जाति।
फिरति वेद-बन ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति ।।
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन माँह।
सुख सोऊँ सुनि वचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बाँह ।।
निधरक रहौ सूर के स्वामी, जनि मन जानौ फरि।
मन-ममता रुचि सौ रखवारी, पहिलै लेहु निबेरि ।।

२

माधौ, नैकु हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि-बासर अपथ पथ, अगह गहि नहि जाइ ।।
छुधित अति न अघाति कबहूँ, निगम द्रुम दलि खाइ।
अष्ट दस घट नीर अँचवति, तृषा तउ न बुझाइ ।।
छहौ रस जै धरौ आगै, तउ न गंध्र सुहाइ।
और अहित अभच्छ भच्छति, कला बरनि न जाइ ।।
ब्योम, धर, नद, सैल, कानन इते चरि न अघाइ।
नील खुर अरु अरुन लोचन, सेत सीग सुहाइ ।।
भुवन चौदह खुरनि खूँदति, सुधौ कहाँ समाइ।
ढोठ, निठुर न डरति काहूँ, त्रिगुन है समुहाइ ।।
हरै खल बल दनुज मानव सुरनि सीस चढाइ।
रचि बिरंचि मुख-भौह छवि, लै चलति चित्त चुराइ ।।
नारदादि सुकादि मुनिजन थके करत उपाइ।
ताहि कहु कैसें कृपानिधि, सकत सूर चराइ ।।

३

जा दिन मन पंछी उडि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहै ।।

या देही कौ गरब न करियै स्यार-काग गिध खैहैं।
तीननि मैं तन कृमि, कै विष्टा, कै ह्वै खाक उड़ैहै ।।
कहँ वह नीर, कहाँ वह शोभा, कहँ रँग रूप दिखैहै।
जिन लोगनि सौ नेह करत है, तेई देखि घिनैहै ।।
घर के कहत सबारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहै।
जिन पुत्रनिहि बहुत प्रतिपाल्यौ, देवी देव मनैहे ।।
तेई लै खोपरी बाँस दै, सीस फोरि बिखरैहै।
अजहूँ मूढ़ करौ सत संगति, सतनि मैं कछु पैहै ।।
नर वपु धारि नाहि जन-हरि कौं, जम की मार सो खैहै।
सूरदास भगवंत भजन बिनु बृथा सु जनम गँवैहै ।।

४

अब कै नाथ, मोहि उधारि।
मगन हो भव-अबुनिधि मैं, कृपासिंधु मुरारि ।।
नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिए जात अगाध जल कौ, गहे ग्राह अनंग ।।
मीन इन्द्री तर्नाह काटत, मोट अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह विचार ।।
क्रोध दम्भ-गुमान तृष्णा, पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत सुत तिय, नाम नौका ओर ।।
थक्यो बीच बिहाल, विह्वल, सुनौ करुनामूल।
स्याम, भुज गहि काढि लीजै, सूर व्रज कै कूल ।।

५

अब मोहि मज्जत क्यौ न उबारौ ?
दीनबंधु, करुनानिधि स्वामी, जन के दुःख निवारौ।
ममता घटा, मोह की बूंदै, सरिता मैन अपारौ ।।
बूड़त कतहुँ थाह नहि पावत, गुरुजन ओट अधारौ।
गरजत क्रोध लोभ कौ नारौ, सूझत कहुँ न उतारौ।
तृष्णा-तड़ित चमकि छनही छन, यह निसि यह तन जारौ।
यह सब जल व लिमलहि गहे है, बोरत सहस प्रकारौ।
सूरदास पतितनि के सगा, बिरदहि नाथ सम्हारौ ।।

६

जनम सिरानौ अटकै-अटकै ।
राज काज, सुत वित की डोरी, बिनु विवेक फिर्‌यौ भटकै ।।
कठिन जो गाँठि परी माया की, तोरी जाति न झटकै ।
ना हरि-भक्ति, न साधु-समागम, रह्यौ बीचही लटकै ।।
ज्यौं बहु कला काछि दिखरावै, लोभ न छूटत नट कै ।
सूरदास सोभा क्यौं पावै, पिय बिहीन धनि भटकै ।।

७

चकई री, चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग ।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग ।
जहाँ सनक-सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि प्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल, निमिष नहि ससि डर, गुंजत निगम सुबास ।
जिहि सर-सुभग मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै ।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै ।
लछमी सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास ।
अब न सुहात विषय-रस छीलर, वा समुद्र की आस ।।

८

जौ लौ सत-सरूप नहि सूझत ।
तौ लौं मृगमद नाभि बिसारे, फिरत सकल बन बूझत ।
अपनौ मुख मरि-मलिन मदमति, देखत दर्पन माही ।
ता कालिमा मेटिवे कारन, पचत पखारत छाही ।
तेल-तूल पावक पुट भरि धरि, इनै न बिना प्रकासत ।
कहत बनाइ दीप की बतियां, कैसें धौ तम नासत ।
सूरदास यह मति आए बिन, सब दिन गए अलेखे ।
कहा जानै दिनकर की महिमा, अंध नैन बिन देखे ।।

९

मै मोही तेरै लाल री ।
निपट निपट ह्वै कै तुम निरखौ, सुन्दर नैन बिसाल री ।
चंचल दृग अंचल-पट-दुति छबि, झलकत चहुँ दिसि झालरी ।

मनु सेवाल कमल पर अरुझे, भँवत भ्रमर भ्रम चाल री।
मुक्ता बिद्रुम नील पीत मनि, लटकत लटकन भाल री।
उपमा बरनि न जाइ सखी री, सुन्दर मदन गोपाल री।
सूर स्याम के ऊपर बारै तन-मन-धन ब्रजबाल री।।

१०

छोटी छोटी गोडियां, अंगुरियां छबीली छोटी,
नख-ज्योति, मोती मानौ कमल-दलनि पर।
ललित आंगन खेलै, ठुमकि-ठुमकि डोलै,
झुनुक-झुनुक बोलै, पैजनी मृदु मुखर।।
किंकिनी कलित कटि, हाटक रतन जटि,
मृदु कर कमलनि पहुँची रुचिर बर।
पियरी पिछौरी झीनी, और उपमा न भीनी,
बालक दामिनि मानौ ओढ़े बारौ बारिधर।।
उर बघनहा कंठ कठुला, झँडूले बार,
बेनी लटकन मसि-बुंदा मुनि मनहर।
अंजन रंजित नैन, चितवनि चित चोरै,
मुख सोभा पर वारौं अमित असम सर।।
चुटुकी बजावति नचावति जसोदा रानी,
बाल केलि आवति मल्हावति सुप्रेम भर।
किलकि-किलकि हँसै, द्वै-द्वै दंतुरियाँ लसै,
सूरदास मन बसै तोतरे वचन बर।।

११

हरि अपनै आँगन कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सौ नाचत, मनहीं मनहि रिझावत।
बाहँ उठाइ काजरी-धौरी गैयनि टेरि बुलावत!
कबहुँक बाबा नंद पुकारत, कबहुँक घर मैं आवत।
माखन तनक आपनै कर लै, तनक बदन मैं नावत।
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनंद बढावत।
सूर स्याम के बाल चरित, नित नितही देखत भावत।।

१२

रघुपति निरखि गीध सिर नायौ ।
कहि कै बात सकल सीता की, तन तजि चरन कमल चित लायौ ।।
श्री रघुनाथ जानि जन अपनौ, अपनै कर करि ताहि जरायौ।
सूरदास प्रभु दरस परस करि, ततछन हरि कै लौक सिधायौ ।।

१३

तरुनी निरखि हरि-प्रतिअंग ।
कोउ निरखि नख इंदु भूली कोउ चरनजुग रग ।।
कोउ निरखि नूपुर रही थकि कोउ निरखि जुग जानु ।
कोउ निरखि जुग जंघ सोभा करति मन अनुमानु ।।
कोउ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचिकारि ।
कोउ निरखि हृद नाभि की छबि डार्‌यौ तन मन वारि ।।
रुचिर रोमावली हरि कै चारु उदर सुदेस ।
मनौ अलि स्रेनी बिराजति बनी एकहि भेस ।।
रहीं इक टक नारि ठाढ़ी करति बुद्धि विचार ।
सूर आगम कियौ नभ तै जमुन-सूच्छम धार ।।

१४

[माई री] मुरली अति गर्व काहुँ, बदति नाहि आजु ।
हरि कै मुख कमल देस, पायौ सुख-राजु ।।
बैठति कर पीठि दीठि, अधर छत्र छाँहि ।
राजति अति चँवर चिकुर, सुरद सभा माँहि ।।
जमुना के जलहि नाहि, जलधि जान देति ।
सुरपुर तै सुर बिमान, यह बुलाइ लेति ।।
स्थावर चर, जगम जड़, करति जीति जीति ।
बिधि कौ विधि मेटि, करति अपनी नई रीति ।।
बंसी बस सकल सूर, सुर-नर-मुनि नाग ।
श्रीपति हूँ श्री बिसारि, याही अनुराग ।।

१५

नवल किशोर नवल नागरिया ।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपनै उर धरिया ।।

क्रीड़ा करत तमाल-तरुन-तर स्यामा उमंगि रस भरिया।
यौं लपटाइ रहे उर उर ज्यौं, मरकत मनि कंचन मैं जरिया।।
उपमा काहि देउँ, को लायक, मन्मथ कोटि वारने करिया।
सूरदास बलि बलि जोरी पर, नंद कुँवर बृषभानु कुँवरिया।।

१६

धेनु दुहत अतिही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।।
मोहन कर तैं धार चलति, परि मोहनि मुख अतिहीं छबि गाढ़ी।
मनु जलधर जलधार वृष्टि-लघु, पुनि पुनि प्रेम चंद पर बाढ़ी।।
सखी संग की निरखति यह छबि, भई व्याकुल मन्मथ की डाढ़ी।
सूरदास प्रभु के रस बस सब, भवन काज तैं भई उचाढ़ी।।

१७

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर-नर-नाग निरंतर, ब्रज-वनिता उठि धाई।।
जमुना नीर प्रवाह थकित भयौ, पवन रह्यो मुरझाई।
खग मृग मीन अधीन भए सब, अपनी गति बिसराई।।
द्रुम, बेली अनुराग पुलक तनु, ससि थक्यौ निसि न घटाई।
सूर स्याम वृंदावन बिहरत, चलहु सखी सुधि पाई।।

१८

रास मंडल बने स्याम स्यामा।
नारि दुहुँपास, गिरिधर बने दुहुँनि बिच।
ससि सहस बीस द्वादस उपामा।।
मुकुट की छबि निरखि कहा उपमा कहौ।
बैन जानै नही नैन जानै।।
सुभग नब मेघ ता बीच चपला चमक।
निरखि नृत्यत मोर हरष मानै।।
करत आनंद पिय-संग ललना पुंज।
बढत रस रंग छिन छिनहिं औरै।।
सूर प्रभु रास रस नागरी मध्य, दोउ।
परसपर नारि पति मनहि चोरै।।

१९

परसपर स्याम ब्रजबाम सोहै ।
सीस स्रीखंड, कुंडल जटित मनि स्रवन ।
निरखि छबि स्याम, मन तरुनि मोहै ।।
नासिका ललित बेसरि बनी अधरतट ।
सुभग ताटंक छबि कहि न जाई ।।
धरनि पग पटकि, कर झटकि, भौहनि भटकि ।
अटकि मन तहा रीझे कन्हाई ।।
तब चलत हरि मटकि, रही जुवती भटकि ।
लटकि लटकनि छटकि, छवि बिचारै ।।
कहति प्रभु सूर, बहुरौ चलो वैसेही ।
हमहुँ वैसै चलै, जो बिहारै ।।

२०

जुवति अंग छबि निरखत स्याम ।
नद कुँवर श्री अंग माधुरी, अवलोकति ब्रज बाम ।।
परी दृष्टि उच कुचनि पिया की, वह सुख कह्यौ न जाइ ।
अँगिया नील, माँड़नी राती, निरखत नैन चुराई ।।
वै निरखति पिय उर भुज की छबि पहुँचनि पहुँची भाजति ।
कर पल्लवनि मुद्रिका सोहति, ता छबि पर मन लाजति ।।
बंदन बिदु निरखि हरि रीझे, ससि पर बाल विभास ।
नंदलाल ब्रजबाल सु छबि क्यों, बरनै सूरजदास ।।

२१

स्यामा स्याम सुभग जमुना जल, निभ्रम करत त्रिहार ।
पीत कमल इंदीवर धर मनु, भोर भएँ नीहार ।।
श्रीराधा अंबुज कर भरि भरि, छिरकति बारबार ।
कनक लता मकरंद झरत मनु, हालत पवन सँचार ।।
अतिसी कुसुम कलेवर बूँदै, प्रतिबिंबित निरधार ।
जोति सूचक गगन सों डोलत, सखि सब करति बिचार ।।
धाइ धरे वृषभानु सुता हरि, मोहे सकल सिगार ।
तड़ित जलद सूरज मानौ मिलि, बरषत अंमृत धार ।।

२२

अदभुत कौतुक देखि सखी री बृंदावन नभ होड़ परी।
उत घन उदित सहित सौदामिनि, इतहि मुदित राधिका हरी ।।
उत बगपाँति, सु इतहि स्वाति सुत दाम, बिसाल सुदेस खरी।
ह्वाँ घन गरज, इहाँ मुरली धुनि मोतीमाला जलधर उत, इत अमृत भरी।।
उतहि इंद्र धनु, इत बनमाला, अति विचित्र हरि कंठ धरी।
सूरदास प्रभु कुँवरि राधिका, गगन की सोभा दूरि करी।।

२३

मोहिनी मोहन की प्यारी।
रूप-उदधि मथि कै बिधि, हठि पचि रची जुवति यह न्यारी।।
चंपक कनक कलेवर की दुति, ससि न बदन समता री।
खंजरीट मृग मीन की गुरुता, नैननि सबै निवारी।।
भृकुटी कुटिल सुदेस सोभित अति, मनहुँ मदन धनु धारी।
भाल बिसाल, कपोल अधिक छबि, नासा द्विज मदगारी।।
अधर बिब बंधूक निरादर, दसन कुंद-अनुहारी।
परम रसाल, स्याम, सुखदायक बचननि सुनि, पिक हारी।।
कबरी अहि जनु हेम खंभ लगि, ग्रीव कपोत बिसारी।
बाहु मृनाल जु उरज कुंभ-गज निम्न नाभि सुभगा री।।
मृग-नृप खीन सुभग कटि राजति जंघ जुगल रंभा री।
अरुन रुचिर जु बिड़ाल-रसन सम चरन-तली ललिता री।।
जहँ तहँ दृष्टि परति अरुझति, झरि नहि जाति निहारी।
सूरदास प्रभु रस-बस कीन्हे, अंग अंग सुखकारी।।

२४

बाँसुरी बिधि हूँ तैं परबीन।
कहियै काहि आहि को ऐसौ, कियौ जगत आधीन।।
चारि बदन उपदेस विधाता, थापी थिर चर नीति।
आठ वदन गरजति गरबीली, क्यौं चलिहै यह रीति।।
बिपुल बिभूति लही चतुरानन, एक कमल करि थान।
हरि कर कमल जुगल पर बैठी, बाढ्यौ यह अभिमान।।
एक बेर श्रीपति के सिखऐ, उन पायौ गुरु ज्ञान।
याकै तौ नँदलाल लाड़िलौ, लग्यौ रहन नित कान।।

एक मराल पीठि आरोहन, बिधि भयौ प्रबल प्रसंस।
इन तौ सकल बिमान किये, गोपी जन मानस हंस ॥
श्री बैकुंठनाथ पुरवासी, चाहत जा पद रैनु।
ताकौ मुख सुखमय सिहासन, करि बैठी यह ऐनु ॥
अधर-सुधा पी कुल-व्रत टार्यौ, नहीं सिखा नहि ताग।
तदपि सूर या नंद-सुवन कौ, याही सौ अनुराग ॥

२५

सजनी श्याम सदाई ऐसे।

एक अंग की प्रीति हमारी, वै जैसे के तैसे ॥
ज्यौ चकोर चदा कौ चाहै, चदा नैकु न मानै।
जल कै तीर मीन तन त्यागै, नीर निठुर नहि जानै ॥
ज्यौ पतंग उड़ि परै ज्योति तकि, बाके नैकु न भाए।
चातक रटि-रटि जनम गॅवावै, जल वै डारत खाए ॥
उनहूँ तै निर्दयी बड़े वै, तैसिये मुरली पाई।
सूर स्याम जैसे तैसी वह, भली बनी अब माई ॥

२६

मुरली हरि कौ नाच नचावति।

एते पर यह बाँस बँसुरिया, नंद-नँदन कौ भावति ॥
ठाढ़े रहत वस्य ऐसे है, सकुचत बोलत बात।
वह निदरे आज्ञा करवावति, नैकुहु नाहि लजात ॥
जब जानति आधीन भए है, देखति ग्रीव नवावत।
पौढ़ति अधर, चलित कर पल्लव रंध्र चरन पलुटावत ॥
हम पर रिस करि अवलोकत, नासा पुट फरकावत।
सूर स्याम जब-जब रीझत है, तब-तब सीस डुलावत ॥

२७

देखि री देखि मोहन ओर।

स्याम-सुभग सरोज आनन, चारु, चित के चोर ॥
नील तनु मनु जलद की छबि, मुरलि सुर घन घोर।
दसन दामिनि लसति बसननि, चितवनी झकझोर ॥

स्रवन कुंडल गंड-मंडल, उदित ज्यौ रवि भोर।
बरहि - मुकुट बिसाल माला, इंद्र-धनु छबि थोर ।।
धातु चित्रित वेष-नटवर, मुदित नवल किसोर।
सूर स्याम सुभाइ आतुर, चितै लोचन कोर ।।

२८

जुवति इक आवति देखी स्याम।

द्रुम कै ओट रहे हरि आपुन, जमुना तट गई बाम ।।
जल हलोरि गागरि भरि नागरि, जबहीं सीस उठायौ।
घर कौ चली जाइ ता पाछै, सिर तैं घट ढरकायौ ।।
चतुर ग्वालि कर गह्यौ स्याम कौ कनक लकुटिया पाई।
औरनि सौ करि रहे अचगरी, मोसौ लगत कन्हाई ।।
गागरि लै हँसि देत ग्वारि-कर, रीतौ घट नहि लैहौ।
सूर स्याम ह्याँ आनि देहु भरि, तबहि लकुट कर दैहौ ।।

२९

उपमा हरि तनु देखि लजानी।

कोउ जल मैं, कोउ बननि रही दुरि, कोउ कोठ गगन समानी ।।
मुख निरखत ससि गयौ अंबर कौ, तड़ित दसन छबि हेरि।
मीन कमल कर, चरन, नयन डर, जल मै कियौ बसेरि ।।
भुजा देखि अहिराज लजाने, बिबरनि पैठे धाइ।
कटि निरखत केहरि डर मान्यौ, बन बन रहे दुराइ ।।
गारी देहि कबिनि कैं बरनत, श्री अंग पटतरदेत ।।
सूरदास हमकौ सरमावत, नाउँ हमारौ लेत ।।

३०

लोचन मेरे भृंग भए री।
लोक लाज बन घन बेली तजि, आतुर है जु गए री ।।
स्याम रूप रस बारिज लोचन, तहौं जाइ लुबधे री।
लपटे लटकि पराग-बिलोकनि, संपुट लोभ परे री ।।
हँसनि प्रकास देखि देखि कै, निकसत पुनि तहँ पैठत।
सूर स्याम अंबुज कर चरननि, जहाँ तहाँ भ्रमि बैठत ।।

३१

रोम रोम ह्वै नैन गए री।

ज्यौ जलधर परबत पर बरषत, बूंद-बूंद ह्वै निचटि दए री ॥
ज्यौ मधुकर रस कमल पान करि, मोतै तजि उन्मत्त भए री।
ज्यौं काँचुरी भुअंगम तजही, फिरि न तके जु गए सु गए री ॥
ऐसी दसा भई री उनकी, स्याम रूप मै मगन भए री।
सूरदास प्रभु अगनित सोभा, ना जानौ किहि अंग छए री ॥

३२

नैन भए बोहित के काग।

उड़ि-उड़ि जात पार नहि पावत, फिरि आवत तिहि लाग ॥
ऐसी दसा भई री इनकी, अब लागे पछितान।
जो बरजत बरजत उठि धाए, नहि पायौ अनुमान ॥
वह समुद्र ये ओछे बासन, धरै कहाँ सुख रासि।
सुनहु सूर ये चतुर कहावत, वह छबि महा प्रकासि ॥

३३

खंजन नैन सुरँग रस माते।

अतिसय चाह बिमल, चंचल ये, पल पिंजरा न समाते ॥
बसे कहूँ सोइ बात सखी, कहि रहे इहाँ किहिं नातै।
सोइ संज्ञा देखति औ रासी, बिकल उदास कला तै ॥
चलि-चलि जात निकट स्रवननि, के सकि ताटंक फँदाते।
सूरदास अजन-गुन अटके, नतरु कबै उड़ि जाते ॥

३४

मधुवन तुम क्यों रहत हरे।

बिरह वियोग स्याम सुन्दर के, ठाढ़े क्यों न जरे ॥
मोहन बेनु बजावत तुम तर, साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि जन ध्यान टरे ॥
वह चितवनि तू मन न धरत है, फिर-फिरि पुहुप धरे।
सूरदास प्रभु बिरह दवानल, नख सिख लौ न जरे ॥

३५

सखी इन नैननि ते घन हारे ।

बिनही रितु बरषत निसि वासर, सदा मलिन दोउ तारे ।।
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे ।
बदन सदन करि बसे बचन खग, दुख पावस के मारे ।।
ढरि ढरि बूंद परत कंचुकि पर, मिलि अजन सौ कारे ।
मानौ परनकुटी सिव कीन्हीं, बिबि मूरति धरि न्यारे ।।
घुमरि घुमरि बरषत जल छाँडत, डर लागत अँधियारे ।
बूड़त ब्रजहि सूर को राखै, बिनु गिरिवर धर प्यारे ।।

३६

निसि दिन बरषत नैन हमारे ।

सदा रहति बरषा रितु हम पर, जब तै स्याम सिधारे ।।
दृग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भए कारे ।
कंचुकि पट सूखत नहि कबहूँ, उर बिच बहत पनारे ।।
आँसू सलिल सबै भइ काया, पल न जात रिस टारे ।
सूरदास प्रभु यहै परेखौ, गोकुल काहै बिसारे ।।

३७

पिय बिनु नागिनि कारी रात ।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात ।।
जंत्र न फुरत मंत्र नहि लागत, प्रीति सिरानी जात ।
सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि-मुरि लहरै खात ।।

३८

नैन सलोने स्याम, बहुरि कब आवहिगे ।
वै जौ देखत राते राते, फूलनि फूली डार ।
हरि बिनु फुलझरी सी लागत, झरि-झरि परत अँगार ।।
फूल बिनन नहि जाउँ सखी री, हरि बिनु कैसे फूल ।
सुनि री सखि मोहि राम दुहाई, लागत फूल त्रिसूल ।।
जब मै पनघट जाउँ सखी री, वा जमुना कै तीर ।
भरि-भरि जमुना उमड़ि चलति है, इन नैननि कै नीर ।।

इन नैननि कै नीर सखी री, सेज भई घरनाउ।
चाहति हौं ताही पै चढ़ि कै, हरि जू कै ढिग जाउँ॥
लाल पियारे प्रान हमारे, रहे अधर पर आइ।
सूरदास-प्रभु कुंज विहारी, मिलत नहीं क्यौ धाइ॥

३९

वरु ए बदरौ बरषन आए।

अपनी अवधि जानि नँदनदन, गरजि गगन घन छाए॥
कहियत हैं सुर लोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक पिक की पीर जानि कै, तेउ तहाँ तै धाए॥
द्रुम किए हरित हरषि बेली मिली, दादुर मृतक जिवाए।
साजे निबिड़ नीड़ तृन ससि साँचि, पंछिनहूँ मन भाए॥
समुझति नही चूक सखि अपनी, बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास प्रभु रसिक सिरीमनि, मधुबन बसि बिसराए॥

४०

कोउ माई बरजे री इन मोरनि।

टेरत बिरह रह्यो न परे छिन, सुनि दुख होत करोरनि॥
चमकत चपल चहूँ दिसि दामिनि, अबर घन की घोरनि।
बरषत बूँद बान सम लागत, क्यौ जीवै इन जोरनि॥
चंद किरनि नैननि भरि पीवत, नाहिन तृप्ति चकोरनि।
सूरदास तौ ही पै जीवहि, मिलिहैं नद किसोरनि॥

४१

निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै, ह्वै गइ स्याम-स्याम जू की पाती॥
गोकुल बसत नदनदन के, कबहुँ बयारि न लागी ताती।
अरु हम उती कहा कहै ऊधौ, जब सुनि वेनु नाद संग जाती॥
उनकै लाड़ बदति नहि काहू, निसि दिन रसिक रास रस राती।
प्रान नाथ तुम कबहिं मिलौगे, सूरदास प्रभु बाल सघाती॥

४२

मधुकर हम न होहि वै बेलि।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रंग, करत कुसुम रस केलि ।।
बारे तै बर बारि बढ़ी है, अरु पोषी पिय पानि।
बिनु पिय परस प्रात उठि फूलत, होति सदा हित हानि ।।
ये बेली बिरहीं वृंदावन, उरझौ स्याम तमाल।
प्रेम पुहुप रस बास हमारे, बिलसत मधुप गोपाल ।।
जोग समीर धीर नहि डोलति, रूप डार दृढ़ लागीं।
सूर पराग न तजति हिए तैं, श्री गोपाल अनुरागी ।।

४३

हरि मुख निरखि निमेष बिसारे।
ता दिन तै ये भए दिगंबर, इन नैननि के तारे ।।
तजी सीख सब सास ससुर की, लाज जनेऊ जारे।
घूँघट पट छाँड़े बन बीथिनि, कह निसि रहत उघारे ।।
सहज समाधि रूप रुचि कारन, टरत न टक तै टारे।
ताकै बीच बिघन करिबै कौ, मातु पिता पचिहारे ।।
कहत सुनत समुझत मन महिमा, ऊधौ बचन तुम्हारे।
सूरदास ये हटक न मानत, लोचन हठी हमारे ।।

४४

ऊधो स्याम इहाँ ले आवहु।
ब्रजजन चातक मरत पियासे, स्वाति बूँद वरषावहु ।।
ह्याँ तै जाहु बिलंब करौ जनि, हमरी दसा जनावहु।
घोष सरोज भयौ है संपुट, है दिनकर बिगसावहु ।।
जौ ऊधौ हरि इहाँ न आवहि, तौ हमै उहाँ बुलावहु।
सूरदास प्रभु हमहि मिलावहु, तौ तिहुंपुर जस पावहु ।।

४५

ऊधौ जोग जोग हम नाही।
अबला सार ज्ञान कह जानै, कैसे ध्यान धराही ।।
तेई मूँदन नैन कहत हौ, हरि मूरति जिन माही।
ऐसी कथा कपट की मधुकर, हमतै सुनी न जाही ।।

स्रवन चीरि सिर जटा बँधावहु, ये दुख कौन समाही।
चदन तजि अँग भस्म बतावत, बिरह अनल अति दाही।।
जोगी भ्रमत जाहि लगि भूले, सौ तौ है अपमाही।
सूर स्याम तै न्यारी न पल छिन, ज्यो घट तै परछाही।।

४६

नैना भए अनाथ हमारे।
मदनगुपाल उहाँ तैं सजनी, सुनियत दूरि सिधारे।।
वै समुद्र हम मीन बापुरी, कैसें जीवै न्यारे।
हम चातक वै जलद स्याम घन, पियति सुधा रस प्यारे।।
मथुरा बसत आस दरसन की, जोह नैन मग हारे।
सूरदास हमकौं उलटी बिधि, मृतकहु तै पुनि मारे।।

४७

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति है जु गई।।
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न मई।।
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहि अंतर, यह कहि कै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज बिहार नित नई-नई।।

परमानन्ददास

जन्म—सं० १५५०

मृत्यु—सं० १६४१

स्थान—कन्नौज

१

धन्य धन्य बृन्दाबन के बासी।
निसि दिन चरन कमल अनुरागी स्यामा स्याम उपासी।
अष्ट महा सिधि द्वार तें ठाढ़ों रमा चरण की दासी,
पारस को जो मरम न जानो जाय बसो किन कासी।
भस्म रमाय गरे लिग बाँधी निस दिन फिरो उदासी,
परमानन्द दास को ठाकुर सुन्दर घोष निवासी।

२

गोपी प्रेम की ध्वजा।
जिन जगदीस किये बस अपने उर धरि स्याम भुजा।
सिव बिरंचि प्रसंसा कीनी ऊधो संत सराहि,
धन्य भाग गोकुल की बनिता अति पुनीति मुख माहि।
कहा विप्र घर जन्महिं पाये हरि सेवा विधि नाहिं,
देहि पुनित दास परमानन्द जे हरि सम्मुख जाहिं।

३

मदन गोपाल के रंगराती।
गिरि गिरि परत संभार न तन की अधर सुधा रस माती।
बृन्दाबन कमनीय सघन बन फूली चहुँ दिसि जाती।
मन्द सुगन्ध बहे मलयानिल अति जुड़ात मेरी छाती।
आनन्द मगन रहति प्रीतम संग ओस न जानति राती।
परमानन्द सुधाकर हरि मुख पीवत हू न अघाती।

४

जब ते प्रीति स्याम सों कीनी।
ता दिन ते मेरे इन नैननि नैकहु नीद न लीनी।
सदा रहत चित चाक चढ्यो सो और कछू न सुहाय।
मन में रहे उपाय मिलन को इहै विचारत जाय।
परमानन्द पीर प्रेम की काहू सों न कहीए।
जैसे विथा मूक बालक की अपने तन मन सहीए।

५

हरि तेरी लीला की सुधि आवति,
कमल नैन मन मोहनी मूरति मन मन चित्र बनावति ।
एक बार जाय मिलत मया करि सो कैले बिसरावति,
मृदु मुसिकानि वंक अवलोकनि चालि मनोहर भावति ।
कबहुँक निबिड़ तिमर आलिंगनि कबहुँक पिक स्वर गावति,
कबहुँक सम्भ्रम क्वासि क्वासि करि संग हीन उठि धावति ।
कवहुँक नयन मूँदि अंतरगति बनमाला पहिरावति,
परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे बिरह गँवावति ।

६

तुमको टेरि टेरि मै हारी ।
कहाँ रहे अबलों मन मोहन लेहो न छाक तुम्हारी ।
भूलि परी आवत मारग में क्यों हूँ न पेंडो पायो ।
बूझत बूझत यहाँ लों आई, तब तुम वेनु बजायो ।
देखो मेरे अंग पसीना उर को अंचल भीनो ।
परमानन्द प्रभु प्रीति जानि के आय आलिंगन कीनो ।

७

नन्दलाल सों मेरी मन मान्यो कहा करैगो कोई री ।
हों तो चरन कमल लपटानी जो भावे सो होय री ।
गृह पति मात पिता मोहि त्रासत हँसत बटाऊ लोग री ।
अब तो जिय ऐसी बनि आई विधिना रच्यो संयोग री ।
जो मेरो यह लोक जायगो और परलोक नसाय री ।
नन्द नन्दन को तौऊ न छाड़ँ मिलूँगी निशान बजाय री ।
यह तन घर वहुर्यो नहि पइये वल्लभ वेष मुरारि री ।
परमानन्द स्वामी के ऊपर सर्वस्व डारों वारि री ।

८

आज बनी दम्पति बरजोरी,
सांवर गौर बरन रूपनिधि नन्द किसार वृषभानु किसोरी ।

एक शीश पचरंग चूनरी, एक सीस अद्भुत पटखोरी,
मृगमद तिलक एक के मांथे, एक माथे सोहे मृदु रोरी।
नख शिख उभय भाँति छबि ऋतु बसन्त खेलत मिलि होरी,
अनिमै रंग बढ्यो परमानन्द प्रीति परस्पर नाहिंन थोरी।

९

राधा माधो बिनु क्यों जु रहे,
एक स्याम सुंदर के कारन और सबनि की निंदा सहै।
प्रथम भयो अनुराग दृष्टि ते इन मोहन मन हर्‍यो,
पीय के पाछे लागी डोलैं बंधु बरग सों वैरु पर्‍यो।
मन क्रम बचन और गति नाहिंन लोक वेद की लज्या तजी,
परमानन्द तब ते सचुपायो जब तें पद अंभोज भजी।

१०

मैं तो प्रीति श्याम सों कीनी,
कोऊ निन्दौ कोऊ बंदौ, अब तो यह धरि दीनी।
जो पतिव्रत तो या ढोटा सों इन्हें समर्थ्यो देह।
जो व्यभिचार तो नन्दनंदन सों बाढ्यो अधिक सनेह।
जो व्रत गह्यो सो और न भायो, मर्यादा को भंग।
परमानन्द लाल गिरिधर को पायों मोटे संग।

११

बहुरि हरि आबहु गे कि हि काम।
ऋतु बसंत अरु मकर बितीते, अरु बादर भये स्याम॥
तारे गगन गनत री माई, बीते चार्‍यौ याम।
और काज सबउ बिसरि गये हरि, लेत तुम्हारौ नाम॥
छिनु आँगन, छिन द्वारे ठाढ़ी, हम सूखत है घाम।
परमानन्द प्रभु रूप विचारत, रहे अस्थि अरु चाम।

१२

आछो नीको मुख भोर ही दिखाइये,
जिसके उनीदे नेंना बेंना तुतरात मीठे भावते हो जीके
मेरे सुख ही बढाइये।

सकल सुख करन त्रिविध ताप हरन उर की तिमिर बाढ्यो तुरत ही नसाइये,
द्वार ठाड़े ग्वाल बाल करो कलेउ लाल, मिसिरी रोटी छोटी मोटी माखन सों खाइये।
तनक सो मेरों कन्हाई वारि फेरि मेरी माई वेनी तो गुहों बनाय गहरू न लाइये,
परमानन्द जन जननि मुदित मन फूली फूली डोले अँग-अँग न समाइये।

१३

नेंक लाल टेकहु मेरी बहियाँ,
औघट घाट चढ्यो नहि जाई रपटति हों कालिन्दी महियाँ।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन देखि स्वरूप ग्वालि
उपजी प्रीति काम अंतर गति तब नागर नागरि
हँसि ब्रजनाथ गह्यो कर पल्लव जैसे भरी गगरी गिरन
परमानन्द ग्वालिनी सयानी कमल नेंन तन परख्यो भावे।

१४

चली उठि कुंज भवन तें भोर,
डगमगात लटकत लट छूटे पहरे पीत पटोर।
अरुन नैन घूमत आलस बस मनु रस सिंधु हिलोर,
गिरि गिरि परत गलित कुसुमावलि सिथिल सीस कच डोर।
पद नख अंक जुगल राजत बर राजित सुभग हिये तन गोर,
परमानन्द प्रभु रमी निसा अब लपटि हँसी मुख मोर।

१५

मानिनी ऐतो मान न कीजै,
यह जोबन अँजुली को जल ज्यों जब गोपाल मांगे तब दीजे।
निति दिन घटे बढे नहीं सुंदरि जैसे कला चंद की छीजे,
पूरन पुन्य सुब्रत फल तेरो काहे न रूप नैन भरि पीजे।
चरन कमल की सपति करति हों ऐसो जीवन दिन दस जीजे,
परमानन्द स्वामी सों मिलि के अपनो जनम सफल करि लीजे।

१६

राधा रसिक गोपालहिं भावै,
सब गुन निपुन नवल अंग सुन्दर प्रेम मुदित कोकिल स्वर गावै।

पहेरि कुसूँभी कटाव की चोली चंद्र बधू-सी ठाढ़ी सोहै,
सावन मास भूमि हरियाली मृग नैनी देखत मन मोहै।
उपमा कहा देउँ को लाइक, केहरि की वाही मृगलोचनि,
परमानन्द प्रभु प्रानबल्लभा चितवनि चारु काम सर मोचनि।

१७

यह बिरियाँ बनते आवते,
दूरहिं ते बर बेनु अधर धर बारंबार बजावते।
कबहुँक केहू भाँति चतुरचित अति ऊँचे सुर गावते,
कबहुँक लै-लै नाउँ मनोहर धौरी धेनु बुलावते।
यह मिस नाउँ मनोहर धौरी धेनु बुलावते।
यह मिस नाउँ सुनाय श्याम घन मुरछे मनहि जगावते,
आगम सुख उपचार बिरह जुर बासर अंत नसावते।
रुचि रुचि प्रेम पिया सेंन दे क्रम क्रम बलिहि बढावते,
परमानन्द प्रभु गुन निधि दरसन, पुनि पथ प्रगट करावते।

१८

हरि बिनु बैरिनी रैनि बढ़ी,
हम अपराधिनि निठुर बिधाता काहे को सँवारि गढी।
तन मन जोवन वृथा जातु है विरहा अनल डढी,
नंदनंदन को रूप बिचारत निसि धर होरि चढ़ी।
जिहि गोपाल मेरे बस होते सो विद्या न पढ़ी,
परमानन्द स्वामि न मिले तो घरते भली मढ़ी।

१९

इतनी दूर मदन मोहन की कछू आवत नाहिंन पाती,
ज्यों-ज्यों गहरु करत हैं मधुवन त्यों त्यों धधकत छाती।
गत वसन्त ग्रीषम रितु प्रगटी बनस्पति सब पाती,
चातुक मोर कोकिला कलरव ए विरहिनि के घाती।
कहाँ लगि जाँहि कौन सों कहिए बेलि जगावहि राती,
परमानन्द प्रभु चलत न जाने तौ संगहि उठि जाती।

२०

अति मंजुल जल प्रवाह मनोहर सुखावगाह नवद्युति, राजति अति तरणिनन्दनी,
श्याम वरण झलक रूप, लोल लहर वर अनूप सेवित सतत मनोज वायु मंदिनी।
कुमुद कंजबन बिकास मंडित दिश दिश सुवास, कुजत अलि हंस कोक मधुर छंदिनी।
प्रफुल्लित अरविद पुंज कोकिल कलसार गुंज गावन अलि मंजु पुंज बिबिध वंदिनी।
नारद शिव सनक व्यास ध्यावत मुनि धरत आस, चाहत पुलिनवास, सकल दु.ख निकंदनी,
नाम लेत कटत पाप मुनि किन्नर ऋषि कलाप करत जाप परमानन्द महा अनंदिनी।

२१

रहि री ग्वालि जोबन मदमाती,
मेरे छँगन मँगन से लालहिं कत लै उछग लगावति छाती।
खीजत ते अबही राख्यो है, नान्ही उठत दूध की दाँती,
खेलन दे, घरु जाय आपने, डोलति कहा इतो इतराती।
उठि चली ग्वालि, लाल लागे रोवन, तब जसोमति ल्याई बहुभाँती,
परमानन्द ओट दे अंचर फिरि आई नैननि मुसकाती।

२२

प्रेम की पीर सरीर न माई,
प्रबल सूल रह्यो जात न सखि री (आवे रोबु न गाई)।
निस वासर जिय (रहत चटपटी) यह (धुकधुकी न जाई),
कासों कहों (भरम की) माई, उपजी कौन उपाई,
हो जानति हों मेरे मन कों (लागी है कछु बाई)।

मीराँबाई

जन्म—सं० १५७३

मृत्यु—सं० १६०३

स्थान—मेड़ता (राजस्थान)

पद

१

म्हाने चाकर राखोजी, गिरधारी लला, चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ, बाग लगासूँ, नित उठ दरसन पासूँ॥
वृन्दाबन की कुंज गलिन में, गोबिन्द लीला गासूँ।
चाकरी में दरसन पाऊँ, सुमिरन पाँऊ खरची॥
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बातां सरसी।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, गल बैजन्ती माला॥
वृन्दाबन में धेनु चरावे, मोहन मुरली वाला।
ऊँचे ऊँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी॥
सांवरिया के दरसन पाऊँ, पहिर कुसुम्भी सारी।
जोगी आया जोग करन कूँ, तप करने संन्यासी॥
हरी भजन कूँ साधू आये, वृन्दाबन के बासी।
मीराँ के प्रभु गहिर गम्भीरा, हृदे रहो जी धीरा॥
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हो, प्रेम नदी के तीरा॥

२

म्हांरो जनम मरन को साथी, थाँ ने नहिं बिसरूँ दित राती।
तुम देख्यो बिन कल न पड़त है, जानत मेरी छाती॥
ऊँची चढ़ चढ़ पंथ निहारूँ, रोय रोय अँखियाँ राती।
यो संसार सकल जग झूठो, झूठाँ कुल रानाती॥
दोउ कर जोड़्याँ अरज करत हूँ, सुण लीजो मेरी बाती।
यो मन मेरो बड़ो हरामी, ज्यूँ मदमातो हाथी॥
सतगुरु दस्त धर्यो सिर ऊपर, आँकुस दे समझाती।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, हरिचरणाँ चित राती॥
पल पल तेरा रूप निहारूँ, निरख निरख सुख पाती॥

३

रघुनन्दन आगे नाचूँगी॥
नाच नाच रघुनाथ रिझाऊँ प्रेमी जन को जाँचूँगी।
प्रेम प्रीत का बाध घघूँरा सुरत की कछनी काछूँगी॥

लोक लाज कुल की मरजादा या में एक न राखूँगी।
पिया पलंगा जा पौढूंगी मीराँ हरि रंग राचूँगी ॥

४

जागिया ने कहियो रे सँदेस।

आऊँगा मै नाहि रहूँ रे कर जटाधारी भेस ॥
चीर को फाड़ कंथा पहिरूँ लेऊँगी उपदेस।
गिनते गिनते घिस गई रे मेरी उंगलियों की रेख ॥
मुद्रा माला भेष लूँ रे, खप्पड़ लेऊँ हाथ।
जोगिन होय जग ढूँढ सूँ रे, साँवलिया के साथ ॥
प्राण हमारा वहाँ बसत है, यहाँ तो खालो खोड़।
मात पिता परिवार सूँ रे रही तिनका तोड़ ॥
पाँच पचीसो बस किये, मेरा पल्ला न पकड़े कोय।
मीराँ व्याकुल बिरहिनी, कोइ आन मिलावै मोय ॥

५

म्हाँरे घर आज्यो प्रीतम प्यारा तुम बिन सब जग खारा।
तन मन धन सब भेंट करूँ और भजन करूँ मैं थाँरा।
तुम गुणवंत बड़े गुण सागर मै हूँ जी औगुण हारा ॥
मै निगुणी, गुण एको नाही, तुझ में जी गुण सारा।
मीराँ कहै प्रभु कबहि मिलौगे ? बिन दरसण दुखियारा ॥

६

मन रे परसि हरि के चरन।

सुभग सीतल कँवल कोमल, त्रिबिध ज्वाला हरन।
जिन चरन प्रह्लाद परसे, इन्द्र पदवी धरन ॥
जिन चरक ध्रुव अटल कीने, राखि अपनी सरन।
जिन चरन ब्रह्मांड मेंट्यो, नख सिख सिरी धरन ॥
जिन चरन प्रभु परसि लीनो तरी गोतम धरन।
जिन चरन कालीनाग नाथ्यो, गोपि लीला करन ॥
जिन चरन गोवरधन धार्यो, इन्द्र को गर्व हरन।
दासि मीराँ लाल गिरधर, अगम तारण तरन ॥

७

आली रे, मेरे नैनन बान पड़ी।
चित चढी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अडी।
कब की ठाढी पंथ निहारूँ, अपने भवन खडी ?
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ, जीवत मूल जड़ी ?
मीराँ गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहै बिगड़ी॥

८

सखी मेरी नीद नसानी हो।
पिया को पंथ निहारते, सब रैन बिहानी हो॥
सखियन मिल के सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिन देखे कल ना परे, जिय ऐसी ठानी हो॥
अंग छीन व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो।
अन्तर बेदन बिरह की वह पीर न जानी हो॥
ज्यौ चातक घन को रहें, मछरी जिमि पानी हो।
मीराँ ब्याकुल बिरहिनी, सुध बुध बिसरानी हो॥

९

हेरी, मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस बिध सोना होय ?
गगन मडल पै सेज पिया की, किस बिध मिलना होय।
घायल की गति घायल जानै, की जिन लाई होय।
जौहरी की गति जौहरी जानै, की जिन जौहर हौय।
दरद की मारी बन बन डोलूँ बैद मिला नहि कोय।
मीराँ की प्रभु पीर मिटैगी जब बैद सँबलिया होय॥

१०

मेरे तो गिरधर गुपाल, दूसरो न कोई।
जा के सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई।
तात, मात, भ्रात, बंधु, अपना नहि कोई॥
छांड़ दई कुल की कान, क्या करेगा कोई ?
संतन ढिग बैठि बैठि, लोक लाज खोई॥

चुनरी के किये टूक टूक, ओढ़ लीन्ह लोई।
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई ।।
अँसुवन जल सीचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेलि फैल गई, आनँन्द फल होई ।।
दूध की मथनिया, बड़े प्रेम से बिलोई।
माखन जब काढ़ि लियो, छाछ पिये कोई ।।
आई मै भक्ति काज, जगत देख मोही।
दासी मीराँ गिरधर प्रभु तारे अब मोही ।।

११

स्याम मोसूँ ऐंडो डोले हो।
औरन सूँ खेले धमार म्हाँसू मुखहुँ न बोले हो ।।
म्हारी गलियाँ न फिरे, वाके आंगण डोले हो।
म्हारी अँगुली ना छुवे, वाकी बहियाँ मोरे हो ।।
म्हारी अँचरा ना छुवे, वाको घूँघट खोले हो।
मीरा को प्रभु साँवरो, रंगरसिया डोले हो ।।

१२

पिया मोहि आरत तेरी हो।
आरत तेरे नाम की, मोहि साँझ सबेरी हो ।।
या तन को दिवला करूँ, मनसा की बाती हो।
तेल जलाऊँ प्रेम को, बालूँ दिन राती हो ।।
पटियाँ पारूँ ज्ञान की, बुधि माँग सँवारूँ हो।
पिया तेरे कारणे, धन जोबन गारूँ हो।
सेजड़िया बहु रँगिया, चंगा फूल बिछाया हो।
रैन गई, तारा गिनत, प्रभु अजहु न आया हो ।।
आया सावन, भदवा, बर्षा ऋतु आई हो।
स्याम पधार्‌या सेज मे, सूती सैन जगाई हो ।।
तुम हो पूरे साइयाँ, पूरा सुख दीजे हो।
मीराँ व्याकुल विरहिणी, अपनो कर लीजे हो ।।

१३

बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहनी मूरति, साँवरि सूरति, बने नैन बिसाल ।।

अधर-सुधा रस मुरली राजित, उर वैजन्ती माल।
छुद्र घटिका कटि नट सोभित, नूपुर शव्द रसाल ॥
मीराँ प्रभु संतन सुखदाई, भक्त बछल गोपाल ॥

१४

माई मै तो लियो रमैयो मोल।
कोई कहे छानी, कोइ कहे चोरी, लियो है बजता ढोल ॥
कोई कहे कारो, कोई कहे गोरो, लियो है मै आँखी खोल।
कोई कहे हल्का, कोई कहे भारी, लियो है तराजू तोल ॥
ननका गहना मै सब कुछ दीन्हा, दियो हैं बाजूवँद खोल।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, पुरब जनम का है कोल ॥

१५

तेरा कोइ नहि रोकन हार, भवन होय मीरा चली।
लाज, सरम, कुल की मरजादा, सिर से दूर करी।
मान अपमान दोऊ धर पटके, निकली हूँ ज्ञान गली ॥
ऊंची अटरिया, लाल किवड़िया, निरगुरा सेज बिछी।
पँचरंगी झालर तुम सोहै, फूलन फूलन कली ॥
बाजूबंद कडूला सोहै, माँग सेंदूर भरी।
सुमिरन थाल हाथ में लीन्हा, सोभा अधिक भली ॥
सेज सुखमणा मीराँ सोवे, सुभ है आज घरी।
तुम जावो राणा घर अपने, मेरी तेरी नाहि सरी ॥

१६

राणा जी ! मै गिरधर रे घर जाऊँ।
गिरधर म्हाँरो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ ॥
रैन पड़े तब ही उठ जाऊ, भोर भये उठ जाऊँ।
रैन दिना वा के संग खेलूँ, मो रीझे ज्यों रिझाऊँ ॥
जो वस्त्र पहिरावै सोई पहिरूँ, जो देवे सो खाऊँ।
मेरे उनके प्रीत पुरानी, उन बिन पल न रहाऊँ ॥
जहँ बैठावे तितही वैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ।
जन मीराँ गिरधर के ऊपर, बार बार बलि जाऊँ ॥

१७

रमैया मै तो थाँरे रँग राती।
औराँ के पिय परदेस बसत है, लिख लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हिरदे बसत है, गूँज करूँ दिनराती।।
चूवा चोला पहिर सखी री, मै झुरमट रमवा जाती।
झुरमट में मोहि मोहन मिलिया, खोल मिलूँ गलबाटी।।
और सखी मद पी पी माती, मै बिन पीयाँ मदमाती।
प्रेम भठी को मै मद पीयो, छकी फिरूँ दिनराती।।
सुरत - निरत का दिवला सँजोया, मनसा पूरत बाती।
अगम घाणि का तेल सिचाया, बाले रही दिनराती।।
जाऊँ नी पीहरिये जाऊँ नी सासुरिये, सतगुरु सैन लगाती।
दासी मीराँ के प्रभु गिरधर, हरि चरना की मैं दासी।।

१८

नैनन बनज बसाऊँ री, जो मै साहिब पाऊँ री।।
इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न जाऊँ री।
त्रिकुटी महल मे बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।।
सुन्न महल मे सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बल जाऊँ री।।

१९

कैसे जिऊँ री माई हरि बिन कैसे जिऊँ री ?
उदक दादुर पीनयत है, जल से ही उपजाई।
पल एक जल कूँ मीन बिसरै, तलफत मर जाई।।
पिया बिना पीली भई रे (बाला) ज्यों काठ घुन खाई।
औषध मूल न संचरै रे (बाला) बैद फिर जाई।।
दासी होय बन बन फिरूँ रे, बिथा तन छाई।
दासी मीराँ लाल गिरधर, मिल्यो हे सुखदाई।।

२०

सखी री मै तो गिरधर के रँगराती।
पचरँग मेरा चोला रँग दे, मै झुरमट खेलन जाती।

झुरमट में मेरा साईं मिलेगा, खोल अडम्बर गाती ।।
चदा जायगा सुरज आयगा, जायगा धरण अकासी ।
पवन पाणी दोनों हीं जायँगे, अटल रहे अबिनासी ।।
सुरत निरत का दिवला सँजो ले, मनसा की कर बाती ।
प्रेम हटी का तेल बना ले, जगा करे दिन राती ।
जिनके पिया परदेश बसत है, लिखि लिखि भेजें पाती ।
मेरे पिय मो माहि बसत है, कहूं न आनी जाती ।।
पीहर वसूँ न बसूँ सास घर, सतगुरु सब्द सँगाती ।
ना घर मेरा ना घर तेरा, मीराँ हरि रँग राती ।।

२१

रमैया बिन नींद न आवे ।
नींद न आवे बिरह सतावे, प्रेम की आँच ढुलावे ।।
बिन पिया जाते मन्दिर अँधियारो, दीपक दाय न आवे ।
पिया बिन मेरी सेज अलूनी, जागत रैण बिहावे ।।
पिया कब रे घर आवे ।
दादुर मोर पपिहरा बोलै, कोयल सबद सुणावे ।
घुमँड घटा ऊलर होई आई, दामिन दमक डरावे ।।
नैन कर लावे ।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी, बेदन कूण बुतावे ।
बिरह नागण मोरी काया डसी है, लहर लहर जिव जावे ।।
जड़ी घस लावे ।
को है सखा सहेली सजनी, बेदन कूण बुतावे ।
बिरह नागण मोरी काया डसी है, लहर लहर जिव जावे ।।
जड़ी घस लावे ।
को है सखा सहेली सजनी, पिया कूँ आन मिलावे ?
मीराँ कूँ प्रभु कब रे मिलोगे, मनमोहन मोहि भावे ।।
कबै हँस कर बतलावे ।

२२

आवत मोरी गलियन में गिरधारी, मै तो छुप गई लाज की मारी ।।
कुसुमल पाग केसरया जामा, ऊपर फूल हजारी ।
मुकुट ऊपरे छत्र बिराजे, कुडल की छबि न्यारी ।।

केसरी चीर दरयाई को लेंगो, ऊपर अँगिया भारी।
आवते देखी किसन मुरारी, छुप गई राधा प्यारी॥
मोर मुकट मनोहर सोहे, नयनों की छबि न्यारी।
गल मोतिन की माल बिराजे, चरण कमल बलिहारी॥
ऊभी राधा प्यारी अरज करत है, सुण जे किसन मुरारी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल पर वारी॥

२३

मीराँ मगन भई, हरि के गुण गाय।
साँप पेटारा राणा भेज्या मीराँ हाथ दियो जाय।
न्हाय धोय जब देखन लागी, सालिगराम गई पाय।
जहर का प्याला राणा भेज्या, अमृत दीन्ह बनाय।
न्हाय धोय जब पीवन लागी, हो अमर अंचाय।
सूल सेज राणा ने भेजी, दीज्यो मीरा सुलाय।
मीराँ के प्रभु सदा सहाई, राखे बिघन हटाय।
भजन भाव मे मस्त डोलती, गिरधर पै बलि जाय।

२४

फागुन के दिन चार रे, होली खेल मना रे।
बिन करताल पखावज बाजे, अनहद की झनकार रे।
बिन सुर राग छतीसूँ गावे, रोम रोम रँग सार रे।
सील संतोष की केसर घोली, प्रेम प्रीत पिचकार रे।
उड़त गुलाल, लाल भये बादल, बरसत रंग अपार रे।
घट के पट सब खोल दिये है, लोक लाज सब डार रे।
होली खेल प्यारी पिय घर आये, सोइ प्यारी पिय प्यार रे।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरन कँवल बलिहार रे।

२५

मतवारो बादल आयो रे, हरि को सँदेसो कछु नहिं लायो रे।
दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल शब्द सुनायो रे।
कारी अँधियारी, बिजली चमके, बिरहिन अति डरपायो रे।
गाजे बाजे पवन मधुरिया, मेहा अति झड़ लायो रे।
फूँके काली नाग बिरह की जारी मीराँ मन हरि भायो रे।

२६

बादल देख डरी हो, स्याम मैं बादल देख डरी।
काली पीला घटा उमंगी, बरस्यो एक घरी।
जित जाऊँ तित पानिंहि पानी, हुई सब भोम हरी।
जा का पिव परदेस बसत है, भीजै बहार खरी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, कीज्यो प्रीत खरी।

नन्ददास

जन्म—सं० १५९०

मृत्यु—सं० १६४३

स्थान—रामपुर

जदपि सहज माधुरी बिपिन सब दिन सुखदाई।
तदपि रँगीली सरद समय मिलि अति छबि पाई।।
ज्यौं अमोल नग जगमगाय सुन्दर जराय सँग।
रूपवंत गुनवंत भूरि भूषन भूषित अँग।।
रजनी मुख सुख देत ललित मुकुलित जु मालती।
ज्यों नव जोबन पाइ लसति गुनवती बाल ती।।
नव फूलनि सो फूलि फूलि अस लगति लुनाई।
सरद छबीली छपा हँसत छबि सों मनु आई।।
ताही छिन उडुराय उदित रस रास सहायक।
कुमकुम मंडित प्रिया बदन जनु नागर नायक।।
कोमल किरन अरुनिमा बन मै व्यापि रही अस।
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ि घुरि रह्यौ गुलाल जस।।
फटिक छरी सी किरन कुंज-रध्रनि जब आई।
मानों बितनु बितान सुदेस तनाउ तनाई।।
मंद मंद चलि चारु चद्रिका अस छबि पाई।
उझकति हैं पिय रमा रमन कौ मनु तकि आई।।
तब लीनी कर कमल जोगमाया सी मुरली।
अघटित घटना चतुर बहुरि अधरासव जुर ली।।
जाकी धुनि तें अगम निगम प्रगटे बड़ नागर।
नाद ब्रह्म की जननि मोहिनी सब सुख सागर।।
नागर नवल किसोर कान्ह कल-गान कियो अस।
बाम बिलोचन बालन को मन हरन होइ जस।।
सुनत चली ब्रजबधू गीत धुनि को मारग गहि।
भवति भीति द्रुम कुंज पुंज कितहूँ अटकी नहि।।
नाद अमृत को पंथ रँगीलो सूछम भारी।
तिहि ब्रज तिय भले चलीं आन कोउ नहि अधिकारी।।
जे रहि गईं घर अति अधीर गुनमय सरीर बस।
पुन्य पाप प्रारब्ध सँच्यौ तन नहिंन पच्यौ रस।।
परम दुसह श्रीकृष्ण-बिरह-दुख व्याप्यो तिन मै।
कोटि बरस लग नरक भोग अघ भुगते छिन मै।।

जिय पिय को धरि ध्यान तनिक आलिगन किय जब।
कोटि स्वर्ग सुख भोग छीन कीने मंगल सब ।।
इतर धातु पाहनहि परसि कचन है सोहै।
नद सुअन सों परम प्रेम इह अचरज को है ।।
तेउ पुनि तिहि मग चली रँगीली तजि गृह संगम।
जनु पिजरनि तें उड़े छुटे नव प्रेम बिहंगम ।।
सावन सरित न रुकै करै जौ जतन कोउ अति।
कृष्ण गहे जिनको मन ते क्यों रुकहि अगम गति ।।
सुद्ध जोतिमय रूप पाँच भौतिक तें न्यारी।
तिनहि कहा कोउ गहै जोति सी जगत उज्यारी ।।
जदपि कहूँ के कहूँ बधुनि आभरन बनाए।
हरि पिय पै अनुसरत जही के तहिं चलि आए ।।
तिनके नूपुर नाद सुने जब परम सुहाए।
तब हरि के मन नैन सिमिटि सब स्रवननि आए ।।
झुनक मुनक पुनि छबिलि भाँति सब प्रकट भई जब।
पिय के अँग अँग सिमटि मिले छबिले नैननि तब ।।
सुभग वदन सव चितवन पिय के नैन बने यों।
बहुत सरद ससि माहि अरबरे द्वै चकोर ज्यो ।।
अति आदर करि लई भई पिय पै ठाढ़ी अनु।
छबिलि छटनि मिलि छेक्यौ मंजुल घन मूरति जनु ।।
नागर गुरु नँदनँद चंद हँसि मंद मंद तब।
बोले बाँके बैन प्रेम के परम ऐन सब ।।
उज्जल रस कौ यह सुभाव बाँकी छबि छावै।
बंक चहनि पुनि कहनि बंक अति रसहि बढावै ।।
अहो तिया कहा जानि भवन तजि कानन डगरीं।
अर्द्ध गई सर्वरी कछुक डर डरीं न सगरी ।।
लाल रसिकं के बंक बचन सुनि चकित भई यौं।
बाल-मृगिनि की माल सघन बन भूलि परी ज्यौं ।।
मंद परसपर हँसीं लसीं तिरछी अँखियाँ अस।
रूप उदधि उतराति रँगीली मीन पाँति जस ।।
जव पिय कह्यो घर जाहु अधिक चित चिंता बाढ़ी।
पुतरिन की सी पाँति, रहि गईं इक टक ठाढ़ी ।।
दुख के बोझ छवि-सींव ग्रीव नै चली नाल सी।
अलक अलिन के भार नमित मनु कमल माल सी ।।

हिय भरि बिरह हुतासन सासन सँग आवत झर।
चले कछुक मुरझाइ मधु भरे अधर बिंब बर।।
तब बोली ब्रजबाल लाल मोहन अनुरागी।
गदगद सुन्दर गिरा गिरिधरहि मधुरी लागी।।
अहो अहो मोहन प्राननाथ सोहन सुखदायक।
कूर बचन जनि कहौ नहिन ये तुम्हरे लायक।।
जो कोउ बूझै धरम तबहि तासो कहिए पिय।
बिन ही बूझे धरम कहत क्यों, कहि दहिए हिय।।
नेम धर्म जप तप ये सब कोउ फलहि बतावै।
यह कहुँ नाहिंन सुनी जो फल फिरि धरम सिखावै।।
अरु यह तुम्हरौ रूप धरमि के धरमहिं मोहै।
घर मै को तिय भरम धरमहि आगे को है।।
नगनि (न) कों धरम न रह्यौ पुलकि तन चले ठौर में।
खग मृग गो बछ मच्छ कच्छ ते रहे कौर ते।।
त्यौं ही पिय की मुरली जुरली अधर सुधा रस।
सुनि निजु धरम न तजै तरुनि त्रिभुवन महि को अस।।
सुनि गोपिन के प्रेम बचन सी आँच लगी जिय।
पिघरि चल्यो नवनीत मीत नवनीत सदृस हिय।।
विहँसि मिले नँदलाल निरखि ब्रजबाल बिरह बस।
जदपि आतमाराम रमत भए परम प्रेम बस।।
बिहरत बिपिन बिहार उदार नवल नँदनदन।
नव कुमकुम घनसार चारु चरचित तन चंदन।।
गोपीजन मन गोहन मोहन लाल बने यौं।
अपनी दुति के उड़गन उडुपति घन खेलत ज्यौ।।
कुंजनि कुंजनि डोलनि मनु घन तें घन आवनि।
लोचन तृषित चकोरन के चित चोप बढ़ावनि।।
सुभग सरित के तीर धीर बलबीर गए तहँ।
कोमल मलय समीर छबिन की महा भीर जहँ।।
कुसुम धूरि धूँधरी कुंज छबि पुंजनि छाई।
गुंजत मजु अलिद बेनु जनु बजति सुहाई।।
इत महकति मालती चारु चंपक चित चोरत।
इत घनसार तुसार मलय मंदार झकोरत।।

इत लवग नवरंग एलि इत झेलि रही रस।
इत कुरुवक केवरा केतकी गंध बधु बस ।।
इत तुलसी छबि हुलसी छाँडति परिमल लपटै।
इत कमोद आमोद गोद भरि भरि सुख दबटै ।।
उज्जल मृदुल बालुका कोमल सुभग सुहाई।
श्री जमुना जू निज तरंग करि यह जु बनाई ।।
बिलसित बिबिध बिलास हास नीबी कुच परसत।
सरसत प्रेम अनग रग नव घन ज्यौ बरसत ।।
तहँ आयो यह मौन पचसर कर है जाके।
ब्रह्मादिक कों जीति बढ़ि रह्यौ अति मद ताके ।।
निरखि ब्रजबधू सग रग भरे नव किसोर तन।
हरि मनमथकरि मथ्यौ उलटि वा मनमथ को मन ।।
मुरछि पर्‌यो तब मैन कहूँ धनु कहुँ निषंग सर।
लखि रति पति की दसा भीत भइ मारति उर कर ।।
पुनि पुनि पियहि अलिंगति रोवति अति अनुरागी।
मदन के बदन चुवाइ अमृत भुज भरि लै भागी ।।
अस अद्‌भुत पिय मोहन सो मिलि गोप दुलारी।
नहि अचरजु जौ गरब करहि गिरिधर की प्यारी ।।
रूप भरी गुन भरी भरीं पुनि परम प्रेम रस।
क्यौ न करै अभिमान कान्ह भगवान किए बस ।।
जहँ नदि नीर गँभीर तहाँ भल भँवरी परई।
छिल छिल सलिल न परै परै तौ छबि नहिं करई ।।
प्रेम पुंज बरधन के काज ब्रजराज कुँअर पिय।
मंजु कुज मै नेकु दुरे अति प्रेम भरे हिय ।।
मधुर वरतप ज्यों खात निरंतर सुख तौ भारी।
बीचि बीचि कटु अम्ल तित्त अतिसय रुचिकारी ।।
ज्यों पटु पट के दिए निपट ही रसहि परै रँग।
तैसहि रंचक बिरह प्रेम के पुंज बढत अँग ।।
जिनके नैन निमेष ओट कोटिक जुग जाही।
तिनके गृह बन कुंज ओट दुख अगनित आही ।।
थकि सी रहीं ब्रजबाल लाल गिरिधर पिय बिनु यौं।
निधन महानिधि पाइ बहुरि ज्यों जाइ भई त्यौ ।।

है गइ विरह बिकल तब बूझत द्रुम बेली बन।
को जड को चैतन्य कछु न जानत बिरही जन॥
हे मालति ! हे जाति ! जूथिके ! सुनियत दै चित।
मान हरन मन हरन गिरधरन लाल लखे इत॥
हे केतकि ! इत कितहूँ तुम चितए पिय रूसे।
किधौं नंद-नँद (न) मद मुसकि तुमरे मन मूसे॥
हे मुकताफल वेलि ! धरे मुकता-मनि माला।
देखे नैन बिसाल मोहनै नँद के लाला॥
हे मंदार उदार वीर करवीर महामति।
देखे कहुँ वलबीर धीर मन हरन धीर गति॥
ए चंदन ! दुखकदन सब कहुँ जरत सिरवाहहु।
नँदनदन जगबंदन वंदन हमहि मिलावहु॥
बूझहु री इन लतनि फूलि रही फूलनि सोही।
सुन्दर पिय कर परस विना अस फूल न होही॥
हे सखि ये मृगबधू इनहि किन बूझहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबहि कतहूँ चितए हरि॥
अहो अहो कदंब, अहो अब, निंब, क्यों रहे मौन गहि।
अहो बट ! तुंग सुरग बीर कहुँ इत उलहे लहि॥
जमुन निकट के बिटप पूछि भईं निपट उदासी।
क्यों कहिहै सखि महा कठिन ये तीरथ बासी॥
हे अवनी ! नवनीत-चोर चित चोर हमारे।
राखे कितहि दुराइ बतावहु प्रान पियारे॥
अहो तुलसी कल्यानि ! सदा गोबिद पद प्यारी।
क्यों न कहति तू नँदनंदन सों दसा हमारी॥
अपने मुख चाँदने चलै सुन्दरि तिन माही।
जहँ आवै तम पुंज कुंज गहबर तरु छाही॥
इहि बिधि बन धन बूझि ढूँढ़ि उनमत की नाईं।
करन लगी मन हरन लाल लीला मनभाईं॥
मोहन लाल रसाल की लीला इनही सोहै।
केवल तनमय भई न जानति कछ हम को है॥
भृंगी भयते भृंग होत इक कीटु महा जड़।
कृष्ण भगति तें कृष्ण होन कछ नहिं अचरज बड़॥

तब पायो पिय पद-सरोज कों खोज रुचिर तहँ।
जब, गद, अकुस, कुलिस, कमल छबि जगमगात जहँ।।
जो रज सिव अज कमला खोजत जोगी जन हिय।
ते सब बंदन करन लगी सिर धरन लगी तिय।।
देखे ढिग जगमगत तहाँ प्यारी तिय के पग।
चितय परस्पर चकित भईं जुरि चली तिही मग।।
आगे चलि पुनि अवलोकी नवपल्लव सैनी।
जहँ पिय मुसुम कुसुम लै मुकर गुही है बेनी।।
तहँ पायो इक मजु मुकुर मनि जटित बिलोलै।
तिहि बूझै ब्रजबाल बिरह भरि सोउ न बोलै।।
तर्क करत अपमाहि अहो यह क्यों कर लीन्ह्यो।
तिन मैं तिनके हिय की जानि उन उत्तर दीन्ह्यौ।।
बेनी गुहन समय छबिलो पाछे बैठो जब।
सुन्दर बदन बिलोकनि पिय के अंतरु भयो तब।।
ताते मजुल मुकुर सुकर ले बाल दिखायो।
श्री मुख को प्रतिबिब सखी तव सनमुख आयो।।
धन्न कहत भईं ताहि नाहिं कछु मन में कोपी।
निरमत्सर जे सत तिनकि चूडामणि गोपी।।
इन नीके आराधै हरि ईश्वर बर जोई।
ताते निधरक अधर सुधारस पीबत सोई।।
आगें चलि पुनि तनक दूरि देखी सो ठाढी।
जासों सुन्दर नंद कुँअर पिय अति रति बाढी।।
गोरे तन की जोति छूटि छबि छाय रही घर।
मानहु ठाढी कुँअरि सुभग कचन अवनी पर।।
जनु घन ते बिजुरी बिछुरी मानिनि तनु काछे।
किधौ चन्द्र सों रूसि चन्द्रिका रहि गइ पाछे।।
नयननि तें जलधार हार धोवत धर धावत।
भँवर उड़ाइ न सकति बास बस मुख ढिग आवत।।
कासि कासि पिय महाबाहु यों बदति अकेली।
महाबिरह की धुनि सुनि रोवत खग द्रुम बेली।।
दौरि भुजनि भरि लई सबनि लै लै उर लाई।
मनहुँ महा निधि खोइ मध्य आधी निधि पाई।।

जित तित तें सब अहुरि बहुरि जमुना तट आईं।
जहँ नँदनदन जग बदन पिय लाड़ बड़ाईं ।।
कहन लगीं अहो कुँअर कान्ह ब्रज प्रगटे जब ते।
अवधि भूत इंद्रादि इहाँ क्रीडत है तब तें ।।
नैन मूँदिबो महा शस्त्र लै हाँसी हाँसी।
मारत हौ कित मुहथ नाथ बिनु मोल की दासी ।।
जब तुम जसुदा सुवन भये पिय अति इतराने।
विश्व कुसल के काज बिधिहि बिनती कै आने ।।
अहो मीत, अहो प्राननाथ यह अचरज भारी।
अपननि जौ मरिहौ करिहौ काकी रखवारी ।।
जब पसु चारन चलत चरन कोमल धरि वन मैं।
सिल त्रिन कंटक अटकत कसकत हमरे मन मैं ।।
प्रनत मनोरथ करन चरन सरसीरुह पिय के।
कहाँ घटि जैहै नाथ हरत दुख हमरे हिय के ।।
फनी फनन पर अरपै डरपै नहिन नैकु तब।
छबिली छातिन धरत डरत कत कुँअर कान्ह अब ।।
जानत है हम तुम जु डरत ब्रजराज दुलारे।
कोमल चरन सरोज उरोज कठोर हमारे ।।
हरें हरें धिर पीय हमहि तौ प्रान पियारे।
कत अटवी महि अटत गडत तृन कूट न न्यारे ।।
यहि बिधि प्रेम सुधानिधि में अति बढी कलोलै।
है गई विह्वल बाल लाल सों अजबल बोलै ।।
तब तिनही में ते निकसे नँदनंदन पिय यौं।
दृष्टि बध कै दुरै बहुरि प्रगटै नटबर ज्यौं ।।
पीत बसन बनमाल बनी मंजुल मुरली हथ।
मंद मधुरतर हँसत निपट मनमथ के मनमथ ।।
पियहि निरखि तिय बृंद उठी सब इकै बार यौं।
परि घट आए प्रान बहुरि उझकत इन्द्री ज्यौं ।।
महा छुधित कों जैस असन सों प्रीति सुनी है।
ताहू तें सतगुनी सहस गुनि कोटि गुनी है ।।
कोउ चटपति सों उर लपटीं कोउ कर बर लपटी।
कोउ गल लपटीं कहति भलै भलै कान्हर कपटी ।।

कोउ नगधर बर पिय की गहि रहि परिकर पटुकी।
जनु नवघन ते सटकि दामिनी छटा सु ँ अटकी ॥
बैठे पुनि तिहि पुलिन परम आनन्द भयो है।
छबिली अपने छादन छबि सों बिछा दियो है॥
एक एक हरि देव सबहि आसन पर वैसे।
किए मनोरथ पूरन जिन मन उपजे जैसे ॥
ज्यों अनेक जोगीस्वर हिय में ध्यान धरत है।
इकहिं वेर इक मूरति सब को मुख बितरत है॥
कोटि कोटि ब्रह्माड जदपि इकली ठकुराई।
ब्रज देविन की सभा साँवरे अति छबि पाई॥
त्यौ सब गोपिन सनमुख सुन्दर श्याम बिराजै।
ज्यों नवदलनि मडलहि कमल कर्णिका भ्राजै॥
बूझन लागी नवल बाल नँदलाल पियहि तब।
प्रीति रीति की बात मनहि मुसकाति जाति सब॥
इक भजते कों भजै एक अनभजतनि भजही।
कहो कान्ह ते कवन आहि जे दुहुँअनि तजही॥
जदपि जगत गुरु नागर जसुमति नद दुलारे।
पै गोपिन के प्रेम अग्र अपने मुख हारे॥
तब बोले पिय नव किसोर हम ऋनी तिहारे।
अपुने हिय ते दूरि करौ सब दोस हमारे॥
कोटि कलप लगि तुम प्रति प्रति उपकार करौ जौ।
हे मनहरनी तरुनी उऋन न होउँ तबौ तौ॥
सकल विश्व अप बस करि मो माया सोहति है।
मोह-मई तुम्हरी माया सोइ मोहिं मोहति है॥

रसखान

जन्म—सं० १६१५ (लगभग)

मृत्यु—सं० १६८५

स्थान—दिल्ली

म० का०—१५

सवैया

१

कान्ह भये बस बाँसुरी के अब कौन सखी हमको चहिहै।
निसि द्यौस रहै सँग साथ लगी यह सोतन तापन क्यों सहिहै।।
जिन मोहि लियो मन मोहन को रसखान सदा हम कौं दहिहै।
मिली आओ सबै सखि भागि चलै अब तो ब्रज में बँसुरी रहिहै।।

२

आवत लाल गुलाल लिये मग सूने मिली यक नारि नवीनी।
त्यों रसखानि लगाइ हिये भटू मौज कियो मन माँहि अघीनी।।
सारी फटी सुकुमारी हटी अँगिया दरकी सरकी रस भीनो।
गाल गुलाल लगाइ लगाइ कै अंक रिझाइ बिदा करि दीनी।।

३

धूरि-भरे अति सोभित स्यामजू, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरै अंगना, पग पैजनीं बाजतीं, पारी कछोटी।।
वा छबि की रसखान बिलोकत, बारत काम कलानिधि कोटी।
काग के भाग कहा कहिए, हरि हाथ सौं लै गयो माखन रोटी।।

४

सोहत है चँदवा सिर मोर के, जैसियै सुन्दर पाग कसी है।
तैसियै गोरज भाल बिराजति, जैसी हिये बनमाल लसी है।।
रसखानि बिलोकति बौरी भई, दृग मूंदि कै ग्वारि पुकारि हँसी है।
खोलि री घूंघट, खेलौं कहा, वह मूरति नैननि माँझ बसी है।।

५

बैन वही, उनकौं गुन गाइ, औ कान वही, उन बैन सों सानी।
हाथ वही, उन गात सरै अरु पाइ वही, जु वही अनुजानी।।
जान वही, उन प्रान के संग, औ मान वही, जु करै मनमानी।
त्यौं रसखानि वही रसखानि, जु है रसखानि सो है रसखानी।।

६

खेलत फाग लख्यो पिय प्यारी को ता सुख की उपमा केहि दीजै।
देखत ही बनि आवै भलै 'रसखानि' कहा है जु वारनै कीजै।।
ज्यों-ज्यों छबीली कहै पिचकारी लै एक लई यह दूसरी लीजै।
त्यों-त्यों छबीली छके छवि छाक सो हेरै हँसे न हटै खरो मीजै।।

७

खंजन नैन फँदे पिंजरा छबि नाहि रहै थिर कैसे हूँ माई।
छूटि गई कुलकानि सखी 'रसखानि' लखी मुसिकानि सुहाई।।
चित्र कढ़े से रहैं मेरे नैन न बैन कढ़ै मुख दीनी दुहाई।
कैसी करों जिन जाव अली सब बोलि उठैं यहु बावरी आई।।

८

कोई है रास मै नैसुक नाचि कै नाच नचाए किए सबको जिन।
सोई है री 'रसखानि' इहै मनुहारिहूँ सूधै चितौत न हो छिन।।
तो मै धौं कौन मनोहर भाव विलोकि भयो बस हाहा करी तिन।
औसर ऐसो मिलै न मिलै फिर लंगर मोड़ो कनोडो करै किन।।

९

लोग कहैं ब्रज के 'रसखानि' अनंदित नंद जसोमति जू पर।
छोहरा आजु नयो जनम्यो तुमसो कोऊ भाग भर्यो नहि भू पर।।
वारि के दाम सवाँर करौ अपने अपचाल कुचाल ललू पर।
नाचत रावरो लाल गुपाल सो काल सो व्याल कपाल के ऊपर।।

१०

वा मुसकानि पै प्रान दियौ, जिय-जान दियौ वह तान पै प्यारी।
मान दियौ मन-मानिक के सँग, वा मुख मंजु पै जोवन बारी।।
बातन की 'रसखानि' पै री, तब ताहि दियौ नहि आनि बिचारी।
सो मुख मोड़ि करी अब का, हहा लाल ! लै आज समाज में ख्वारी।।

११

जा दिन तें निरख्यो नँदनंदन, कानि तजी घर बंधन छूट्यौ।
चारु बिलोकनि कीनीं सुनारि, सम्हार गई, मन मार नें लूट्यो॥
सागर कों सरिता जिमि धाइ, न रोकी रहै, कुल कौ पुल टूट्यौ।
मत्त भयौ मन संग फिरै रसखानि सरूप अमीरस घूँट्यौ॥

१२

मेरौ सुभाव चितैबो कौ माइ री लाल निहारि कै वंसी बजाई।
वा दिन ते मोंहि लागी ठगी री, लोग कहैं कोउ बावरी आई॥
यो 'रसखानि' घिर्‌यौ सिगरौ व्रज जानत वै कै मेरो जियराई।
जो कोउ चाहै भलौ अपनौ तौ सनेह न काहू सों कीजिये माई॥

१३

उनही के सनेहन सानी रहै, उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं।
उनही की सुनै न औ बैन त्यो सैन सो चैन अनेकन ठानी रहै॥
उनही सँग डोलत में 'रसखानि' सबै सुख़-सिंधु अघानी रहै।
उनही बिन ज्यौ जल मीन है मीन सी आँखि मेरी अँसुआँनी रहै॥

१४

मोर पखा सिर ऊपर राखिहौ गुंज की माल गरे पहिरौगी।
ओढि पितम्बर लै लकुटी बन गोधन ग्वारनि संग फिरौगी॥
भावतो वोहि मेरो 'रसखानि' सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौगी॥

दोहा

जेहि पाएँ बैकुंठ अरु हरिहूँ की नहि चाहि।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ सरस सुप्रेम कहाहि॥ १
इक अंगी बिनु कारनहि इकरस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो सोई प्रेम सुजान॥ २
तोरि मानिनी तें हियो फोरि मोहिनी मान।
प्रेमदेव की छबिहि लखि भए मियाँ रसखान॥ ३
कहा करै रसखानि को कोऊ चुगल लबार।
जो पै राखनहार है माखन-चाखनहार॥ ४

कवित्त

१

ग्वालन सँग जबो बन ऐबौ सुगाइन सँग
हेरि तान गैबो हाहा नैन फरकत हैं।
ह्याँ के गजमोती माल बारौ गुंजमालन पै
कुंज सुधि आए हाथ प्रान धरकत है।
गोबर को गारो सुतौ मोहि लगै प्यारौ
कहा भयो महल सोने को जटत मरकत है।
मंदर तें ऊँचे यह मदिर हैं द्वारिका के
ब्रज के खिरक मेरे हिए खरकत हैं॥

२

कहा 'रसखानि' सुखसंपति सुमार कहा
कहा बन जोगी है लगाए अंग छार को।
कहा साधे पंचानल कहा सोए बीच नल
कहा जीत लाए राज सिंधु आरपार को।
जप बार बार तप संजम बयार ब्रत
तीरथ हजार अरे बूझत लबार को।
कीन्हों नही प्यार नही सेयो दरबार चित
चाह्यो न निहारो जो पै नंद के कुमार को॥

हलधरदास

जन्म—सं० १५८२ (लगभग)

मृत्यु—सं० १६८३ (लगभग)

स्थान—पदमौल (मुजफ्फरपुर)

सुदामा-चरित

१

सुनि बिलाप तिय बैन बारि पिय के दृग छाई।
कह्यो सत्य मम भवन भामिनी बसि दुख पाई ।।
विपति दाह मे पुरुष हेम जो धीर भले हैं।
तौ सोहागिनी सोहग सग मिलि दोउ गले है ।।
धन बिनु तिय नहि सुख लहै बिनु सुख तिय मो पै बिपति।
जेहि उपाय ते धन मिलै कहहु सो नारि बिचारि मति ।।

२

जेहि उपाइ धन मिले कन्त नर लहै परम सुख।
करन कहौ सोइ किये नाथ श्रम बढ़ै दुगुन दुख ।।
एक उपाइ अब सुनौ नाथ हित हृदय गुनौ है।
द्वारावति मो कृष्ण राय की बनिक बनौ है ।।
आज सबै राजा जगत कहत महाराजा उन्हैं।
तिन्है जाइ पिय जाचिये महासील सागर सुनै ।।

३

सुनत जाचनो बयन दीन मूरति अकुलाने।
बहुरि भगति सुधि भई नारि-सुधि सकल भुलाने ।।
कहै अहो जो भगति छाड़ि नृप जाचि जियत है।
गंगाजल तजि तृषित मूढ कोइ खोदि पियत है ।।
चिन्तामणि मनि छाड़ि के उपल जोहने धाइयै।
होइ न लाभ जाचे ते सुख भजे राम सुख पाइयै ।।

४

भगति महातम सत्य राम भजि सुख सांचे है।
तुलाधार जौ भगति तऊ सम्पति जाचे है ।।
ऋषि जाच्यो दसरत्थ जासु कीरति जग बाढ्यो।
प्रभु जाच्यो बलि राय द्वार अजहूँ नहिं छाड्यौ ।।

द्विजहि दोष जाचे कहा स्रुति सिद्धान्त बिचारियै ।
सुलभ जानि सिख मानि पिय द्वारावति पगु धारियै ।।

५

द्विजहि साँच नहि लाज जाचनो मम लज्जित हौ ।
तौ जाचे नहि कबहु भूप जो दुख गज्जित हौ ।।
कन भिक्षा कछु करौ ताहि तुम गने बिभर्मा ।
द्वारावति धन हेतु जाइबे कहो सुधर्मा ।।
उहाँ न मित्र न बन्धु मम हित न जाइ जाँचौ जिन्हे ।
इहँइ कोउ चीन्है नही द्वारावति मे को चिन्है ।।

६

भली कही एक समय कन्तहूँ कहे बिचारे ।
द्वारावति मै कृष्णराय है मित्र हमारे ।।
भरे भवन मनि द्रव्य खड़े नृपगन आगे है ।
अरव खरब गजमत्त मेघडम्बर लागे है ।।
जब ऐसे प्रिय मित्र है तब कैसे पिय दुख सहौ ।
कृष्णराय के मिलन को द्वारावति को पथ गहौ ।।

७

एक समय गुरु भवन ग्रन्थ पढते हम गुरु ते ।
वोउ पढ़न के हेतु दीन आयो मधुपुर ते ।।
प्रथम हमहि सौं मिले हमहि गुरु पाहि मिलाये ।
गुरु प्रसन्न होइ बहुत पुत्र कहि उनहि पढ़ाये ।।
ता कारण हो कन्तिनी परम मित्र मोहि जानही ।
अब सुनियत राजा भये कहा मित्र पहिचानहीं ।।

८

उन ऐसे नहि महाराज जो मित्र न जाने ।
रामचन्द्र से दयारूप संसार बखाने ।।
अनजाने कोउ दीन जात उनके द्वारे पर ।
सनमाने तेहि बिबिध भाँति जाने तेहि मनिवर ।।

प्रथमहि आपुहि सीलनिधि दुतिय पियहि अनुबन्धुता।
क्यों न चिन्हैं क्यों भूलही गुरु समीप को बन्धुता ॥

९

कृष्णराय को शील कन्तिनी तुम न सुन्यो है।
नन्दराय यशमती पालि के सीस धुन्यो है ॥
ब्रजगोपिन निज नाथ जानि कुलकानि गँवायो।
तेहि बियोगिनी कियो कूबरी कन्त कहायो ॥
प्राननाथ जानत रहै ब्रजवासी उत्तम किया।
तेहि त्यागत नाहि बार भौ कवन सील उनमे प्रिया ॥

१०

इहै विचारहु कन्त कुबरि कब की पहिचानी।
तनिक भेंटते सील सिन्धु कीन्ही जगरानी ॥
सीलवन्त वै नहि तो नृग कैसे उद्धरिगौ।
दया दीन पर नहि तौ पृथु कैसे भूपति भौ ॥
जौन सील तौ दीन द्विज पुत्र पावते कवन विधि।
जाहु कन्त हे द्वारिका कृष्णराय है सीलनिधि ॥

११

तुम जानो श्री कृष्ण सील ते दीन असंसै।
जो देखै ब्रजबधू हाल ते सिला प्रसंसै ॥
आपु राजमद मते भोग सुख रसे गुंसाई।
वै किसोर ब्रजवधू तिन्हे लिखि जोग पठाई ॥
तुम एतनो अस्तुति करी ब्रज मों कहैं अहीर बुध।
जन्मभूमि की सुध नही तिन्हैं कहाँ रह मित्र सुध ॥

१२

दया हेतु ब्रज तजे बन्दि बसुदेव छुड़ायौ।
जदुकुल छप्पन कोटि कमल को भानु कहायौ ॥
जो ब्रज बधू रहस्य केलि में कान्ह भुलाते।
तौ दस आठ सहस्र छूटि कैसे घर जाते ॥

नृप-कन्या सोरह सहस रही विकल तेहि सरण दिय।
दयासिन्धु गोविन्द गुणि तुमहु द्वारिका जाहु पिय ॥

१३

द्वारावति हम जाहि कृष्ण को भेंट न पावौ।
चलत चलत पग थकै पुनि कैसे घर आवौ ॥
मिलै भेट तौ परम दुखित चितवै न मुरारी।
जौ चितवै तो कहै मित्र नहि अहै भिखारी ॥
जौ भिखारि नहि मित्र को कहै तो दसा निहारिकै।
कत बिकार मन में धरे मिले न दीन बिचारिकै ॥

१४

जदपि सीस रजनीस तदपि रजतिलकहि लैहै।
जौ गोपाल राजाधिराज तौ दीन चितैहै ॥
नर निषाद से महा नीच अंकम लाये है।
तेहि गोपाल को ब्रह्मरूप मुनिवर गाये है ॥
वै मुरारि प्रेमायतन गहि भिखारि अंकम भरे।
वै न मित्र भेटै बिमुख सिव समान आदर करें ॥

१५

महाराज हरिचन्द जासु जग करे बड़ाई।
आपद समय महान मित्रहू तजी मिताई ॥
मित्र जानि सुग्रीव द्वार सौमित्र सिधारे।
उन पूछो को लखन राम को मित्र हमारे ॥
हमहु कुदिन के अवतरे कृष्ण मिलन कैसे कहौ।
तातें इहै बिचार भल भजत राम घर ही रहौ ॥

राम-काव्य

१. तुलसीदास
२. नाभादास

तुलसीदास

जन्म— संवत् १५८९

मृत्यु— संवत् १६८०

स्थान— राजापुर (अन्य मत—सोरों)

विनयपत्रिका

१

मेरो मन हरिजू ! हठ न तजै ।
निसिदिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि, करत सुभाउ निजै ।। १
ज्यों जुबती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै ।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै ।। २
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै ।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ लजै ।। ३
हौं हार्‍यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै ।
तुलसिदास बस होइ तबहि जब प्रेरक प्रभु बरजै ।। ४

२

राम ! राखिये सरन, राखि आये सब दिन ।
बिदित त्रिलोक तिहुँ काल न दयालु दूजो,
आरत-प्रनत-पाल को है प्रभु बिन ।। १
लाले पाले, पोषे तोषे आलसी-अभागी-अघी,
नाथ ! पै अनाथनिसो भये न उरिन ।
स्वामी समरथ ऐसो, हौ तिहारो जैसो-तैसो,
काल-चाल हेरि होति हिये घनी घिन ।। २
खीझि-रीझि, बिहँसि-अनख, क्यों हूँ एक बार
'तुलसी तू मेरो', बलि, कहियत किन ?
जाहि सूल निरमूल, होहि, सुख अनुकूल,
महाराज राम ! रावरी सौ तेहि छिन ।। ३

३

मन पछितैहै अवसर बीते ।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु. करम बचन अरु ही ते ।। १
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते ।
हम-हम करि धन धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ।। २

सुत-बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते।
अतहु तोहि तजेगे पामर ! तू न तजै अबही ते ।। ३
अब नाथहि अनुराग, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय भोग बहु घी ते ।। ४

४

कौन जतन बिनती करिये।
निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिये ।। १
जेहि साधन हरि ! द्रवहु जानि जन सो हठि परिहरिये।
जाते बिपति जाल निसिदिन दुख, तेहि पथ अनुसरिये ।। २
जानत हूँ मन बचन करम पर-हित कीन्हे तरिये।
सो बिपरीत देखि पर-सुख, बिनु कारन ही जरिये ।। ३
श्रुति पुरान सबको मत यह सतसग सुदृढ धरिये।
निज अभिमान मोह इरिषा बस तिनहि न आदरिये ।। ४
संतत सोइ प्रिय मोहि सदा जातें भवनिधि परिये।
कहौ अब नाथ, कौन बलते संसार-सोग हरिये ।। ५
जब कब निज करुना सुभावतें, द्रवहु तौ निस्तरिये।
तुलसिदास बिस्वास आन नहि, कत पचि-पचि मरिये ।। ६

५

कैसे देउँ नाथहि खोरि।
काम-लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि ।। १
बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।
देत सिख सिखयो न मानत, मूढ़ता असि मोरि ।। २
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।
अंग-बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि ।। ३
करौ जो कुछ धरौं सचि-पचि सुकृत सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि ।। ४
लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा-डोरि।
बात कहौ बनाइ बुध ज्यों, बर बिराग निचोरि ।। ५
एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत, लाज अँचई घोरि।
निलजता पर रीझि रघुबर, देहु तुलसिहि छोरि ।। ६

६

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई ।। १

चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई ।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बाढ़ै अनुदिन अधिकाई ।। २
कुटिल करम लै जाहि मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई ।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ अंडकी नाई ।। ३
या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति-प्रतीति सगाई ।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहि समिटि इक ठाई ।। ४

७

सुनहु राम रघुबीर गुसाई, मन अनीति-रत मेरो ।
चरन-सरोज बिसारि तिहारे, निसिदिन फिरत अनेरो ।। १
मानत नाहि निगम-अनुसासन, त्रास न काहू केरो ।
भूल्यो सूल करम-कोलुन्ह तिल ज्यों वहु बारनि पेरो ।। २
जहँ सतसंग कथा माधव की, सपनेहुँ करत न फेरो ।
लोभ - मोह - मद -काम-कोहरत, तिन्हसो प्रेम घनेरो ।। ३
पर-गुन सुनत दाह, पर-दूषन सुनत हरख बहु तेरो ।
आप पाप को नगर बसावत, सहि न सकत पर खेरो ।। ४
साधन-फल, श्रुति-सार नाम तव, भव सरिता कहँ बेरो ।
सो पर-कर काँकिनी लागि सठ, बेचि होत हठि चेरो ।। ५
कबहुँक हौं संगति-प्रभावतें, जाउँ सुमारग नेरो ।
तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो ।। ६
इक हौ दीन मलीन, हीनमति विपतिजाल अति घेरो ।
तापर सहि न जाय करुनानिधि, मनको दुसह दरेरो ।। ७
हारि पर्‌यो करि जतन बहुत बिधि, तातें कहत सबेरो ।
तुलसिदास यह त्रास मिटै जब हृदय करहु तुम डेरो ।। ८

८

माधव ! मो समान जग माही ।
सब बिधि हीन, मलीन, दीन अति, लीन विषय कोउ नाही ।। १
तुम सम हेतुरहित कृपालु आरत-हित ईस न त्यागी ।
मैं दुख-सोक बिकल कृपालु ! केहि कारन दया न लागी ।। २
नाहिन कछु औगुन तुम्हार, अपराध मोर मैं माना ।
ग्यान-भवन तनु दियेहु नाथ, सोउ पाय न मैं प्रभु जाना ।। ३

बनु करील, श्रीखंड बसंतहि दूपन मृषा लगावै।
सार-रहित हत-भाग्य सुरभि, पल्लव सो कहु किमि पावै। ४
सब प्रकार मै कठिन, मृदुल हरि दृढ बिचार जिय मोरे।
तुलसिदास प्रभु मोह-सृंखला, छुटिहि तुम्हारे छोरे॥ ५

९

रामचद्र ! रघुनायक तुमसों हौ बिनती केहि भाँति करौ।
अघ अनेक अवलोकि आपने, अनघ नाम अनुमानि डरौ॥ १
पर-दुख दुखी सुखी पर-सुख ते, संत-सील नहि हृदय धरौं।
देखि आन की बिपति परम सुख, सुनि संपति बिनु आगि जरौ॥ २
भगति-बिराग ग्यान-साधन कहि बहु बिधि डहकत लोग फिरो।
सिव-सरबस सुखधाम नाम तव, बेचि नरकप्रद उदर भरौं॥ ३
जानत हौ निज पाप जलधि जिय, जल-सीकर सम सुनत लरौ।
रज-सम पर-अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरि-सम रजते निदरौ॥ ४
नाना बेष बनाय दिवस-निसि पर-बित जेहि तेहि जुगुति हरौ।
एकौ पल न कबहुँ अलोल चित हित दै पद-सरोज सुमिरौ॥ ५
जो आचरन बिचारहु मेरो, कलप कोटि लगि औटि मरौ।
तुलसिदास प्रभु कृपा-बिलोकनि, गोपद-ज्यों भवसिंधु तरौ॥ ६

१०

और मोहि को है, काहि कहिहौ ?
रंक-राज ज्यौं मन को मनोरथ, केहि सुनाइ सुख लहिहौ॥ १
जम-जातना, जोनि-सकट सब सहे दुसह अरु सहिहौ।
मोको अगम, सुगक तुमको प्रभु, तउ फल चारि न चहिहौ॥ २
खेलिबेको खग-मृग, तरु-कंकर ह्वै रावरो राम हौ रहिहौ।
यहि नाते नरकहुँ सचु, या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौ॥ ३
इतनी जिय लालसा दास के, कहत पानही गहिहौ।
दीजै बचन कि हृदय आनिये, 'तुलसी को पन निर्बहिहौ'॥ ४

११

मोहि मूढ मन बहुत बिगोयो।
याके लिये सुनहु करुनामय, मैं जग जनमि-जनमि दुख रोयो॥ १

सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहि रहत दूरि जनु खोयो ।
बहु भाँतिन स्रम करत मोहबस बृथहि मंदमति बारि बिलोयो ।। २
करम-कीच जिय जानि, सानि, चित, चाहत कुटिल मलहि मल धोयो ।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि-फिरि बिकल अकास निचोयो ।। ३
तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहिं गोयो ।
डासत ही गइ बीति निसा सब कबहुँ न नाथ ! नींद भरि सोयो ।। ४

१२

जानत प्रीति-रीति रघुराई ।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह-सगाई ।। १
नेह निबाहि देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई ।
ऐसेहु पितु ते अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई ।। २
तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई ।
रन पर्यो बंधु बिभीषन ही को, सोच हृदय अधिकाई ।। ३
घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई ।
तब तहँ कहि सबरी के फलनिकी रुचि माधुरी न पाई ।। ४
सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई ।
केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई ।। ५
प्रेम-कनौड़ो रामसो प्रभु त्रिभुवन तिहुँकाल न भाई ।
तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों ऐसी मानिहि को सेवकाई ।। ६
तुलसी राम-सनेह-सील लखि, जो न भगति उर आई ।
तौ तोहि जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गवाँई ।। ७

१३

तुम सम दीनबंधु, न दीन कोउ मो सम, सुनहु नृपति रघुराई ।
मोसम कुटिल-मौलिमनि नहिं जग तुम सम हरि ! न हरन कुटिलाई ।। १
हौं मन-वचन-कर्म पातक-रत, तुम कृपालु पतितन-गतिदाई ।
हौं अनाथ, प्रभु ! तुम अनाथ-हित, चित यहि सुरति कबहुँ नहिं जाई ।। २
हौं आरत, आरति-नासक तुम, कीरति निगम पुराननि गाई ।
हौं सभीत, तुम हरन सकल भय, कारन कवन कृपा बिसराई ।। ३
तुम सुखधाम राम श्रम-भंजन, हौं अति दुखित त्रिबिध श्रम पाई ।
यह जिय जानि दास तुलसी कहुँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई ।। ४

१४

काजु कहा नरतनु धरि सार्यो ।
पर-उपकार सार श्रुति को जो, सो धोखेहु न बिचार्यो ॥ १
द्वैत मूल, भय-सूल, सोक-फल, भवतरु टरै न टार्यो ।
रामभजन-तीछन कुठार लै सो नहि काटि निवार्यो ॥ २
संसय-सिंधु नाम-बोहित भजि निज आतमा न तार्यो ।
जनम अनेक विवेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हार्यो ॥ ३
देखि आन की सहज संपदा द्वेष अनल मन जार्यो ।
सम, दम, दया, दीन-पालन, सीतल हिय हरि न सँभार्यो ॥ ४
प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति तैं मन क्रम बचन बिसार्यो ।
तुलसिदास यहि आस, सरन राखिहि जेहि गीध उधार्यो ॥ ५

१५

जनम गयो बादिहि बर बीति ।
परमारथ पाले न पर्यो कछु, अनुदिन अधिक अनीति ॥ १
खेलत खात लरिकपन गो चलि, जौबन जुबतिन लियो जीति ।
रोग-वियोग-सोग-श्रम-संकुल बड़ि बय बृथहि अतीति ॥ २
राग-रोष-इरिषा-बिमोह-बस रुची न साधु-समीति ।
कहे न सुने गुनगन रघुबर के, भइ न रामपद-प्रीति ॥ ३
हृदय दहत पछिताय अनल अब, सुनत दुसह भवभीति ।
तुलसी प्रभु तें होइ सो कीजिय समुझि बिरद की रीति ॥ ४

१६

जो अनुराग न राम सनेही सों ।
तौ लह्यो लाहु कहा नर-देही सों ॥ १

जो तनु धरि, परिहरि सब सुख, भये सुमति राम-अनुरागी ।
सो तनु पाइ अघाइ किये अघ, अवगुन उदधि अभागी ॥ २
ग्यान-बिराग, जोग-जप, तप-मख, जग मुद-मग नहि थोरे ।
राम-प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृग-जल-जलधि-हिलोरे ॥ ३
लोक बिलोकि, पुरान-बेद सुनि, समुझि-बूझि गुरु-ग्यानी ।
प्रीति-प्रतीति राम-पद-पंकज सकल सुमंगल-खानी ॥ ४

अजहुँ जानि जिय, माति हारि हिय, होइ पलक महँ नीको।
सुमिरु सनेह सहित हित रामहि, मानु मतो तुलसी को।। ५

१७

जौ मन भज्यो चहै हरि-सुरतरु।
तौ तज विषय बिकार, सार भज, अजहूँ जो मैं कहौ सोइ करु।। १
सम, संतोष, बिचार बिमल अति, सतसंगति, ये चारि दृढ़ करि धरु।
काम-क्रोध अरु लोभ-मोह-मद, राग-द्वेष निसेष करि परिहरु।। २
श्रवन कथा मुख नाम-हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयननि निरखि कृपा-समुद्र हरि अग-जग-रूप भूप सीताबरु।। ३
इहै भगति, बैराग्य-ग्यान यह, हरि-तोषन यह सुभ ब्रत आचरु।
तुलसिदास सिव-मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिन डरु।। ४

१८

केशव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र हरि ! समुझि मनहि मन रहिये।। १
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहि, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइअ एहि तनु हेरे।। २
रविकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माही।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करत जे जाही।। ३
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै।। ४

१९

काहे न रसना, रामहि गावहि ?
निसिदिन पर-अपवाद बृथा कत रटि-रटि राग बढ़ावहि।। १
नरमुख सुंदर मदिर पावन बसि जनि ताहि लजावहि।
ससि समीप रहि त्यागि सुधा कत रबिकर-जल कहँ धावहि।। २
काम-कथा कलि-कैरव-चदिनि, सुनत श्रवन दै भावहि।
तिनहि हटकि कहि हरि-कल-कीरति, करन कलंक नसावहि।। ३
जातरूप मति, जुगुति, रुचिर मनि रचि-रचिहार बनावहि।
सरन-सुखद रबिकुल-सरोज-रबि राम-नृपहि पहिरावहि।। ४
बाद-बिबाद, स्वाद तजि भजि हरि, सरस चरित चित लावहि।
तुलसिदास भव तरहि, तिहूँ पुर तू पुनीत जस पावहि।। ५

२०

सुनु मन मूढ सिखावन मेरो।
हरि-पद-बिमुख लह्यो न काहु सुख, सठ! यह समुझ सबेरो।। १
बिछुरे ससि-रबि मन-नैननितें, पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत श्रमित निसि-दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो।। २
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता, तिहुँ पुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित, बहिबो ताहू केरो।। ३
छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति, श्रुति संदेहु निबेरो।
तुलसिदास सब आस छाँडि करि, होहु राम को चेरो।। ४

२१

ऐसेहि जनम-समूह सिराने।
प्राननाथ रघुनाथ-से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने।। १
जे जड़ जीव कुटिल, कायर, खल, केवल कलिमल-साने।
सूखत बदन प्रसंसत तिन्ह कहँ हरि तें अधिक करि माने।। २
सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पायँ पिराने।
सदा मलीन पथ के जल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने।। ३
यह दीनता दूर करिबेको अमित जतन उर आने।
तुलसी चित-चिता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने।। ४

चातक का अनन्य प्रेम

दोहा

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास।। १
जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस।। २
चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिऐ न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटे घटैगी आनि।। ३
रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग।। ४
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद को दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख।। ५
बरषि परुष पाहन पयद पख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक।। ६
उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।। ७
पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि।। ८
मान राखिबो माँगिबो पिय सों नित नव नेहु।
तुलसी तीनिउ तब फबै जौ चातक मत लेहु।। ९
तुलसी चातक ही फबै मान राखिबो प्रेम।
बक्र बुन्द लखि स्वातिहू निदरि निबाहत नेम।। १०
तुलसी चातक माँगनो एक एक घन दानि।
देत जो भू भाजन भरत लेत जो घूटक पानि।। ११
तीनि लोक तिहुँ काम जस चातक ही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ।। १२
प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि।
जाचक जगत कनाउड़ो कियो कनौड़ो दानि।। १३
नहिं जाचत नहि संग्रही सीस नाइ नहि लेइ।
ऐसे मानी मागनेहि को बारिद बिन देइ।। १४

को को न ज्यायो जगत में जीवन दायक दानि।
भयो कनौडो जाचकहि पयद प्रेम पहिचानि॥ १५
साधन साँसति सब सहत सबहि सुखद फल लाहु।
तुलसी चातक जलद की रीझि बूझि बुध काहु॥ १६
चातक जीवन दायकहि जीवन समयँ सुरीति।
तुलसी अलख न लखि परै चातक प्रीति प्रतीति॥ १७
जीव चराचर जहँ लगें है सब को हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यो घन सों सहज सनेह॥ १८
डोलत बिपुल बिहंग बन पिअत पोखरिन बारि।
सुजस धवल चातक नवल तुही भुवन दस चारि॥ १९
मुख मीठे मानस मलिन कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल रह्यो भुवन भरि तोर॥ २०
वास वेष बोलनि चलनि मानस मंजु मराल।
तुलसी चातक प्रेम की कीरति बिसद बिसाल॥ २१
प्रेम न परखिअ परुषपन पयद सिखावन एह।
जग कह चातक पातकी ऊसर बरसै मेह॥ २२
होइ न चातक पातकी जीवन दानि न मूढ़।
तुलसी गति प्रहलाद की समुझि प्रेम पथ गूढ॥ २३
गरज आपनी सबन को गरज करत उर आनि।
तुलसी चातक चतुर भी जाचक जानि सुदानि॥ २४
चरग चंगु गत चातकहि नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ पर परिहै पुहुमी नीर॥ २५
बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥ २६
अंड फोरि कियो चेटुवा पर्‌यो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर डार्‌यो बाहिर बारि॥ २७
तुलसी चातक देत सिख सुतहिं बारही बार।
तात न तर्पन कीजिऐ बिना बारिधर धार॥ २८

सोरठा

जिअत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरहि।
सुरसरिहू को बारि मरत न माँगेउ अरध जल॥ २९
सुन रे तुलसीदास प्यास पपीहहि प्रेम की।
परिहरि चारिउ मास जो अँचवै जल स्वाति को॥ ३०

जाचैं बारह मास पिऐ पपीहा स्वाति जल।
जान्यो तुलसीदास जोगवत नेही नेह मन॥ ३१

दोहा

तुलसी कें मत चातकहि केवल प्रेम पिआस।
पिअत स्वाति जल जान जग जाँचत बारह मास॥ ३२
आलबाल मुकुताहलनि हिय सनेह तरु मूल।
होइ हेतु चित चातकहि स्वाति सलिल अनुकूल॥ ३३
उष्नकाल अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख।
चातक बतियाँ ना रुची अन जल सीचे रूख॥ ३४
अन जल सीचे रूख की छाया तें बरु घाम।
तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रवीन को काम॥ ३५
एक अंग जो सनेहता निसि दिन चातक नेह।
तुलसी जासों हित लगै वहि अहार वहि देह॥ ३६

बालरूप की झाँकी

१

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौ सोच बिमोचन को ठगि-सी रही, जे न ठगे धिक से ।।
तुलसी मन-रंजन रजित-अंजन नैन सुखंजन-चातक-से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह-से बिकसे ।।

२

पग नूपुर औ पहुँची करकंजनि मंजु बनी मनिमाल हिएँ।
नवनील कलेवर पीत झँगा झलकै पुलकै नृपु गोद लिएँ ।।
अरबिंदु सो आननु रूप मरंदु अनदित लोचन भृंग पिएँ।
मनमो न बस्यौ अस बालकु जौ तुलसी जग मे फलु कौन जिएँ ।।

३

तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताई हरै।
अति सुंदर सोहत धूरि भरे छबि भूरि अनंग की दूरि धरै ।।
दमकै दँतियाँ दुति दामिनी ज्यौ किलकै कल बालबिनोद करै।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर में बिहरै ।।

४

कबहूँ ससि माँगत आरि करै कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरै।
कबहूँ करताल बजाइकै नाचत मातु सबै मन मोद भरै ।।
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठिकै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरै।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर मे बिहरैं ।।

५

बर दंत की पंगति कुंदकली अधराधरपल्लव खोलन की।
चपला चमकैं घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलन की ।।
घुँघुरारि लटै लटकै मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
नेवछावरि प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की ।।

६

पदकंजनि मंजु बनीं पनहीं धनुहीं सर पंकज-पानि लिएँ।
लरिका सँग खेलत डोलत हैं सरजूतट चौहट हाट हिएँ।।
तुलसी अस बालक सो नहि नेहु कहा जप जोग समाधि किएँ।
नर वे खर सूकर स्वान समान कहौ जग में फलु कौन जिएँ।।

७

सरजू बर तीरहि तीर फिरै रघुबीर सखा अरु बीर सबै।
धनुहीं कर तीर, निषंग कसै कटि पीत दुकूल नवीन फबै।।
तुलसी तेहि औसर लावनिता दस चारि नौ तीन इकीस सबै।
मति भारति पंगु भई जो निहारि बिचारि फिरी उपमा न पवै।।

लंकादहन

१

बसन बटोरि बोरि-बोरि तेल तमीचर,
खोरि-खोरि आइ धाइ बाँधत लँगूर है।
तैसो कपि कौतुकी डेरात ढीले गात कै-कै,
लात के अघात सहै, जी में कहै, कूर है।।
बाल किलकारी कै-कै, तारी दै-दै गारी देत,
पाछें लागे, बाजत निसान ढोल तूर है।
बालधी बढ़न लागी, ठौर-ठौर दीन्ही आगी,
बिधि की दवारि कैधौ कोटिसत सूर है।।

२

लाइ-लाइ आगि भागे बालजाल जहाँ तहाँ,
लघु ह्वै निबुकि गिरि मेरुतें बिसाल भो।
कौतुकी कपीसु कूदि कनक-कँगूराँ चढ्यो,
रावन-भवन चढि ठाढ़ो तेहि काल भो।।
'तुलसी' बिराज्यो ब्योम बालधी पसारि भारी,
देखें हहरात भट, कालु सो कराल भो।
तेज को निधानु मानो कोटिक कृसानु-भानु,
नख बिकराल, मुखु तैसो रिस लाल भो।।

३

बालधी बिसाल बिकराल, ज्वालजाल मानो
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौ ब्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि सो उघारी है।।
'तुलसी' सुरेस-चापु, कैधौ दामिनि-कलापु,
कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।
देखें जातुधान-जातुधानीं अकुलानी कहैं,
काननु उजार्‌यो, अब नगरु प्रजारिहै।।

४

जहाँ-तहाँ बुबुक बिलोकि बुबुकारी देत,
जरत निकेतु धावौ, धावौ, लागी आगि रे।
कहाँ तातु मातु, भ्रात-भगिनी, भामिनी-भाभी,
ढोटा छोटे छोहरा अभागे भोडे भागि रे॥
हाथी छोरौ, घोरा छोरौ, महिष बृषभ छोरौ,
छेरी छोरौ, सोवै सो, जगावौ जागि जागि रे।
'तुलसी' बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहै,
वार-बार कह्यौं, पिय! कपिसों न लागि रे॥

५

देखि ज्वालाजालु, हाहाकारु दसकंध सुनि,
कह्यौ, धरो, धरो, धाए बीर बलवान है।
लिएँ सूल-सेल, पास-परिघ प्रचड दंड,
भाजन सनीर, धीर धरे धनु बान है॥
'तुलसी' समिध सौज लका जग्यकुंडु लखि,
जातुधान पुंगीफल जव तिल धान हैं।
स्रुवा सो लँगूल, बलमूल प्रतिकूल हवि,
स्वाहा महा हाँकि हाँकि हुनै हनुमान हैं॥

६

गाज्यो कपि गाज ज्यों बिराज्यो ज्वालजालजुत,
भाजे बीर धीर, अकुलाइ उठ्यो रावनो।
धावौ, धावौ, धरौ, सुनि धाए जातुधान धारि,
बारिधारा उलदै जलदु जौन सावनो॥
लपट-झपट झहराने, हहराने बात,
भहराने भट, पर्‌यो प्रबल परावनो।
ढकनि ढकेलि, पेलि सचिव चले लै ठेलि,
नाथ न चलैगो बलु अनलु भयावनो॥

७

बड़ो बिकराल बेषु देखि, सुनि सिंघनादु,
उठ्यो मेघनादु, सबिषाद कहै रावनो।

वेग जित्यो मारुतु, प्रताप मारतंड कोटि,
कालऊ करालताँ, बडाई जित्यो बावनो ।।
'तुलसी' सयाने जातुधान पछिताने कहै,
जाको ऐसो दूत, सो तो साहेबु अबै आवनो ।
काहे को कुसल रोपे राम बामदेवहू की,
विषम बली सों बादि बैर को बढ़ावनो ।।

८

पानी ! पानी ! पानी ! सब रानी अकुलानी कहै,
जाति है परानी, गति जानी गजचालि है ।
बसन बिसारें, मनिभूषन सँभारत न,
आनन सुखाने, कहै, क्योंहू कोऊ पालिहै ।।
'तुलसी' मँदोवै मीजि हाथ, धुनि माथ कहै,
काहू कान कियो न, मैं कह्यो केतो कालि है ।
बापुरे बिभीषन पुकारि बार-बार कह्यो,
बानरु बडी बलाइ घने घर घालिहै ।।

६

काननु उजार्‌यो तो उजार्‌यो, न बिगार्‌यो कछु,
बानरु वेचारो बाँधि आन्यो हठि हार सों ।
निपट निडर देखि काहू न लख्यो बिसेषि,
दीन्हों ना छड़ाइ कहि कुल के कुठार सों ।।
छोटे औ बड़ेरे मेरे पूतऊ अनेरे सब,
साँपनि सों खेले, मेलैं गरे छुराधार सों ।
'तुलसी' मँदोवै रोइ-रोइ कै बिगोवै आपु
बार-बार कह्यो मैं पुकारि दाढ़ीजार सों ।।

१०

रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहि,
सकै न बिलोकि वेबु केसरीकुमार को ।
मीजि-मीजि हाथ, धुनै माथ दसमाथ-तिय,
'तुलसी' तिलौ न भयो बाहेर अगार को ।।

सवु असबाबु डाढ़ो, मैं न काढ़ो, तैं न काढ़ो,
जिय की परी, सँभारै सहन-भँडार को।
खीझति मँदोवै सबिपाद देखि मेघनादु,
बयो लुनिअत सब याही दाढीजार को॥

११

रावन की रानी बिलखानी कहै जातुधानी,
हाहा ! कोऊ कहै बीसबाहु दसमाथ सों।
काहे मेघनाद ! काहे, काहे रे महोदर ! तूँ,
धीरजु न देत, लाइ लेत क्यों न हाथ सों॥
काहे अतिकाय ! काहे, काहे रे अकंपन !
अभागे तीय त्यागे भोड़े भागे जात साथ सों।
'तुलसी' बढ़ाई बादि साल ते बिसाल बाहै,
याही बल बालि सो बिरोधु रघुनाथ सों॥

१२

हाट-बाट, कोट-ओट, अटनि, अगार, पौरि,
खोरि-खोरि दौरि-दौरि दीन्ही अति आगि है।
आरत पुकारत, सँभारत न कोऊ काहू,
व्याकुल जहाँ सो तहाँ लोक चले भागि है॥
बालधी फिरावै, बार-बार झहरावै झरै,
बुँदिया-सी, लंक पघिलाइ पाग पागि है।
'तुलसी' बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहै,
चित्रहू के कपि सों निसाचरु न लागिहै॥

१३

लगी, लागी आगि, भागि-भागि चले जहाँ-तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारही।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम-धुन्द अन्ध,
कहै बारे-बूढ़े 'बारि बारि' बार-बारहीं॥

हय हिहिनात, भागे जात घहरात गज,
भारी भीर ठेलि-पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात बिललात, अकुलात, अति,
'तात तात ! तौंसिअत, झौंसिअत, झारहीं' ॥

१४

लपट कराल ज्वालजालमाल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने, पहिचानैं कौन काहि रे।
पानी को ललात, बिललात जरे गात जात,
परे पाइमाल जात 'भ्रात ! तूँ निबाहि रे ॥
प्रिया ! तूँ पराहि, नाथ ! तूँ पराहि, बाप !
बाप ! तूँ पराहि, पूत ! पूत ! तूँ पराहि रे।'
'तुलसी' बिलोकि लोग व्याकुल बेहाल कहै,
'लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे ॥'

१५

बीथिका-बजार प्रति, अटनि अगार प्रति,
पवरि-पगार प्रति बानरु बिलोकिए।
अधऊर्ध बानर, बिदिसि-दिसि बानरु है,
मानो रह्यो है भरि बानरु तिलोकिएँ ॥
मूदै आँखि हिय मे, उघारें आँखि आगें ठाढ़ो,
धाइ जाइ जहाँ-तहाँ, और कोऊ कोकिए।
लेहु, अब लेहु, तब कोउ न सिखाबो मानो,
सोई सतराइ जाइ जाहि-जाहि रोकिए ॥

१६

एक करैं धौंज, एक कहैं, काढौ सौज, एक
औंजि, पानी पीकै कहै, बनत न आवनो।
एक परे गाढ़े, एक डाढत हीं काढ़े, एक
देखत है ठाढ़े, कहै, पावकु भयावनो ॥
'तुलसी' कहत एक 'नीकें हाथ लाए कपि,
अजहूँ न छाड़ै बालु गाल को बजावनो।'
'धाओ रे, बुझाओ रे', 'कि बावरे हौ रावरे, या
औरै आगि लागी, न बुझावै सिंधु सावनो ॥'

१७

कोपि दसकंध तब प्रलयपयोद बोले,
रावन-रजाइ धाए आए जूथ जोरि कै।
कह्यो लंकपति 'लंक बरत, बुताओ वेगि
बानरु बहाइ मारौ महाबारि बोरि कै॥'
'भले नाथ!' नाइ माथ चले पाथप्रदनाथ,
बरषै मुसलधार बार-बार घोरि कै।
जीवननें जागी आगी, चपरि चौगुनी लागी,
'तुलसी' भभरि मेघ भागे मुखु मोरि कै॥

१८

इहाँ ज्वाल जरे जात, उहाँ ग्लानि गरे गात,
सूखे सकुचात सब, कहत पुकार हैं।
'जुग-पट भानु देखे, प्रलयकृसानु देखे,
सेष-मुख-अनल बिलोके बार-बार है॥'
'तुलसी' सुन्यो न कान सलिलु सर्पी-समान,
अति अचिरिजु कियो केसरीकुमार है।
बारिद-बचन सुनि धुने सीस सचिवन्ह,
कहैं 'दससीस! ईस-बामता-बिकार है॥'

१९

पावकु, पवनु, पानी, भानु, हिमवानु, जमु,
कालु, लोकपाल मेरे डर डावाँडोल है।
साहेबु महेसु, सदा संकित रमेसु मोहि,
महातप साहस बिरंचि लीन्हें मोल हैं॥
'तुलसी' तिलोक आजु दूजो न बिराजै राजु,
बाजे-बाजे राजनि के बेटा-वेटी ओल हैं।
को है ईस नाम को, जो बाम होत मोहू से को,
मालवान! रावरे के बावरे-से बोल हैं॥

२०

भूमि भूमिपाल, ब्यालपालक पताल, नाक-
पाल, लोकपाल जेते सुभट-समाजु है।

कहै मालवान, 'जातुधानपति! रावरे को
मनहूँ अकाजु आनै, ऐसो कौन आजु है।।
राम कोहु पावकु, समीरु सीय-स्वासु, कीसु,
ईस-बामता बिलोकु, बानर को ब्याजु है।
जारत पचारि फेरि-फेरि सो निसंक लंक,
जहाँ बाँको बीरु तोसो सूर-सिरताजु है।।'

२१

पान-पकवान बिधि नाना के, सँधानो, सीधो,
बिबिध-बिधान धान बरत बखारहीं।
कनककिरीट कोटि, पलँग, पेटारे, पीठ
काढ़त कहार सब जरे भरे भारहीं।।
प्रबल अनल बाढ़ें जहाँ काढ़े तहाँ डाढ़े,
झपट-लपट भरे भवन-भँडारहीं।
'तुलसी' अगारु न पगारु न बजारु बच्यो,
हाथी हथसार जरे घोरे घोरसारहीं।।

२२

हाट-बाट हाटकु पिघिलि चलो घी-सो घनो,
कनक-कराही लंक तलफति ताय सों।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब
पागि-पागि ढेरी कीन्ही भलीभाँति भाय सों।।
पाहुने कृसानु पवमान सों परोसो, हनु-
मान सनमानि कै जेंवाए चित-चाय सों।
'तुलसी' निहारि अरिनारि दै-दै गारि कहैं
'बावरें सुरारि बैरु कीन्हौ रामराय सों।।'

—'कवितावली' से

गीतावली

पद

१

पालने रघुपति झुलावै ।
लै लै नाम सप्रेम सरस स्वर कौसल्या कल कीरति गावै ।। १
केकिकंठ दुति स्यामबरन वपु, बाल बिभूषन बिरचि बनाए ।
अलकैं कुटिल, ललित लटकन भ्रू नील नलिन दोउ नयन सुहाए ।। २
सिसु-सुभाय सोहत जब कर गहि बदन निकट पदपल्लव लाए ।
मनहुँ सुभग जुग भुजग जलज भरि लेत सुधा ससि सों सचुपाए ।। ३
उपर अनूप बिलोकि खेलौना किलकत पुनि-पुनि पानि पसारत ।
मनहुँ उभय अंभोज अरुन सों बिधु-भय बिनय करत अति आरत ।। ४
तुलसिदास बहु-बास-बिबस अलि गुंजत, सुछबि न जाति बखानी ।
मनहुँ सकल श्रुति ऋचा मधुप ह्वै बिसद सुजस बरनत बर बानी ।। ५

२

छोटी छोटी गोड़ियाँ, अँगुरियाँ छबीली छोटी,
नख-जोति मोती मानो कमल-दलनि पर ।
ललित आँगन खेलै, ठुमकु ठुमकु चलै,
झुँझुनु झुँझुनु पाँय, पैजनी मृदु मुखर ।। १
किंकिनी कलित कटि, हाटज जटित मनि,
मंजु कर-कंजनि पहुँचियाँ रुचिरतर ।
पियरी झीनी झँगुली, साँवरे सरीर खुली,
बालक दामिनि ओढी मानो बारे बारिधर ।। २
उर बघनहा, कंठ कठुला, झूँडूले केश,
मेढ़ी लटकन मसिबिंदु मुनि मनहर ।
अंजन-रंजित नैन, चित चोरै चितवनि,
मुख-सोभा पर वारौं अमित असमसर ।। ३
चुटकी बजावती नचावती कौसल्या माता,
बालकेलि गावति मल्हावति सुप्रेम भर ।

किलकि किलकि हँसै, द्वै द्वै दँतुरियाँ लसै,
तुलसी के मन बसें तोतरे बचन बर ।। ४

३

जागिये कृपानिधान जानराय रामचंद्र
जननी कहै बार बार भोर भयो प्यारे ।
राजिवलोचन बिसाल, प्रीति-बापिका मराल
ललित कमल-बदन ऊपर कदन कोटि वारे ।। १
अरुन उदित, बिगत सरवरी, ससाक किरनहीन,
दीन दीपजोति, मलिन दुति समूह तारे ।
मनहुँ ग्यानघन-प्रकास, बीते सब भव - बिलास
आस त्रास-तिमिर तोष-तरनि तेज जारे ।। २
बोलत खगनिकर मुखर, मधुर करि प्रतीत सुनहु
स्रवन, प्रानजीवन धन, मेरे तुम बारे ।
मनहुँ बेद - वंदी - मुनिवृंद - सूत - मागधादि
बिरुद बदत जय जय जय जयति कैटभारे ।। ३
बिकसित कमलावली, चले प्रपुंज चंचरीक
गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे ।
जनु विराग पाइ सकल सोक कूप-गृह बिहाइ
भृत्य प्रेममत्त फिरत गुनत गुन तिहारे ।। ४
सुनत बचन प्रिय रसाल जागे अतिसय दयाल,
भागे जंजाल बिपुल, दुख कदंब दारे ।
तुलसिदास अति अनंद देखिकै मुखारबिंद
छूटे भ्रमफंद परम मंद द्वंद भारे ।। ५

४

मनोहरता के मानो ऐन ।
स्यामल गौर किसोर पथिक दोउ, सुमुखि ! निरखु भरि नैन ।। १
बीच बधू बिधुबदनि बिराजति, उपमा कहुँ कोऊ है न ।
मानहु रति ऋतुनाथ सहित मुनिबेष बनाए है मैन ।। २
किधौ सिगार सुखमा सुप्रेम मिलि चले जग चित बित लैन ।
अद्भुत त्रयी किधौ पठई है बिधि मग लोगन्हि सुख दैन ।।

मुनि सुचि सरल सनेह सुहावने ग्रामबधुन्ह के बैन।
तुलसी प्रभु तरु तर बिलँबे, किए प्रेम कनौडे कैन ? ॥ ८

५

माई री ! मोहि कोउ न समुझावै।
राम-गवन साँचो किधौ सपनो, मन परतीति न आवै ॥ १
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम लपन अरु सीता।
तदपि न मिटत दाह या उर को, बिधि जो भयो बिपरीता ॥ २
दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे।
करत न प्रान पयान, सुनहु, सखि ! अरुझि परी यहि लेखे ॥ ३
कौसल्या के बिरह बचन सुनि रोइ उठी सब रानी।
तुलसिदास रघुबीर बिरह की पीर न जाति बखानी ॥ ४

६

जो पै हौ मातु मते महँ ह्वैहौं।
तौ जननी ! जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौ ? ॥ १
क्यों हौं आजु होत सुचि सपथनि ? कौन मानिहै साँची ?।
महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिखन बाँची ? ॥ २
गहि न जाति रसना काहू की, कहौ जाहि जोइ सूझै।
दीनबधु कारुण्य-सिधु बिनु कौन हिये की बूझै ? ॥ ३
तुलसी रामबियोग बिषम-बिष-बिकल नारि-नर भारी।
भरत-सनेह-सुधा सींचे सब भए तेहि समय सुखारी ॥ ४

७

भरत भए ठाढ़े कर जोरि।
ह्वै न सकत सामुहें सकुचबस समुझि मातुकृत खोरि ॥ १
फिरिहैं किधो फिरन कहिहैं प्रभु कलपि कुटिलता मोरि।
हृदय सोच, जल भरे बिलोचन, नेह देह भइ भोरि ॥ २
बनबासी, पुरलोग, महामुनि किए है काठके-से कोरि।
दै-दै श्रवन सुनिबे को जहँ-तहँ रहे प्रेम मन बोरि ॥ ३
तुलसी राम सुभाव सुमिरि, उर धरि धीरजहि बहोरि।
बोले बचन बिनीत उचित हित करुना-रसहि निचोरि ॥ ४

८

तुम्हरे बिरह भई गति जौन ।
चित दै सुनहु, राम करुनानिधि ! जानौ कछु, पै सकौ कहिहौं न ।। १
लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचनन-कोन ।
'हा' धुनि खगी लाज पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन ।। २
जेहि बाटिका बसति, तहँ खग-मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन ।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहु, तेहि मग पगु न धर्‌यो तिहुँ पौन ।। ३
तुलसिदास प्रभु ! दसा सीय की मुख करि कहत होति अति गौन ।
दीजै दरस, दूरि कीजै दुख, हौ तुम्ह आरत-आरति-दौन ।। ४

९

वैठी सगुन मनावति माता ।
कब ऐहै मेरे बाल कुसल घर, कहहु, काग ! फुरि बाता ।। १
दूध-भात की दोनी दैहौं, सोने चोंच मढ़ैहौं ।
जब सिय-सहित बिलोकि नयन भरि राम - लषन उर लैहौं ।। २
अवधि समीप जानि जननी जिय अति आतुर अकुलानी ।
गनक बोलाइ, पाँय परि पूछति प्रेम मगन मृदु बानी ।। ३
तेहि अवसर कोउ .भरत निकटते समाचार लै आयो ।
प्रभु-आगमन सुनत तुलसी मनो मीन मरत जल पायो ।। ४

१०

रामचरन अभिराम कामप्रद तीरथ-राज बिराजै ।
संकर हृदय भगति भूतल पर प्रेम-अछयबट भ्राजै ।। १
स्यामबरन पद-पीठ, अरुन तल, लसति बिसद नखस्रेनी ।
जनु रविसुता सारदा सुरसरि मिलि चली ललित त्रिबेनी ।। २
अंकुस कुलिस कमल धुज सुंदर भँवर तरंग बिलासा ।
मज्जहिं सुर-सज्जन, मुनिजन मन मुदित मनोहर बासा ।। ३
बिनु बिराग-जप-जाग - जोग-ब्रत, बिनु तप, बिनु तनु त्यागे ।
सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभु-पद-प्रयाग अनुरागे ।। ४

नाभादास

जन्म— सं० १६२० के लगभग

मृत्यु— अनिश्चित

स्थान—अज्ञात

द्वादश वनवर्णन

प्रथमहिं वन श्रृंगार सुहावन। वन विहार तमाल अति पावन ।।
वन रसाल चंपक चन्दन वर। पारिजात अशोक मंगल तर ।।
वन विचित्र कवि कहत कदंबा। वन अनंग रस अलि अवलंबा ।।
नवल नागकेसरि वन नीको। ललित लालि तो रघुवर सीको ।।
तृदिशि नगर सरयू सरि पावनि। मणिमय तीरथ अमित सुहावनि ।।
विकसे जलज भृंग रस भूले। गुंजत जल समूह दोउ कूले ।।
परिपा त्रिविध सुधा सम वारी। विकसे विविध कंज मनहारी ।।
विच बिच महल पंक्ति बनि आई। स्वर्ण रत्न मणि सुभग सुहाई ।।

परिषा प्रति चहुँ दिशि लस, कंचन कोट प्रकास।
विविध रंग नग जगमगत, प्रति गोपुर पुर पास ।।
दिव्य फटिकमय कोट की, शोभा कहि न सिराय।
चहुँ दिशि अद्भुत ज्योतिमय, जगमगात सुख पाय ।।

महल की शोभा

भीतर कोट वोट अति पावन। चितामणिमय भूमि सुहावन ।।
चहुँ दिशि योजन चार सुहावा। सो अवधेंद्र भवन श्रुति गावा ।।
पंच चौक राजत अति नीके। कौशलसुता राजमहिषी के ।।
पूरब चौक सखी बहु राजै। वेतपाणि रक्षण हित काजै ।।
दक्षिण राज किंकरी दासी। महल टहल नित निकट सुपासी ।।
पश्चिम चौक सैन की शाला। राजति तहाँ सुमंगल बाला ।।
रघुवर धाय पुत्र सब पाले। पान पान सुख बहु बिधि लाले ।।
उत्तर चौक करत सब सेवा। राजत रंग राजकुल देवा ।।

कुलगुरु नृप पुत्रन सहित, वधुन सहित रनिवास।
ज्ञाति वर्ग मंत्री मुदित, पूजत सहित हुलास ।।

अन्तःपुर का वर्णन

पुनि तहँ ते षोडस सहचरी। गाइ उठीं प्रीतम रँग भरी ।।
तिन ते अलि नव अष्ट सुहाई। निज-निज थल गावत छबि छाई ।।
अंतःपुर जहँ सिय पिय राजै। शोभा कहत शेष श्रुति लाजै ।।
रतन जड़ित परयंक सुहावा। स्वर्ण रत्न मणि खचित सुपावा ।।

विविध विचित्र चित्र रँग राजै। निरखत अलिवलि सहित समाजैं ॥
अति अद्भुत उपमा छबि छाये। श्रुति संहिता पुराणन गाये ॥
तेहि ऊपर अति ललित बिछौना। क्षीर फेन सम कोमल लोना ॥
तेहि ऊपर सुमनन की शोभा। कहत न बनै देखि मन लोभा ॥

चित्र विचित्र अनी न रचि, सेज सुमन पच रंग।
लाल लाड़िली रस भरे, सोवत दोउ हित संग ॥
छतुरी ललित ललाम, राजत वर परयंक कर।
चहुँदिशि मुक्ता दाम, विशद कान्ति झालरि ललित ॥

कनक दड वर चारि सुहावन। रचित अरुण मणि अति मन भावन ॥
अति सुंदर सनेह सुख खानी। कहत सुकरि सदग्रन्थ बखानी ॥
अद्भुत रंग कान्ति सुखरासी। कुंज महल छबि प्रभा प्रकासी ॥
गज मुक्तन की झालरि झमकै। मणिमय दीप ज्योति मधि चमकै ॥
झीने पट अति परदा परे। पवन प्रसंग व्यजन शिर ढरे ॥
तेहि चारिउ दिशि फरस बिछाये। कनकतार मणिजड़ित सुहाये ॥
कहुँ अति कोमल बिछे गलीचा। सुमनन की रचना बिच बीचा ॥
कहुँ कंचन की चौकी धरी। झारी श्री सरयू जल भरी ॥

शीतल मधुर सुगंध सुख, स्वाद विशद रस रूप।
तृषा हरन मंगल करन, आनँद भरन अनूप ॥

रत्न जड़ित बहु धरे कटोरा। बहु मेवन युत स्वाद न थोरा ॥
पानदान वीरिन ते भरे। अगिणित भाँति सुरभि कहुँ धरे ॥
पुनि तेहि पीछे परदा डारे। तहँ नृत्यत उठि सखी सवाँरे ॥
प्रथम वरन अरु अष्टम जोरी। पुनि जहँ ते षोडस सहचरी ॥
तेहि पीछे ललना बहु राजै। निज निज सौं जलि ये सब भ्राजै ॥
कोउ ताम्बूल लिये कोउ झारी। कोउ सुमनन श्रृंगार सँवारी ॥
रंग रग के गजरा लीन्हे। प्रीतम मग चितवरि चित दीन्हे ॥
अन्तहपुर की धुनि सुनि पाई। निज-निज थलनि नचै सब जाई ॥

कुज कुंज ते अलि अमित, विविध सौज के साज।
चन्दन अगर सुगध सुभ, सुमन सुमंगल काज ॥
युगल लाल प्रिय कुंज सुख, नित नव विमल विहार।
पंच भाव रति युगल मति, वर्णत लहत न पार ॥

यहि विधि लखि जागे रघुराई। पुनि परदा इक दीन उठाई ॥
जागे प्रीतम निशि रँग भीने। अरस-परस श्रृंगार सब कीन्हे ॥

लसत लडैती लाल दोउ, सिथिल सनेह सुअंग।
दंपति संपति परस्पर, समर समर रसरंग ।।
मंगल थार अनेक विधि, लाल लाडिली पास।
आगे धरि मंगल अमित, गावहि सहित हुलास ।।
सुहृद सुजान सुशील सब, जे प्रभु रूप अपार।
कोउ न राम सम दूसरो, नेह निबाहन हार ।।

राम कुँवर छबि देखन लागी। अँग-अँग श्याम रूप अनुरागी ।।
त्रिदश वर्ष मुग्धा को श्यामा। मध्या काम केलि विश्रामा ।।
कोउ वय संधि केलि प्रिय नारी। युगल रंग रमु रूप विहारी ।।
कोउ नित नवल लाल मुख चाहे। यहि बिधि प्रीति रीति निरबाहें ।।
गदगद कंठ रोम सुरभंगा। लहत अष्ट सात्विक कोउ अंगा ।।
सबकी प्रीति रीति जिय जानत। तन मन वचन लाल सनमानत ।।

अन्तःपुर में सखियों की सेवा

अन्तःपुर की गली सुहाई। तेहि मग वह ललना चलि आई ।।
चतुर शिरोमणि सिय सुख पाई। भगिनी सब समीप बैठाई ।।
जरकस पट परदा अति झीनो। स्वर्ण सूत्रमणि खचित नवीनो ।।
तेहि भीतर बैठी सब राजहि। रति शत कोटि देखि छबि छाजहि ।।
सब समाज देखहि सुख पाई। श्रवण वचन सुख सुनत सुहाई ।।
रस अगम्य मुख बरणि न जाई। युगल ललित वात्सल्य सुहाई ।।
पिय मुख लखि सिय संग विराजी। निज-निज परिकर युत सुख साजी ।।
अग्र भाग सुभगा अति सोहै। सहजा हास विलासन मोहै ।।
श्री सरयू झारी लिये ठाढी। पान दान सुख तुलसी बाढी ।।
कमला विमला चमर ढुरावे। चन्द्रकला कछु तान सुनावै ।।
और सबै निज टहल सुधारै। ठाढ़ी दंपति चमर सँवारै ।।
जेहि जेहि अँग की माधुरी में मन लाग्यौ जास।
सोइ सोइ अँग निरखत सकल, मन मे परम हुलास ।।
कोइ दपति चितवनि को निरखै। मंद हँसनि मनु आनँद बरखै ।।
यहि विधि सबके नयन थकि, रहे माधुरी माहि।
सो लखि दंपति कोर दृग, अरस परस मुस्क्याहि ।।
कुज कुज प्रति सहचरी, आवत नावत माथ।
सन्मानत मृदु बचन कहि, लखि छबि होत सनाथ।।

रीति-काव्य

१. केशवदास
२. सेनापति
३. बिहारी
४. मतिराम
५. देव
६. घनानन्द
७. पद्माकर
८. हरिश्चन्द्र

केशवदास

जन्म——संवत् १६१२

मृत्यु——संवत् १६७४

स्थान——ओरछा

कवित्त

१

केशोदास लाख लाख भाँतिन के अभिलाख,
बारि दे री बावरी न बारि हिये होरी सी।
राधा हरि केरी प्रीति सबते अधिक जानि,
रति रतिनाहहू में देखो रति थोरी सी।।
तिनहूँ में भेद न भवानिहूँ पै पार्‍यो जाइ,
भारती की भारती है कहिबै को भोरी सी।
एकै गति एकै मति एकै प्रान एकै मन,
देखिबे को देह द्वै हैं नैनन की जोरी सी।

२

भूषण सकल घनसार ही कै घनस्याम,
कुसुम कलित केसरहि छवि छाई सी।
मोतिन की लरी सिर कंठ कंठमाल हार,
और रूप जोति जात हेरत हेराई सी।।
चंदन चढ़ाये चारु सुन्दर शरीर सब,
राखी शुभ शोभा सब वसन बसाई सी।
शारदा सी देखियतु देखौ जाइ केशोराय,
बाढ़ी वह कुँवरि जुन्हाई में अन्हाई सी।।

३

वा सों मृगअंक कहै तोसों मृगनयनी सब,
वह सुधाधर तुहूँ सुधाधर मानिये।
वह द्विजराज तेरे द्विजराजि राजै वह
कलानिधि तुहूँ कला कलित बखानिये।।
रत्नाकर के हैं दोऊ केशव प्रकाश कर,
अंबरबिलास कुबलयहितू गानिये।
वाके अति शीतकर तुहूँ सीता शीतकर,
चन्द्रमा सी चन्द्रमुखी सब जग जानिये।।

४

जो हौं कहौ रहिये तो प्रभुता प्रकट होत ,
चलन कहौ तो हित हानि नाहि सहनो।
भावै सो करहु तो उदास भाव प्रान नाथ,
साथ लै चलहप कैसे लोक लाज बहनो ॥
केशोदास की सौ तुम सुनहु छबीले लाल,
चलेही बनत जो पै नाही राज रहनो।
जैसियै सिखाओ सीख तुमही सुजान प्रिय,
तुमही चलत मोहि जैसो कछु कहनो ॥

५

प्रथम सकल शुचि मंजन अमल बास,
जावक सुदेश केश पाश को सम्हारिबो।
अंगराग भूषण बिबिध मुख बास राग,
कज्जल - कलित लोल लोचन निहारिबो ॥
बोलनि हँसनि मृदु चातुरी चितौनि चारु,
पल पल प्रति पतिब्रत प्रतिपारिबो।
केशोदास सबिलास करहु कुँवरि राधे,
इहि बिधि सोरह सिँगारनि सिँगारिबो ॥

६

दुरिहै क्यों भूषण वसन दुति जोवन की,
देह हूँ की जोति होति द्यौस ऐसी राति है।
नाह को सुवास लागेँ ह्वैहै कैसी केशव,
सुभाव ही की वास भौर भीर फारे खाति है ॥
देखि तेरी सूरति की मूरति बिसूरति हौ,
लालन को दृग देखिबे को ललचाति है।
चलिहै क्यों चन्द्रमुखी कुचन के भार भये,
कचन के भार तौ लचकि लंक जाति है।

७

मोहन मरीचिका सो हास घनसार कैसो,
वास मुख रूप कैसी रेखा अवदात हैं।

केशोदास वेणी तो त्रिवेणी सी बनाई गुही,
जामै मेरे मनोरथ मुनि मे अन्हात हैं ।।
नेह उरझै से नैन देखिवे को बिरुझे से,
बिझुकी सी भौहे उभके से उरजात है ।
देवी सी बनाई विधि कौन की है जाई यह,
तेरे घर आई आजु कही कैसी बात है ।।

८

छबिसों छबीली वृषभानु की कुँवरि आज,
रही हुती रूप मद मान मद छकि कै ।
मारहू तैं सुकुमार नंद के कुमार ताहि,
आये री मनावन सयान सब तकि कै ।।
हँसि हँसि सौह करि करि, पाँय परि परि,
केशोराय की सौं जब रहे जिय जकि कै ।
ताही समै उठे घन घोर-घोर, दामिनी सी,
लागी लौटि श्याम-घन-उर सों लपकि कै ।।

९

दीरघ दरीन बसे केशोदास केशरी ज्यों,
केशरी को देखे बनकरी ज्यों कँपत है ।
बासर की संपदा चकोर ज्यौं न चितवत,
चकवा ज्यौं चंद ही ते चौगुनी चँपत है ।।
केका सुनि व्याल ज्यौ बिलात जात घनश्याम,
घननि की घोरनि जवासे त्यौं तपत है ।
भौर ज्यों भँवत बन, जोगी ज्यों जगत निशि,
चातक ज्यों श्याम नाम तेरोई जपत है ।।

१०

फूल न दिखाउ, शूल फूलत हैं हरि बिनु,
दूरि करि माल बाल ब्याल सी लगति है ।
चँवर चलाउ जिन, बीजन हलाउ मति,
केशव सुगंध वायु बाह री लगति है ।।

चंदन चढ़ाउ जिन ताप सी चढ़ाति तन,
कुंकुम न लाउ अंग आग सी लगति है।
बार बार बरजति बावरी है वारौ आन,
बिरी ना खवाउ बीर बिष सी लगति है।।

११

सखै हारि सखी, डरपाइ हारी कादंबिनी,
दामिनी दिखाइ हारी दिशि अधिरात की।
झुकि झुकि हारी रति, मारि मारि हार्‌यो मार,
हारी झकझोरति त्रिबिध गति बात की।।
दई निरदई वाहि ऐसी काहि मति दई,
जारत जु रैन ऐन दाह ऐसी गात की।
कैसे हूँ न माने ही मनाइ हारी केशोदास,
बोलि हारी कोकिल, बुलाइ हारी चातकी।।

सवैया

१

भाल गुही गुन लाल लटैं लपटी लर मोतिन की सुखदैनी।
ताहि बिलोकत आरसी लै कर आरस सो इक सारस नैनी।
केशव कान्ह दुरे दरसी परसी उपमा मति को अति पैनी।
सूरज मण्डल में शशि मण्डल मध्य धँसी जनु ताहि त्रिबेनी।।

२

केशवदास के भाल लिख्यो विधि रंक को अंक बनाय सँवार्‌यो।
छोड़े छुट्‌यो नहिं धोये धुयो बहु तीरथ के जल जाइ पखार्‌यो।
है गयो रंक ते राउ तहीं जब बीरबली बलबीर निहार्‌यो।
भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाय रह्यो मुख चार्‌यो।।

३

काछे सितासित काछनी केशव, पातुर ज्यों पुतरीन बिचारो।
कोटि कटाक्ष नचै गति भेद, नचावत नायक नेह निहारो।

बाजत है मृदु हास मृदंग सो, दीपति दीपनि को उजियारो।
देखत हौं हरि देखि तुम्हें यह, होतु है आँखिन बीच अखारो।।

४

सौहैं दिवाय दिवाय सखी इक बारक कानन आनि बसाये।
जानै को केशव कानन ते कित है, हरि नैननि माँझ सिधाये।
लाज के साज धरेई रहे, तब, नैनन लै मन ही सौ मिलाये।
कैसी करौं अब क्यों निकसैं री, हरेई हरे हिय मैं हरि आये।।

५

बूझत ही वह गोपी गुपालहि, आजु कछू हँसि कै गुनगाथहिं।
ऐसे में काहू को नाम सखी कहि कैसे धौं आइ गयो ब्रजनाथहिं।
खाति खवावति ही जु बिरी, सु रही मुख की मुख हाथ की हाथहिं।
आतुर ह्वै उन आँखन तें अँसुवा निकसे अखरानि के साथहिं।।

सेनापति

जन्म—सं० १६४६

मृत्यु— अनिश्चित

स्थान— अनूपशहर

कवित्त

१

जौ तें प्रानप्यारे परदेस को पधारे तौ तें,
बिरह तै भई ऐसी ता तिय की गति है।
करि कर ऊपर कपोलहि कमलनैनी,
सेनापति अनमनी बैठीये रहति है।
कागहि उड़ावै कौहू कौहू कर सगुनौती,
कौहू बैंठि अबधि के बासर गनति है।
पढ़ि पढ़ि पाती कौहू फेरि कै पढ़ति,
कौहू प्रीतम कौ चित्र मै सरूप निरखति है।

२

नाही नाहीं करै थोरो माँगे सब देन कहै,
मंगन कौ देखि पट देत बारबार हैं।
जिनकौ मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सदा सब जन मन भये निरधार हैं।
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य.
कनकन जोरै दानपाठ परिवार है।
सेनापति बचन की रचना विचारौ जामैं,
दाता अरु सूम दोऊ कीने इकसार हैं।

३

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति,
सेनापति कौं सहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन वन,
फैलि रहे तारे मानो मोती अनगन है।
उदित विमल चंद चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन हैं।
तिमिर हरन भयौ सेत हैं बरन सब,
मानहु जगत छीरसागर मगन है।

४

अंजन सुरंग जीते खंजन कुरंग मीन,
नेक न कमल उपमा को नियरात है।
नीके अनियारे अति चपल ढरारे प्यारे,
ज्यों ज्यों मैं निहारे त्यों त्यों खरो ललचात हैं।
सेनापति सुधा से कटाछनि बरसि ज्यावै,
जिनकौ निरखि हियो हरखि सिरात हैं।
कान लौ बिसाल काम भूप के रसाल बाल,
तेरे दृग देखे मेरो मन न अघात है॥

५

पून्यो सी तिहारी लाल प्यारी मै निहारी बाल,
तारे सम मोती के सिँगार रही साजि कै।
झीनौ पर गात चाँदनी सौं अवदात जात,
लोचन चकोरन कौं देखे दुख भाजि कै।
सेनापति तनसुख सारी की किनारी बीच,
नारी के बदन आछी छवि रही छाजि कै।
पूरन सरद चंद बिब ताके आसपास,
मानहुँ अखड रह्यो मंडल बिराजि कै।

६

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई रितु पावस न पाई प्रेम पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी है,
दरकी सुहागिनि की छोह भरी छतियाँ।
आई सुधि बर की हियें मै आनि खरकी,
तू मेरी प्रानप्यारी यह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ॥

७

सेनापति उनये नये जलद सावन के,
चारिहूँ दिसान घुमरत भरे तोय के।

सोभा सरसाने न बखाने जात काहू भाँति,
आने है पहार मानौं काजर के ढोय कै।
घन सों गगन छयौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौ रवि गयो खोय कै।
चारि मास भरि घोर निसा को भरम करि,
मेरे जान याही ते रहत हरि सोय कै।

८

सेनापति ऊँचे दिनकर के चलति लुवै,
नद नदी कुवै कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन मुरझात उपवन वन,
लाग्यो है तवन डार्‌यो भूतल तपाइ कै।
भीषम तपत ऋतु गीषम सकुचि तातै,
सीरक छिपी है तहखानन में जाइ कै।
मानो सीतकाल सीतलता के जमाइबै को,
राखे है बिरंचि बीज धरा मै धराइ कै।

९

लोल हैं कलोल पारावार के अपार तऊ,
जमुना लहरि मेरे हिय कौ हरति है।
सेनापति नीकी परवास हू तैं ब्रजरज,
पारिजात हू तै बनलता सरसति है।
अंग सुकुमारी संग सोरह सहस नारी,
तऊ छिन एक पै न राधा बिसरति है।
कंचन अटा पर जराऊ परजंक तऊ,
कुंजन की सेजै वे करेजे खरकति है।

१०

बिंब है अधर बिब, कुंद के कुसुम दंत,
उरज अनार निरखत सुखकारी है।
राजै भुजलता कोटि कंटक कटाक्ष अति,
लाल लाल कर किसलै के अनुकारी है।

सेनापति चरन बरन नव पल्लव के,
जंघन कौ जुग रंभा थभ दुति धारी हैं।
मन तो मुनिन हू कौ जो बनबिहारि हुतौ,
सो तो मृगनैनी तेरे जोबन बिहारी हैं।।

११

हिय हरि लेत है निकाई के निकेत हँसि,
देत है सहेत निरखत कटि सैन हैं।
सेनापति हरिनी के दृगन तें अति नीके,
दरद है हरत करत चित चैन हैं।
चाहत न अंजन रसिक जनरंजन हैं,
खंजन सरस रस-रागरीति ऐन हैं।
दीरघ ढरारे अनियारे नैंक रतनारे,
कंज से निहारे कजरारे तेरे नैन हैं।।

१२

अँखियाँ सिराती ताप छाती की बुझाती,
रोम-रोम सरसाती तन सरस परस ते।
रावरे अधीन तुम बिनु अति दीन हम,
नीर हीन मीन जिमि काहे कौ तरसते।
सेनापति जीवन अधार निरधार तुम,
जहाँ को ढरत तहाँ टूटत अरस ते।
उनै उनै गरजि गरजि आये घनस्याम,
ह्वै के बरसाउ एक बार तौ बरसते।।

बिहारी

जन्म— सं० १६५२

मृत्यु— सं० १७२१

स्थान— बसुआ गोविन्दपुर (ग्वालियर)

दोहा

क्यों बसिये क्यों निबहिये नीति नेहपुर नाहि।
लगालगी लोचन करै नाहक मन बँध जाहि ॥ १
कहत सबै बेदी दिये आँकु दस गुनो होत।
तिय लिलार बेदी दिये अगनित बढ़त उदोत ॥ २
गिरि ते ऊँचे रसिक मन बूड़े जहाँ हजार।
वहै सदा पसुनरन को प्रेम पयोधि पगार ॥ ३
लाज लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहि।
ये मुँह जोर तुरंग लो ऐंचत हूँ चलि जाहि ॥ ४
नहि पराग नहि मधुर मधु नहिं विका सयहि काल।
अली कली ही सो बिध्यो आगे कौन हवाल ॥ ५
जिन दिन देखे वे कुसुम गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब मे अपत कँटीली डार ॥ ६
एहि आसा अटक्यो रह्यो अलि गुलाब के मूल।
अइहै बहुरि वसन्त रितु इन डारनि वे फूल ॥ ७
अंग अग नग जगमगति दीप-शिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहें बड़ो उजेरो गेह ॥ ८
अनियारे दीरघ नयनि किती न तरुनि समान।
उहि चितवन औरे कछू जिहि बस होत सुजान ॥ ९
बाल काहि लाली भई लोयन कोयन माँह।
लाल तिहारे दृगन की परी दृगन में छाँह ॥ १०
अहे दहेंडी जिन धरै जिन तू लेहि उतारि।
नीके ह्वै छीके छुवै ऐसे ही रहि नारि ॥ ११
बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौह करै भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय ॥ १२
किती न गोकुल कुल बधू, काहि न किहि सिख दीन।
कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन ॥ १३
पिय के ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपुही आरसी लखि रीझति रिझवारि ॥ १४

करत मलिन आछी छबिहिं हटत जु सहज विकास।
अंगराग अंगन लग्यो ज्यों आरसी उसास॥ १५

छिप्यौ छबीली मुख लसै नीले आँचल चीर।
मनो कलानिधि झलमलै कालिंदी के नीर॥ १६

कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे मौन में कहत हैं नैननु ही सब बात॥ १७

हरि छबि जल जब तें परे तब तें छिन बिछुरैं न।
भरत ढरत बूड़त तिरत रहट घरी लौ नैन॥ १८

छुटी न सिसुता की झलक झलक्यो जोबन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि दिपत ताफता रंग॥ १९

मानहु बिधि तन अच्छ छबि स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन को कियो भूषन पायंदाज॥ २०

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥ २१

भूषन भार सँभारिहै क्यों वह तन सुकुमार।
सूधे पाँय न धरि सकति सोभा ही के भार॥ २२

छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत झौंर झौर मधु अंध॥ २३

रनित भृंग घंटावली झरत दान मधु नीर।
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर॥ २४

दीरघ साँस न लेहि दुख सुख साईं नहिं भूलि।
दई दई क्यों करत है दई दई सु कबूलि॥ २५

या भव-पारावार को उलँघि पार को जाइ।
तिय छबि छायागाहिनी गहै बीच ही आइ॥ २६

जब जब वे सुधि कीजिये तब तब सब सुधि जाहिं।
आँखिन आँख लगी रहै, आँखै लागति नाहिं॥ २७

अलि इन लोयन को कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे प्रति दिन रहैं तऊ न प्यास बुझाय॥ २८

कौन सुनै कासौं कहौं सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत है ये बदरा बदराह॥ २९

कहा भयौ जो बीछुरै मो मन तो मन साथ।
उडी जाउ किनहूँ गुड़ी तऊ उड़ायक हाथ।। ३०

जहाँ जहाँ ठाढौ लख्यौ स्याम सुभग सिर मौर।
उनहूँ बिन छिन गहि रहत दृगनि अजौं वह ठौर।। ३१

तौ लगि या मन सदन में हरि आवै किहि बाट।
विकट जरै जौ लगि निपट खुलै न कपट कपाट।। ३२

करौ कुवत जग कुटिलता तजौं न, दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगीलाल।। ३३

मतिराम

जन्म—सं० १६६० (लगभग)

मृत्यु—सं० १७५८ (लगभग)

स्थान—वनपुर

सवैया

१

मोर पखा 'मतिराम' किरीट मैं कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर, कुंडल डोलनि मैं छवि छाई।
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई।
वा मुख को मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई।।

२

क्यो इन आँखिन सो निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारै कलंक लगै इहि गाँव बसै कहौ कैसे कै जीजै।
होत रहै मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरारस पीजै।।

३

कुंदन को रँग फीको लगै झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु विलासन की सरसाई।
को विनु मोल बिकात नहीं मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यो खरी निखरै-सी निकाई।।

४

प्रानप्रिया मनभावन संग अनंग तरंगनि रंग पसारे।
सारी निसा मतिराम मनोहर केलि के पुंज हजार उघारे।
होत प्रभात चल्यो चहै पीतम सुन्दरि के हिय में दुख भारे।
चंद सो आनन दीप सी दीपति स्याम सरोज से नैंन निहारे।।

५

ह्याँ मिलि मोहन सों मतिराम सुकेलि करी अति आनँदबारी।
तेई लता-द्रुम देखत दुःख, चले अँसुवा अँखियानि ते भारी।
आवति हौं जमुना तट कौ नहि जान परै बिछुरे गिरधारी।
जानति हौ सखि आवन चाहत कुंजन तैं कढ़ि कुंजबिहारी।।

६

रावरे नेह को लाज तजी अरु गेह के काज सबै बिसराये।
डारि दिये गुरु लोगन को डर, गाम चवाई में नाम धराये।
हेत कियो हम जो तो कहा तुम तो मतिराम सबै बिसराये।
कोउ कितेक उपाय करौ कहु होत है आपने पीउ पराये।।

७

दोउ अनंद सौ आँगनि माँझ बिराजै असाढ की साँझ सुहाई।
घाटी कौ बूझत और तिया को अचानक नाँउ लियो रसिकाई।
आयो उन्हे मुँह में हँसी, कोपि प्रिया सुरचाप सी भौह चढ़ाई।
आँखिन तै गिरै आँसु के बूँद सुहास गयौ उड़ि हंस की नाई।।

८

तेरे कह्यो सिगरो मैं कियो निसिद्यौस तप्यौ तिहु तापन पाई।
मेरो कह्यो अब तू करि जो सब दाह मिटै परिहै पियराई।
संकर-पायनि मै लगि रे मन थोरे ही बातन सिद्धि सुहाई।
आक धतूरे के फूल चढ़ाये ते रीझत है तिहुँ लोक के साँई।।

९

प्रान पियारी मिल्यौ सपने मै परी जब नैसुक नीद निहोरे।
कंत को आगम त्यों ही जगाय कह्यौ सखी बोल पियूष निचोरे।
यों मतिराम भयो हिय मैं सुख बाल के बालम सों दृग जोरे।
जैसे मिही पट में चटकीलो चढ़ै रँग तीसरी बार के बोरे।।

१०

जा छिन ते मतिराम कहै मुसुकात कहूँ निरख्यो नँदलालहि।
ता छिन ते छिन ही छिन छीन, बिथा बहु बाढी वियोग की बालहि।
पोंछति है कर सो किसलै गहि, बूझत स्याम सरीर गोपालहि।
भोरी भई है मयंकमुखी, भुज भेंटति है भरि अंक तमालहिं।।

११

अंजन दै निकसै नित नैनन मंजन के अति अंग सँवारै।
रूप गुमान भरी मग मैं पग ही के अँगूठा अनौट सुधारै।

जोबन के मद सों मतिराम भई मतवारिनि लोग निहारै।
जाति चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकै अँचरा न सँभारै॥

१२

प्यार पगी पगरी पिय की वसि भीतर आपने सीस सँवारी।
एते में आँगन ते उठिकै तहँ आइ गये मतिराम बिहारी।
देखि उतारनि लागि तिया पिया सौंहनि सों बहुरी न उतारी।
नैन नवाइ लजाइ रही मुसकाइ लला उर लाइ पियारी॥

१३

गोपसुता कहै गौरि गुसाइनि पाँय परौ विनती सुनि लीजै।
दीन दयानिधि दासी के ऊपर नेक सुचित्त दया-रस भीजै।
देहिं जो ब्याहि उछाह सों मोहनै मात-पिता हू को सो मन कीजै।
सुन्दर साँवरो नन्दकुमार बसै उर जो वह सो वर दीजै॥

१४

यो दुख दै ब्रजबासिन कौ ब्रज कौ तजि कै मथुरा सुख पैहै।
वै रसकेलि बिलासिनि कौ बन कुंजनि की बतियाँ बिसरैहै।
जोग सिखावन कौ हमकौ बहुर्‌यौ तुमसो उठि धावन ऐहै।
ऊधो नही हम जानत है मनमोहन कूबरी हाथ बिकैहै॥

कवित्त

१

साँझ समै मतिराम काम बस बंसीधर,
बंसीवट तट पै बजाई जाय बाँसुरी।
सुमिरि सहेट वृषभानु की कुमारि उर,
दुख अधिकानो भयो सुख को बिनासु री।
सर सों समीर लाग्यो सूल सी सहेली सब,
बिस सो विनोद लाग्यौ बन सो निवासु री।
ताप चढ़ि आयो तन, पीरी परि आई मुख,
आँखिन के ऊपर उमँगि आये आँसु री॥

२

साँझ ही सिंगार साजि प्रान घोर पास जाति,
बनिता बनक बनी बेलि सी अनन्द की।
कवि मतिराम कल किंकिनी की धुनि बाजै,
मन्द मन्द चाल ज्यों बिराजत गयन्द की।
केसरि रँगे दुकूल हाँसी में झरत फूल,
केसनि मै छाई छबि फूलन के वृन्द की।
पाछे पाछे आवत अँध्यारी सी भँवर भीर,
आगे फैल रही उजियारी मुखचन्द की।।

३

बरज्यौ न मानत हौ बार बार बरज्यो मै,
कौन काम मेरे इत भौन मै न आइये।
लाज को न लेस जग हाँसी को न डर मन,
हँसत हँसत आन बात न बनाइये।
कवि मतिराम नित उठि कलकानि करो,
नित झूठी सौहै करो नित बिसराइये।
ताके पग लागो निसि जागि जाके उर लागे,
मेरे पग लागि उर आगि न लगाइये।।

४

कब की हौं देखति चरित्र निज आँखिन सो,
राधिका रसीली स्याम रसिक रसाल के।
मतिराम बरनै दूहूँनि के मुदित अति,
मन भये मीन से अमृतमय ताल के।
इक टक देखें लिये ब्रत से निमेखनि के,
नेक किये मानों पूरे प्रेम प्रतिपाल के।
लाल मुख इंदु नैन बाल के चकोर, बाल
मुख अरबिन्दु चंचरीक नैन लाल के।।

देव

जन्म— संवत् १७३०

मृत्यु— संवत् १८२४

स्थान— इटावा

सवैया

१

देव सबै सुखदायक संपनि, सपति दंपति दंपति जोरी।
दंपति सोई जु प्रेम प्रतीति, प्रतीति की रीति सनेह निचोरी।
प्रीति महागुन गीत बिचार, बिचार की बानी सुधारस बोरी।
बानी को सार वखान्यो सिगार, सिगार को सार किसोर किशोरी।।

२

जागत सोवत हू सपने, अपनेई अयानपने को अँध्यारो।
केहू छिपे न छिनौ न दिनौ, निसि दीपति देह सदेह उज्यारो।
नैनन ते निचुर्‌यो परै नेह, सु रोकत बैंनन प्रेम पत्यारो।
दूरि रहे कित जीवन मूरि जु, पूरि रह्यो प्रतिबिव ज्यौ प्यारो।।

३

रावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रस सौ श्रुति सानो।
गात में देखत गात तुम्हारे ई, बात तुम्हारिये बात बखानो।
ऊधो हहा हरि सौ कहिये, तम हौं न इहाँ यह हौं नहि मानो।
या तन ते बिछुरे तो कहा, मन ते अनतै जु बसौ तब जानो।।

४

राधिका कान्ह को ध्यान धरे, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यौं अँसुवा बरसै बरसाने को, पाती लिखै लिखि राधिकै ध्यावै।
राधे ह्वै जात तही छिन में, वह प्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आपु में आपुन हीं उरझै, सुरझै बिरुझै समुझै समुझावै।।

५

सुनि के धुनि चातक मोरनि की, चहुं ओरनि कोकिल चूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागनि में, सखि रागत राग अचूकनि सों।
कवि देव घटा उनई जु नई, बनभूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता, झुकि जाति समीर कै झूकनि सों।।

६

साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
जीव रह्यो मिलिबेई कि आस कि आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

७

माखन सो तन दूध सो जोबन है दधि ते अधिकै उर ईठी।
जा छवि आगे छपाकर छाछ, समेत सुधा वसुधा सब सीठी।
नैनन नेह चुवै कवि देव बुझावन बैन वियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै, कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी॥

८

हाय दई! यहि काल के ख्याल मैं, फूल से फूलि सबै कुम्हिलाने।
या जग बीच बचे नहि मीच तै जे उपजे ते मही मै मिलाने।
देव-अदेव, बली-बलहीन चले गये मोह की हौस-हिलाने।
रूप-कुरूप, गुनी-निगुनी जे जहाँ उपजे, ते तहाँ ही बिलाने॥

९

पान दियो हँसि प्यार सों प्यारी, बहू लखि त्यों हँसि भौह मरोरी।
बाँह गही ललचाइ लला, मुख नाहीं कही मुसकाइ किसोरी।
तोरो न लाज जेठानी सखीजन देव ढिठाई करै नहि थोरी।
लाज जितै चितवै तिय पै, तिय त्यौं-त्यौं चितौति सखीन की ओरी॥

१०

वा चकई को भयो चित-चीतो, चितौत चहूँ दिसि चाय सों नाची।
ह्वै गई छीन छपाकर की छबि, जामिनि जोन्ह जगौ जम जाँची।
बोलत बैरी बिहगंम देव सु, बैरिन के घर सम्पति साँची।
लोहू पियो जु वियोगिनि को, सु कियो मुख लाल पिसाचिनि प्राची॥

११

आई हुती अन्हवावन नाइनि, सोंधो लिये वह सूधे सुभायनि।
कुंचुकी छोरी उतै उपटैबै को, ईंगुर से अँग की सुखदायनि॥

देव सुरूप की रासि निहारति, पाँय ते सीस लौं, सीस ते पाँयनि ।
है रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी-सी, हँसि निज कर ठोढी धरे ठकुरायनि ।।

१२

कान्ह भई वृषभानुसुता भई प्रीति नई उनई जिय जैसी ।
जानै को देव बिकानी सी डोलै लगै गुरु लोगनि देखि अनैसी ।
ज्यों ज्यों सखी बहरावति बातन त्यों-त्यों बकै वह बावरी ऐसी ।
राधिका प्यारी हमारी सौ तुम कहँ कालिह की बेनु बजाई मैं कैसी ।।

१३

धार में धाय धँसी निरधार है, जाय फँसी उकसी न अँधेरी ।
री अँगराय गिरी गहिरी, गहि फेरे फिरी न घिरी नहिं घेरी ।
देव कछू अपुनो बस ना, रस लालच लाल चितै भई चेरी ।
बेगिही बूड़ि गई पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी ।।

१४

देव मैं सीस बसायौ सनेह कै, भाल मृगम्मद बिंदु कै राख्यौ ।
कंचुकी में चुपर्‌यौ करि चोवा, लगाय लियौ उर सों अभिलाख्यौ ।
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ ।
साँवरे लाल कौ साँवरे रूप मैं, नैननि कौ कजरा करि राख्यौ ।।

कवित्त

१

फटकि सिलानि सो सुधार्‌यौ सुधा-मंदिर,
उदधि दधि कौ सों अधिकाई उमँगै अमंद ।
बाहर ते भीतर लौं भीति न दिखैये देव,
दूध कैसो फेनु फैलो आँगन फरस बंद ।
तारा-सी तरुनि तामे बढ़ी झिलमिल होत,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका कौ मकरंद ।
आरसी-से अंबर में आभा-सी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका कौ प्रतिबिंब सो लगत चंद ।।

२

कंत बिन बासर बसंत लागे अतक से,
तीर ऐसे त्रिविध समीर लागे लहकन।
सान धरे सार से चँदन, धनसार लागे,
खेद लागे खरे, मृगमेद लागे महकन।
फाँसी से फुलेल लागे, गाँसी से गुलाब अरु,
गाज अरगजा लागे, चोवा लागे चहकन।
अंग अंग आगि ऐसे केसरि के नीर लागे,
चीर लागे जरन, अबीर लागे दहकन॥

३

नीलपट तन पै घटा-सी घुमाय राखौ,
दंत की चमक सों छटा-सी बिचरति हौ।
हीरनि की किरनै लगाय राखौ जुगुनू-सी,
कोकिला पपीहा पिय बानी सों भरति हौ।
कीच अँसुवनि की मचाऊँ कवि देव कहै,
पीतम बिदेसी को सिधारिबौ हरति हौ।
इन्द्र कैसो धनु साजि बेसरि कसति आजु
रहु रे बसंत तोहि पावस करति हौ॥

४

कम्पत हियो, न हियो कम्पत हमारो, यों
हँसी तुम्है अनोखी नेकु सीत मै ससन देहु।
अम्बर-हरैया हरि, अम्बर उज्यारो होत,
हेरि कै हँसे न कोई, हँसे तौ हँसन देहु।
देव दुति देखिबे को लोयन मै लाली लखौ,
लोयन मैं लाज लागी लोयन लसन देहु।
हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अबहूँ बसन देहु, ब्रज मै बसन देहु॥

५

सखी के सकोच गुरु-सोच मृगलोचनि,
रिसानी पिय सो, जु उन नेकु हँरू छुयो गात।

देव वै सुभाय मुसकाय उठि गये, यहि
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात।
को जानै बीर बिनु बिरही बिरह बिथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछू सोहात।
बड़े-बड़े नैनन ते आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो सो बिलानो जात।।

६

तुही पंच तत्त्व, तुही सत्त्व, रज, तम तुही,
थावर औ जंगम जितेक भयो भव मैं।
तेरे ये विलास लौटि तोही मैं समाने कछू,
जान्यो न परत पहिचान्यो जब-जब मै।
देख्यो नही जात, तुम्हीं देखियत जहाँ-तहाँ,
दूसरो न देख्यो देव तुही देख्यो अब मै।
सब की अमर-मूरि, मारि सब धूरि करै,
दूरि सब ही ते भरपूरि रह्यो सब मैं।।

७

घोर तरुनीजन बिपिन तरुनीजन ह्वै,
निकसीं निसंक निसि आतुर अतंक में।
गनै न कलंक, मृदु लंकनि मयंकमुखी,
पंकज पगन धाईं भागि निसि पंक मे।
भूषननि भूलि पैन्हे उलटे दुकूल देव,
खुले भुजमूल प्रतिकूल बिधि बंक में।
चूल्हे चढ़े छाँड़े उफनात दूध भाँडे उन,
सुत छाँड़े अंक पति छाँड़े परजंक में।।

८

झहरि झहरि झीनी बूँद है परति मानों,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मो सों चलौ झूलिबे कों आजु,
फूली ना समानी भई ऐसी हौ मगन मे।

चाहत उठाई उठि गई सो निगोडी नीद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन मे।
आँख खोलि देखौं तौ न घन है, न घनस्याम,
वेई छाईं बूँदैं मेरे आँसु ह्वै दृगन मे॥

९

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई देव,
श्रीफल उरोज आभा आभासै अधिक-सी।
छूटी अलकनि छलकनि जलबूँदन की,
बिना बैंदी बंदन बदन सोभा बिकसी।
तजि तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप गुंज,
गुंजरत मंजु रव बोले बाल पिक-सी।
नीबी उकसाइ नेकु नयन हँसाय हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर तैं निकसी॥

१०

सहर सहर सौंधों सीतल समीर डोलै,
घहर घहर घन घेरि के घहरिया।
झहर झहर झुकि झीनी झरि लायो देव,
छहर छहर छोटी बूँदन छहरिया।
हहर हहर हँसि हँसि के हिंडोरे चढी,
थहर थहर तन कोमल थहरिया।
फहर फहर होत पीतम को पीतपट,
लहर लहर होत प्यारी की लहरिया॥

११

सरद के बारिद में इंदु-सी लसत 'देव',
सुंदर बदन चाँदनी सौ चारु चीर है।
सौंधौ सुधाबिदु मकरंद-सी मुकत माल,
लिपित मनोज तन मंजरी सरीर है।
सील भरी, सलज सलोनी मृदु मुसकानि,
राजै राजहंस गति गुननि गहीर है।

घेरी चहूँ ओरन तें मोरन की भीर भारी,
मोरन की भीर में चकोरनि की भीर है ॥

१२

औचक अगाध सिन्धु स्याही को उमडि आयो,
तामें तीन लोक बूड़ि गये एक संग मैं ।
कारे कारे आखर लिखे जु कारे काजर सु,
न्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चित भंग मैं ।
आँखिन मे तिमिर अमावस की रैन जिमि,
जम्बूरस बुंद जमुना जल तरंग मैं ।
यो ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यौ माई,
स्याम रंग ह्वै करि समानो स्याम रंग मैं ।

घनानन्द

जन्म—संवत् १७४६ (लगभग)

मृत्यु— सं० १७९६ (लगभग)

स्थान— दिल्ली

सवैया

१

नेही महा, ब्रजभाषा प्रबीन औ सुंदरतानि के भेद कों जानै ।
जोग बियोग की रीति मै कोबिद, भावना भेद स्वरूप को ठानै ।
चाह के रंग मै भीज्यौ हियो, बिछुरें मिले प्रीतम साँति न मानै ।
भाषा प्रबीन, सुछंद सदा रहै, सो घनजी के कबित्त बखानै ।।

२

मीत सुजान अनीति करौ जिन, हा हा न हूजियै मोहि अमोही ।
दीठि कौं और कहूँ नहि ठौर, फिरी दृग रावरे रूप की दोही ।
एक बिसास की टेक गहै लगि आस रहे बसि प्रान बटोही ।
हौं घनआनँद जीवन मूल दई कित प्यासनि मारत मोही ।।

३

पहिलै घनआनँद सीचि सुजान कही बतियाँ अति प्यार पगी ।
अब लाय बियोग की लाय, बलाय बढ़ाय, बिसास दगानि दगी ।
अँखियाँ दुखियानि कुबानि परी, न कहूँ लगै, कौन घरी सु लगी ।
मति दौरि थकी, न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह मिठास ठगी ।।

४

तब तो छबि पीवत जीवत हे, अब सोचन लोचन जात जरे ।
हित पोष के तोष सु प्रान पले, बिललात महादुख दोष भरे ।
घनआनँद मीत सुजान बिना सब ही सुख साज समाज टरे ।
तब हार पहार से लागत हे अब आनि कै बीच पहार परे ।।

५

रावरे रूप की रीति अनूप, नयो नयो लागत ज्यौ ज्यौ निहारियै ।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी, अघानि कहूँ नहि आनि तिहारियै ।
एक ही जीव हुतौ सु तौ बार्यौ, सुजान, सकोच औ सोच सहारियै ।
रोकि रहै न, दहै, घनआँनद बावरी रीझ के हाथनि हारियै ।।

६

नेह निधान सुजान समीप तौ सीचति ही हियरा सियराई।
सोई किधौं अब और भई, दई हेरत ही मति जाति हिराई।
है बिपरीति महा घनआनँद अंबर तें थर कों झर आई।
जारति अंग अनंग की आँचनि जोन्ह नहीं सुनई अगिलाई।।

७

सुनि री सजनी, रजनी की कथा इन नैन चकोरन ज्यौं बितई।
मुख चंद सुजान सजीव कौ लखि पाएँ भई कछु रीति नई।
अभिलाषनि आतुरताई घटा तब ही घनआनँद आनि छई।
सु बिहाति न जानि परी भ्रम सी कब है बिसवासिनि बीति गई।।

८

जिन आँखिन रूप चिन्हारि भई तिनकी नित नींद ही जागनि है।
हित पीर सों पूरित जो हियरा, फिरि ताहि कहौ कहा गलानि है।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ जियराहि सदा दुख दागनि है।
सुख मै मुखचंद बिना निरखें नख तें सिख लौ बिष पागनि है।।

९

परकाजहि देह कों धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ सब ही बिधि सज्जनता सरसौ।
घनआनँद जीवन दायक हौ कछु मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासि सुजान के आँगन मो अँसुवानहि लै बरसौ।।

१०

जिनका नित नीकें निहारति हीं तिनकों अँखियाँ अब रोवति है।
पल-पाँवड़े पायनि चायनि सो अँसुवान के धारनि धोवति है।
घनआनँद जान सजीवनि कौ सपने बिन पाएँई खोवति है।
न खुली मुँदी जानि परै कछु ये दुखदाई जगे पर सोवति है।।

११

रस-रंग खरी मृदि बोलनि कों कब काननि पान करायहौ जू।
मति हंस प्रसंसित सों कब धौ सुख लै अँखियान मै आयहौ जू।

अभिलाषनि पूरति है उफन्यौ मन तें मनमोहन पायहौ जू।
चितचातक के घनआनँद हौ रटना पर रीझनि छायहौ जू॥

कवित्त

१

छबि को सदन, मोदमडित बदन-चंद,
तृषित चखनि लाल, कब धौ दिखायहौ।
चटकीलो भेख करे, मटकीली भाँति सोंही,
मुरली अधर धरें लटकत आयहौ।
लोचन दुराय, कछू मृदु मुसक्याय, नेह-
भीनी बतियानि लड़काय बतारायहौ।
बिरह जरत जिय जानि, आनि प्रानप्यारे,
कृपानिधि, आनँद को घन बरसायहौ॥

२

वहै मुसक्यानि, वहै मृदु बतरानि, वहै
लड़कीली बानि आनि उर मैं अरति है।
वहै गति लैन, औ बजावनि ललित बैन,
वहै हँसि दैन, हियरा तें न टरनि है।
वहै चतुराई सों चिताई चाहिबे की छबि,
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है।
आनँदनिधान प्रान प्रीतम सुजान जू की
सुधि सब भाँतिन सो बेसुधि करति है॥

३

भए अति निठुर, मिटाय पहचानि डारी,
याही दुख हमै जक लागी हाय हाय है।
तुम तौ निपट निरदई, गई भूलि सुधि,
हमै सूल-सेलनि सो क्यौ हूँ न भुलाय है।
मीठे मीठे बोल बोलि, ठगी पहिले तौ तब,
अब जिय जारत, कहौ धौं कौन न्याय है।

सुनी है कै नाही, यह प्रगट कहावति जू,
काहू कलपाय हैं सु कैसें कल पाय है ।।

४

आसा गुन बाँधि कै भरोसो सिल धरि छाती
पूरे पन सिधु मै न बूढ़त सकायहौ ।
दुख दव हिय जारि, अतर उदेग आँच
रोम रोम त्रासनि निरंतर तवायहौ ।
लाख लाख भाँतिन की दुसह दसानि जानि
साहस सहारि सिर आरे लौ चलायहौ ।
ऐसे घनआनँद गही है टेक मन माहि
एरे निरदई तोहि दया उपजायहौ ।।

५

कारी कूर कोकिला, कहाँ कौ बैर काढति री,
कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै ।
पैड़ें पर पापी ये कलापी निस द्यौस ज्यौ ही,
चातक, घातक त्यौ ही तू हू कान फोरि लै ।
आनँद के घन प्रान जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरौ दल जोरि लै ।
जौ लौ करै आवन बिनोद बरसावन वे,
तौ लौ रे डरारे बजमारे घन घोरि लै ।।

६

जोई रात प्यारे सँग बातन न जात जानी,
सोई अब कहाँ तें बढ़नि लियें आई है ।
जोई दिन कंत साथ जीवन को फल लाग्यौ,
सोई बिन अंत देत अंतक दुहाई है ।
इनकी तौ रहौ, मेरे अंग अंग और भए,
सूखी सुख लता झालरति मुरझाई है ।
आली, घनआनँद सुजान सों बिछुरि परे,
आपौ न मिलत महा बिपरीत छाई है ।।

७

डगमगी डगनि धरनि छबि ही के भार,
ढरनि छबीले उर आछी बनमाल की।
सुदर बदन पर कोरिक मदन बारौ,
चित चुभी चितवनि लोचन बिसाल की।
काल्हि इहि गली अली निकस्यौ अचानक है,
कहा कहौ अटक भटक तिहि काल की।
भिजई हौ रोम रोम आनँद के घन छाय,
बसी मेरी आँखिन मै आँवनि गुपाल की ।।

८

नद को नवेलो अलबेलौ छैल रंग-भर्‌यौ,
काल्हि मेरे द्वार है कै गावत हुतै गयौ।
बड़े बाँके नैन महा सोभा के सु ऐन आली,
मृदु मुसक्याय मुरि मो तन चितै गयौ।
तब तें न मेरे चित चैन कहूँ रंच कौ है,
धीरज न धरै सो, न जानौ धौ कितै गयौ।
नेकु ही मै मेरो कछू मो पै न रहन पायौ,
औचक ही आय भटू लूट सी बितै गयौ ।।

९

जाके उर बसी रसमयी छबि साँवरे की,
ताहि और बात नीकी कैसें करि लागि है।
चखनि चषक पूरि पियौ जिन रूप-रस,
कैसें सो गरल सनी सीखनि सों पागि है।
आनँद को घन स्यामसुंदर सजल अंग,
छाड़ि, धूम-धूँधरि सों कैसें कोऊ रागि है।
ये तो नैन वाही को बदन हेरे सीरे होत,
और बात आली सब जागति ज्यौ आगि है ।।

१०

छबि सों छबीलो छैल आजु भोर याही गैल,
अति ही रँगीली भाँति औचक ही आय गौ।

चटक मटक भरी लटकि चलनि नीकी,
मृदु मुसक्यानि देखें मो मन बिकाय गौ।
प्रेम सों लपेटी कोऊ निपट अनूठी तान,
मो तन चिताय गाय लोचन ढुराय गौ।
तब ते रही हौ घूमि झूमि जकि बावरी है,
सुर की तरंगनि मैं रंग बरसाय गौ।।

११

प्रानन के प्रान, एहो सुदर सुजान, सुनौ,
कानन धरि बात, नेकु मेरी ओर चाहियै।
रूप दरसाय, चोप-चाय सरसाय हाय,
ल्याए करि हाँसी मैं बिसास हरि ता हियै।
भीजे घनआनँद बिराजौ निधरक तुम,
ताहि चिता-चिता-बीच ऐसें अब दाहियै।
सब बिधि लायक नबल नेही नायक हौ,
कहा लौ रसीले गुन-गननि सराहियै।।

१२

जे दृग सिराए घनआनँद दरस-रस,
ते अब अमोही दुख-ज्वाला जारियत है।
तोखे हित पोखे नित जेई पान राखि, साथ
तेईकै अनाथ यौ अकेले मारियत है।
कौन कौन बात को परेखो उर आनियै हो,
जान प्यारे कैसें बिधि अंक टारियत है।
थाती लौ तिहारी प्रीति छाती पै बिराजि रही,
हेरि हेरि आँसुन समूह ढारियत है।।

पद्माकर

जन्म—— संवत् १८१०

मृत्यु—— संवत् १८९०

स्थान——बाँदा

कवित्त

१

फूलन के खंभा, बनी पटरी सुफूलन की,
फूलन के फँदना फँदे है लाल डोरे मै।
कहै पदमाकर बितान तने फूलन के,
फूलन की झालर हू झूलती झकोरे मै।
फूलभरी फूलन सुफूल फुलवारी तहाँ,
फूलन के फरस बिछे है कुंज कोरे मै।
फूलजरी, फूलभरी, फूलझरी फूलन में,
फूल ही सी फूल रही फूल के हिडोरे मै॥

२

तीर पर तरनि तनूजा के तमाल तरे,
तीज की तयारी तकि आईं तकियान मै।
कहै पदमाकर सु उमँगे उमगि उठै,
मेंहदी सुरंग की तरंग अँखियान मै।
स्याम रंग बोरी गोरी नवल किसोरी तहाँ,
झूलती हिडोरे यों सुहाई सखियान मै।
काम झूले उर में, उरोजनि मे दाम झूल,
स्याम झूलै प्यारी की अन्यारी अँखियान मै॥

३

प्रलै के पयोनिधि लौं लहरै उठन लागीं,
लहरा लग्यो लौं होन पवन पुरवैया को।
भीर भरी झाँझरि बिलोकि मँझधार परी,
धीर न धरात पदमाकर खेवैया को।
कहाँ वार, कहाँ पार, जानी है न जात कछु,
दूसरो दिखात न रखैया और नैया को।

बहन न पैहै घेरि घाटहि लगैहैं ऐसो,
अमित भरोसो मोहिं मेरे रघुरैया को ॥

४

ब्याधहू तैं बिहद असाधु हौ अजामिल तै,
ग्राह तै गुनाही कहौ तिन मै गिनाओगे।
स्योरी हौ न शूद्र हो न केवट कहै की त्यों न
गौतमी तिया हो जापे पग धरि आओगे।
राम सौ कहत पदमाकर पुकारि तुम,
मेरे महापापन को पारहू न पाओगे।
सीता सी सती को तजौ झूठो ही कलंक सुनि,
साँचो हूँ कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे ?

५

जोग जप संध्या साधु-साधन सबैई तजे,
कीन्हें अपराध ते अगन्य, मन भावते।
ते ते तजि औगुन अनंते पदमाकर तौ,
कौन गुन लैके महाराजहि रिझावते।
जैसे अब तैसे पै तिहारे बड़े काम के है,
नाहीं तौ न एते बैन कबहूँ सुनावते।
पावते न मो सों जो पै अधम कहूँ तौ राम,
कैसे तुम अधम उधारन कहावते।

६

एहो नंदलाल ! ऐसी ब्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ जोरे जुरि जायगी।
कहै पदमाकर नहीं तो पै झकोरे लगे,
ओरे लौ अचाका बिनु घोरे घुरि जायगी।
सीरे उपचारन घनेरे घनसारन सों,
देखत ही देखौ दामिनी लौं दुरि जायगी।

तौ ही लागे चैन जौ लौं चेति है न चंदमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी।

७

जैसो तू न मोको कहूँ नेक हूँ डरात हुतो,
तैसों अब हौं हूँ तोहि ते कहूँ न डरिहौं।
कहै पदमाकर प्रचंड जो परैगो, तो
उमंड करि तो सों भुजदड ठोकि लरिहौं।
चला चलु चला चलु, बिजलु न बीच ही ते,
कीच बीच नीच तो कुटुबहि कचरिहौं।
ऐरे दगादार मेरे पातक अपार, तोहि
गंग की कछार मे पछार छार करिहौं।

८

बरसत मेह नेह सरसत अग अंग,
झरसत देह जैसे जरत जवासो है।
कहै पदमाकर कलिदी के कदबन पै,
मधुपन कीन्हो आय महत मवासो है।
ऊधो यह ऊधम जताइ दीजी मोहन कौ,
ब्रज को सुबासो भयो आगिन अवासो है।
पातकी पपीहा जलपान को न प्यासो, काहू
व्यथित वियोगिनी के प्रानन को प्यासो है।

९

प्रानन के प्यारे तन ताप के हरनहारे,
नद के दुलारे ब्रजबारे उमहत है।
कहै पदमाकर उरूजे उर अतर यों,
अतर चहैहूँ जे न अंतर चहत है।
नैननि बसे है, अंग अंग हुलसे है, रोम
रोमनि रसे है, निकसे है को कहत है ?
ऊधो वे गोविन्द कोऊ और मथुरा में, इहाँ
मेरे तो गोविंद मोहिं मोहि में रहत है।

१०

तेरो घर आठो जाम रहै आठौं सिद्धि,
नवौ निधि तेरे विधि लिखिये ललाट है।
देव सुख साज महाराजनि को राज तुही,
सुमति सु सो ये तेरी कीरति के भाट है।
तेरे ही अधीन अधिकार तीन लोक को सु,
दीन भयो क्यों फिरै मलीन घाट - बाट है।
तो मे जो उठत बोलि, ताहि क्यों न मिलै डोलि,
खोलिए हिए मै दिए कपट-कपाट है।

११

आली हौं गई ही आजु भूलि बरसाने कहूँ,
तापै तू परै है पदमाकर तनेनी क्यौ।
ब्रज-बनिता वै बनितान पै रची है फाग,
तिन मैं जु ऊधमिनि राधा मृगनैनी यौं।
घोरि डारि केसर सु बेसर बिलोरि डारी,
बोरि डारी चूनरि चुचात रंगरैनी ज्यौं।
मोहि झकझोरि डारी कंचुकि मरोरि डारी,
तोरि डारी कसनि बिथोरि डारी बेनी त्यौं।

१२

कूलन मै केलि मैं कछारन मै कुञ्जन मैं,
क्यारिन मै कलिन कलीन किलकन्त है।
कहै पदमाकर पराग हू मै पान हूँ मै,
पानन मै पीक मै पलाशन पगन्त है।
द्वार मै दिसान मै दुनी मै देस देसन मै,
देखो दीप दीपन मै दीपत दिगन्त है।
बीथिन मै ब्रज मै नबेलिन मै बेलिन मै,
बनन मै बागन मै बगरो बसन्त है।

१३

दूरि ही ते देखति बिथा मै वा वियोगिनि की,
आई भले भाजि इहाँ लाज मढि आवैगी।

कहै पदमाकर सुनो हो घनश्याम जाहि
चेतत कहूँ जो एक आहि कढि आवैगी।
सर सरितान कौ न सूखत लगेगी बार,
येती कछु जुलमिनि ज्वाला वढि आवैगी।
ताके तन ताप की कहा मै कहौ बात मेरे,
गात ही छुये ते तुम्हें ताप चढि आवैगी।

१४

घर ना सुहात ना सुहात बन बाहिर हूँ,
बाग ना सुहात जो खुशाल खुशबो ही सो।
कहै पदमाकर घनेरे धनधाम त्योही,
चैन ना सुहात चाँदनी हूँ जोग जोही सों।
साँझ हू सुहात ना सुहात दिन माँझ कछु,
व्यापी यह बात सो वखानत हौ तोहीं सों।
राति हु सुहात ना सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों।

१५

हँसि हँसि भाजै देखि दूलह दिगवर का,
पाहुनी जे आवै हिमाचल के उछाह मे।
कहे पदमाकर सु काहूँ सों कहै को हहाँ,
जोई जहाँ देखै सो हँसेई तहाँ राह में।
मगन भयेऊ हँसै नगन महेस ठाढ़े,
औरे हँमे येऊ हँसि हँसिके उमाह मे।
सीस पर गगा हँसै भुजनि भुजगा हँसै,
हास ही को दगा भयो नगा के विवाह में।

सवैया

१

बैन सुधा सी सुधा सी हँसी बसुधा मैं सुधा की सटा करती हौ।
त्यौ पदमाकर बारहिं बार सु बार बगारि लटा करती हौ॥

बीर बिचारे बटोहिन पै बिन काज ही तो यौं छटा करती हौ।
बिज्जु छटा सी अटा पै चढ़ी सु कटाछनि घालि कटा करती हौ ।।

२

हे ब्रजचन्द चलौ किन वा बन लूकैं बसन्त की ऊकन लागीं।
त्यों पद्माकर पेखो पलासन पावक सी मनौ फूँकन लागी।
वै ब्रजवारी बिचारी बधू बनवारी हिये लौ सु हूकन लागी।
कारी कुरूप कसाइनैं ये सु कुहू कुहू क्वैलिया कूकन लागीं ।।

३

फाग के भीर अभीरन मै गहि गोविन्दै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
छीनि पितम्बर कम्मर तैं सु बिदा दई मीडि कपोलनि रोरी।
नैन नचाइ कह्यो मुसक्याइ लला फिरि आइयो खेलन होरी ।।

४

या अनुराग की फागु लखौ जहँ रागती राग किसोर किसोरी।
त्यौ पदमाकर घालि घली फिरि लाल ही लाल गुलाल को झोरी।
जैसी की तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि रंग मै बोरी।
गोरिन के रँग भीजिगो साँवरो साँवरे के रँग भीजिगी गोरी ।।

५

भोग में रोग वियोग सँयोग मे योग में काय कलेस कमायो।
त्यों पदमाकर वेद पुरान पढ्यो पढि के बहु बाद बढायो।
दौर्यो दुरास मै दास भयो पै कहूँ बिसराम को धाम न पायो।
कायो गमायो सु ऐसी ही जीवन हाय पै राम को नाम न गायो ।।

६

को किहि को सुत को किहि को पितु को किहि को पति कौन को को तो ?
कौन को को जग ठाकर चाकर, को पदमाकर कौन को गोतो ?
जानकी जीवन जानि जहै, तजि देतो सबै धन धाम औ धोतो।
होतो न लोह तो लोभ लपेट में, पेट को जो पैच पेट न होतो ।।

७

कै रति रग थकी थिर ह्वै, पर्यंक पै प्यारी परी सुखपाय कै,
त्यौ पदमाकर स्वेद के बुन्द रहे मुकताहल से तन छायकै।
बिन्दु रचे मेंहदी के लसे कर तापर यों रह्यो आनन आयकै।
इदु मनो अरबिन्द पै राजत इन्द्रबधून के वृन्द बिछायकै॥

८

हे ब्रजचंद गोविन्द गोपाल सुनौ किन केते कलाम किए मै।
त्यो पदमाकर आनंद के नद हौ नंदनदन जानि लिए मै।
माखन चोरि कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिए मै।
दूरहु दौरि दुर्यो जो चहौ तो दुरौ किन मेरे अँधेरे हिए मै॥

९

हौ अलि आज बड़े तड़के भरिके घट गोरस कों पगु धारो।
त्यों कब की धौ खर्यो री हुतो पदमाकर मो हित मोहनी बारो।
साँकरी खोरि मैं कॉकरी की करि चोट चल्यो फिर लौटि निहारो।
ता खिन ते इन ऑखिन ते न कढ्यौ वह माखन चाखनहारो॥

१०

जाहिरै जागत सी जमुना जब बूडै बहै उमहै वह वेनी।
त्यों पदमाकर हीर के हारन गंग तरगन को सुखदेनी।
पायन के रँग सो रँगि जात सी भाँति ही भॉति सरस्वती सेनी।
पैरे जहाँई जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल मै होत त्रिबेनी॥

११

ऊधम ऐसो मचो ब्रज मै सबै रंग तरंग उमगंनि सीचै।
त्यौं पदमाकर छज्जनि छातनि छ्वै छिति छाजती केसर कीचै।
दै पिचकी भजी भीजी तहाँ परे पीछे गोपाल गुलाल उलीचै।
एक ही संग इहाँ रपटे सखि वै भये ऊपर हौ भई नीचै॥

हरिश्चन्द्र

जन्म—सं० १९०७, भाद्र शु० ७

मृत्यु—माघ कृ० ६, सं० १९४१

स्थान—काशी

सवैया

१

हौ कुलटा हौ कलंकिनी हौ हमने सब छाँड़ि दयो कहा खोलो।
आछी रहौ अपने घर मे तुम क्यों यहाँ आइ करेजहि छोलौ।
लागि न जाय कलक तुम्हे कहूँ दूर रहौ सँग लागि न डोलौ।
बावरी हौ जो भई सजनी तो हटौ हमसों मति आइ के बोलौ।।

२

कित को ढुरिगो वह घाट सबै क्यो रुखाई नई यह छाजत हौ।
'हरिचन्द' भये हौ कहा के कहा अनबोलिबे ते नहि छाजत हौ।
नितको मिलनो तो किनारे रह्यौ मुख देखत ही दुरि भाजत हौ।
पहले अपनाय बढ़ाय कै नेह न रूसिबे मैं अब लाजत हौ।।

३

जानत हौं नहि ऐसी सखी इन मोहन जैसी करी हमसो दई।
होत न आपुने पीय पराये कबौ यह बोलनि साँची अरी भई।
हा हा कहा 'हरिचन्द' करौ विपरीत सबै बिधि ने हमसो ठई।
मोहन ह्वै निरमोही महा भये नेह बढाय कै हाय दगा दई।।

४

मिलि गाँव के नाँव धरौ सबही चहुँधा लखि चौगुनो चाव करौ।
सब भाँति हमै बदनाम करौ कढि कोटिन कोटि कुदाँव करौ।
'हरिचन्द' जू जीवन को फल पाय चुकी अब लाख उपाय करौ।
हम सोवत है पियअंक निसंक चवाइनै आओ चवाव करौ।।

५

रोकहिं जो तो अमगल होय औ प्रेम नसै जो कहै पिय जाइए।
जौ कहै जाहु न, तो प्रभुता, जौ कछू न कहै, तो सनेह नसाइए।
जौ 'हरिचंद' कहैं तुमरे बिन जीहैं न, तो यह क्यौं पतिआइए।
तासौ पयान समै तुम्हरे हम का कहै आपै हमें समझाइए।।

६

मारग प्रेम को को समुझै हरिचंद यथारथ होत यथा है।
लाभ कछू न पुकारन मे वदनाम ही होन की सारी कथा है।
जानत है जिय मेरो भली बिधि और उपाय सबै बिरथा है।
बावरे हैं बृज के सगरे मोहि नाहक पूछत कौन बिथा है ।।

७

दीनदयाल कहाइ कै धाइ कै दीनन सों क्यों सनेह बढायो।
त्यौ हरिचंद जू बेदन मैं करुनानिधि नाम कहौ क्यों गनायो।
एती रुखाई न चाहिए तापै कृपा करिकै जेहि कों अपनायो।
ऐसो ही जो पै सुभाव रह्यौ तो गरीबनेवाज क्यों नाम धरायो ।।

८

व्यापक ब्रह्म सबै थल पूरन है हमहूँ पहिचानती है।
पै बिना नंदलाल बिहाल सदा, हरिचद न ज्ञानहि ठानती है।
तुम ऊधौ ! यहै कहियो उनसो, हम और कछू नहि जानती है।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना, अखियाँ दुखियाँ नहि मानती है ।।

९

रोवै सदा नित की दुखिया बनि ये अखियाँ जिहि द्यौस सों लागी।
रूप दिखाओ इन्है कबहूँ 'हरिचंद' जू जानि महा अनुरागी।
मानिहै औरन सों नहि ये तुव रंग रँगी कुल लाजहि त्यागी।
आँसुन को अपने अँचरान सों लालन पोंछि करौ बड़भागी ।।

१०

ऊधो जू सूधो गहौ वह मारग ज्ञान की तेरे जहाँ गुदरी है।
कोउ नहीं सिख मानिहै ह्याँ इक स्याम की प्रीति प्रतीति खरी है।
ये बृजबाला सबै इक सी 'हरिचन्द' जू मडली ही बिगरी है।
एक जौ होय तो ज्ञान सिखाइए कूप ही मे यहाँ भाँग परी है ।।

११

वह सुन्दर रूप बिलोकि सखी मन हाथ तें मेरे भग्यो सो भग्यो।
चित माधुरी मूरति देखत ही हरिचंद जू जाय पग्यो सो पग्यो।

मोहि औरन सों कछु काम नहीं अब तौ जो कलंक लग्यो सो लग्यो।
रँग दूसरो और चढ़ैगो नहीं अलि साँवरो रंग रँग्यो सो रँग्यो ॥

१२

यह सावन सोक नसावन है मन-भावन यामैं न लाजैं मरौ।
जमुना पै चलो सु सबै मिलि कै अरु गाइ-बजाइ कै सोक हरौ।
इमि भाषत है हरिचंद पिया अहो लाडिली देर न यामैं करौ।
बलि झूलो झुलावौ झुको उझको यहि पाखै पतिव्रत ताखै धरौ ॥

१३

पिया प्यारे बिना यह माधुरी मूरति औरन को अब पेखिये का।
सुख छाँडि कै संगम को तुमरे इन तुच्छन को अब लेखिये का।
'हरिचंद' जू हीरन को बेवहार कै काँचन को लै परेखिये का।
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यौ उन आँखिन सो अब देखिये का ॥

१४

आइये मो घर प्रान पिया मुखचंद दया करि कै दरसाइये।
प्याइये पानिय रूप सुधा को बिलोकि इतै दृग प्यास बुझाइये।
छाइये सीतलता हरिचंद जू हा हा लगी हियरे की बुझाइये।
लाइये मोहि गरे हँसि कै उर ग्रीषमैं प्यारे हिमंत बनाइये ॥

१५

अब प्रीत करी तौ निबाह करौ अपने जन सों मुख मोरिए ना।
तुम तो सब जानत नेह मजा अब प्रीत कहूँ फिर जोरिए ना।
हरिचंद कहै कर जोरि यही यह आस लगी तेहि तोरिए ना।
इन नैनन माहँ बसो नित ही तेहि आँसुन सों अब बोरिए ना ॥

कवित्त

१

कूकै लगी कोइलैं कदंबन पै बैठि फेरि,
धोए धोए पात हिलि-हिलि सरसै लगे।

बोलै लगे दादुर मयूर लगे नाचै फेरि,
देखि कै सँजोगी जन हिय हरसै लगे।
हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी,
लखि हरिचंद फेरि प्रान तरसै लगे।
फेरि झूमि झूमि बरषा की रितु आई फेरि
बादर निगोरे झुकि झुकि बरसै लगे।।

२

नैन लाल कुसुम पलास से रहे है फूलि,
फूल-माल गरे बन झालरि सी लाई है।
भँवर गुँजार हरि-नाम जो उचार तिमि
कोकिला सों कहुकि बियोग राग गाई है।
'हरीचंद' तजि पतझार घर-बार सबै,
बौरी बनि दौरि चारु पौन ऐसी धाई है।
तेरे बिछुरे ते प्रान कत कै हिमत अंत,
तेरी प्रेम-जोगिनी बसंत बनि आई है।।

३

घेरि घेरि घन आए छाय रहे चहुँ ओर
कौन हेत प्राननाथ सुरति बिसारी है।
दामिनी दमक जैसी जुगनूँ चमक तैसी,
नभ मैं बिसाल बग-पंगति सँवारी है।
ऐसी समै हरिचंद धीर न धरत नेकु,
बिरह-बिथा तें होत व्याकुल पियारी है।
प्रीतम पियारे नंदलाल बिनु हाय यह,
सावन की रात किधौ द्रौपदी की सारी है।

४

हम तो तिहारे सब भाँति सो कहावै सदा,
हमसो दुराव कौन सी है सो सुनाई दै।
द्वार पै खड़े है बड़ी देर सों अड़े है यह,
आशा है हमारी ताहि नेक तो पुराइ दै।

'हरीचद' जोरि कर विनती बखानै यही,
देखि मेरी ओर नेक मद मुसुकाइ दै।
एरी प्रान-प्यारी बार-बार बलिहारी नेक,
घूँघट उघारि मोहि बदन दिखाइ दै।।

५

छाँडि कुल वेद तेरी चेरी भई चाह भरी,
गुरुजन परिजन लोक लाज नासी हौ।
चातकी तृषित तुव रूप-सुधा हेत नित,
पल पल दुसह बियोग दुख गाँसी हौ।
हरीचद एक व्रत नेम प्रेम ही को लीनो,
रूप की तिहारे ब्रजभूप हो उपासी हौ।
ज्याय लै रे प्रानन, बचाय लै लगाय कठ,
एरे नदलाल तेरी मोल लई दासी हौ।

६

इन दुखियान को न चैन सपने हूँ मिल्यौ,
तासो सदा व्याकुल बिकल अकुलायँगी।
प्यारे 'हरिचद' जू की बीति जानि ओध प्रान,
चाहत चले पै गे तो सग ना समायँगी।
देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहि याते,
जौन जोन लोक जैहै तहाँ पछतायँगी।
बिना प्रान-प्यारे भये दरस तुम्हारे हाय,
मरेहू पै आँखे ये खुली ही रहि जायँगी।।

७

राधा स्याम सेवै सदा बृदावन वास करै,
रहे निहचित पद आस गुरवर के।
चाहै धन-धाम न आराम सो है काम,
हरिचद जू भरोसे रहै नंदराय घर के।
एरे नीच धनी हमै तेज तू दिखावै कहा,
गज परवाही होहि नाहि कबौ खर के।

होइ ले रसाल तू भलेई जग जीव काज,
आसी ना तिहारे ये निवासी कल्पतर के ।।

८

फूलेगे पलास बन आगि सी लगाइ क्रूर,
कोकिल कुहुकि कल सबद सुनावैगो।
त्यौही हरीचंद सबै गावैगो धमार धीर,
हरन अबीर बीर सबही उडावैगो।
सावधान होहु रे बियोगिनी सम्हारि तन,
अतन तनक ही मे तापन तें तावैगो।
धीरज नसावत बढावत बिरह काम,
कहर मचावत बसत अब आवैगो ।।

पद

१

नैना मानत नाहीं, मेरे नैना मानत नाही।
लोक-लाज-सीकर मै जकरे तऊ उतै खिच जाही ।।
पचि हारे गुरुजन सिख दै कै सुनत नही कछु कान।
मानत कह्यौ नाहि काहू को जानत भए अजान ।।
निज चवाव सुनि औरहु हरखत उलटी रीति चलाई।
मदिरा प्रेम पिये पागल है इत उत डोलत धाई ।।
पर-बस भए मदनमोहन के रग रँगे सब त्यागी।
'हरीचंद' तजि मुख-कमलन अलि रहै कितै अनुरागी ।।

२

अहो हरि वह दिन बेगि दिखाओ।
दै अनुराग चरन-पंकज को सुत-पितु मोह मिटाओ ।।
और छोडाइ सबै जग वैभव नित ब्रज--बास बसाओ।
जुगल-रूप-रस अमृत-माधुरी निस दिन नैन पिआओ ।।
प्रेम-मत्त है डोलत चहुँ दिसि तन की सुधि बिसराओ।
निस दिन मेरे जुगल नैन सों प्रेम-प्रवाह बहाओ ।।

श्री बल्लभ-पद-कमल अमल मैं मेरी भक्ति दृढाओ।
'हरीचद' को राधा-माधव अपनो करि अपनाओ।।

३

वृज के लता-पता मोहि कीजै।
गोपी-पद-पकज पावन की रज जामै सिर भीजै।।
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख यह बर 'हरीचंद' को दीजै।।

४

जो पै ऐसिहि करन रही।
तो क्यो इतनी प्रीति बढाई जो न अंत निबही।।
मीठे मीठे बचन बोलि कै दीनी क्यों परतीति।
अब क्यो छाँडि पराए ह्वै गए कहो कौन यह नीति।।
जौ मधुपुरी गमन तुम पहिलेहि बदि राखी मन माही।
क्यों वृन्दावन सरद-चाँदनी बिहरे दै गलबाही।।
कहाँ गई वह वात तुम्हारी कहाँ गयो वह प्यार।
कित गई प्रेम भरी वह चितवनि जिहि लखि लाजत मार।।
पहिले कहि देते हम सो नहि निबहैगो यह प्रेम।
'हरीचद' यह दगा दई क्यो ठानि प्रीति को नेम।।

५

सखि फिरि पावस ऋतु आई।
पिया बिना फिर पी पी करि कै इन पापिन रट लाई।।
फिर बदरी झुकि झुकि कै आई बिपति-फौज उठि धाई।
देखि अकेली कुटिल काम फिर खीचि कमान चढाई।।
फिर बरसत वैसी ही बूँदै चहुँ दिसि सों झरि लाई।
फिर दुख नदी उमडि हियरा सौ नैनन के मग आई।।
फिर चमकी चपला चहुँधा तें बिरहिन फेरि डराई।
फिर इन मोरन बोलि बोलि कै मोहन सुधि जु दिवाई।।
फिर ये कुज हरे भए देखियत जहँ हरि केलि कराई।
'हरीचंद' फिर बिकल बिरहिनी परी सेज मुरझाई।।

६

हरि तन करुना सरिता बाढी ।
दुखी देखि निज जन बिनु साधन उमगि चली अति गाढी ॥
तोरि कूल मरजादा के दोउ न्याव करार गिराए।
जित तित परे करम फल तरुगन जड सों तोरि बहाए ॥
अचल बिरुद गभीर भँवर गहि महा पाप गन बोरे।
असहन पवन बेग अति बेगहि दीन महान हलोरे ॥
भरि दीने जन हृदय सरोवर तीनहुँ ताप बुझाई।
'हरीचद' हरि जस समुद्र मे मिली उमगि हरखाई ॥

७

प्राननाथ तुमसो मिलिबे को कहा जुगति नहि कीनी।
पचि हारी कछु काम न आई उलटि सबै बिधि दीनी ॥
हेरि चुकी बहु दूतिन को मुख थाह सबन की लीनी।
तब अब सोचि बिचारि निकाली जुगति अचूक नवीनी ॥
तन परिहरि मन दै तुव पद है लोक तृगुनता छीनी।
'हरीचद' निधरक बिहरौगी अधर-सुधा-रस भीनी ॥

८

भई सखि ये अँखियाँ बिगरैल ।
बिगरि परी मानत नहि देखे बिना साँवरो छैल ॥
भइ मतवार धरत पग डगमग नहिं सूझत कुल-गैल।
तजिकै लाज साज गुरुजन की हरि की भईं रखैल ॥
निज चवाव सुनि औरहु हरखत करत न कछू मन मैल।
'हरीचद' सब संक छाडि कै करहि रूप की सैल ॥

९

सखी री ये अँखियाँ रिझवारि ।
देखत ही मोहन सों रीझी सब कुल-कानि बिसारि ॥

मिली जाइ जल दूध मिलै ज्यों नेकु न सकी सम्हारि।
सुन्दर रूप बिलोकत रपटीं काँचे घट जिमि बारि ।।
अब बिनु मिले होत हैं व्याकुल रोअत निलज पुकारि।
अपुने फल करि हमहि कनौड़ी और दिवावत गारि ।।
लोक लाज कुल की मरजादा तृन सम तजी बिचारि।
हरीचंद इनको को रोकै बिगरी जगहि बिगारि ।।

वीर-काव्य

१. भूषण
२. गोरेलाल
३. सूदन

भूषण

जन्म—सं० १६७०

मृत्यु—सं० १७७२

स्थान—तिकवाँपुर (कानपुर)

घनाक्षरी

१

मिलत ही कुरुख चिकत्ता कौ निरखि कीनौ,
सरजा साहस जो उचित वृजराज कौ।
भूषण कै मिस गैरमिसिल खरे किये को,
किये म्लेच्छ मुरछित करि कै गराज कौ।
अरतै गुसुलखान बीच ऐसे उमराव,
लै चले मनाय सिवराज महराज कौ।
दावेदार कौ निरखि रिसानौ देखि दलराय,
जैसे गडदार अड़दार गजराज कौ।

२

तेरो तेज सरजा समत्थ! दिनकर सोहै,
दिनकर सोहै तेरे तेज के निकर सो।
भौसिलाभुवाल! तेरो जस हिमकर सोहै,
हिमकर सोहै तेरे जस के अकर सो।
भूषन भनत तेरो हियो रतनाकर सो,
रतनाकरो है तेरे हियो सुखकर सो।
साहि के सपूत सिव साहि दानि! तेरो कर
सुरतरु सोहै, सुरतरु तेरे कर सो।

३

इंद्र जिमि जंभ पर बाड़व ज्यौं अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन बारिबाह पर संभु रतिनाह पर,
ज्यौं सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम-दंड पर चीता मृग-झुंड पर,
भूषण बितुंड पर जैसे मृगराज है।

तेज तम - अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
यौ मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है।

४

तेरे ही भुजानि पर भूतल कौ भार,
कहिबे कौ सेसनाग दिगनाग हिमाचल है।
तेरौ अवतार जग - पोषन - भरनहार,
कछु करतार कौ न ता मधि अमल है।
साहितनै सरजा समत्थ सिवराज कवि
भूषन कहत जीब्रौ तेरो ही सफल है।
तेरौ करवाल करै म्लेच्छन कौ काल,
विन काज होत काल बदनाम भूमितल है।

५

सीय सग सोभित सुलच्छन सहाय जाके,
भूपर भरत नाम भाई नीति चारु है।
भूषन भनत कुल - सूर - कुलभूषन है,
दासरथी सब जाके भुज भुअ - भारु है।
अरि - लंक तोर जोर सदा साथ बानर है,
सिन्धुर हैं बाँधे जाके बल को न पारु है।
तेगहि कै मेंटै जौन राकस मरद जान्यौ,
सरजा सिवाजी राम ही को अवतारु है।

६

साहि तनै सरजा की कीरति सों चारों ओर,
चाँदनी बितान छिति - छोर छाइयतु है।
भूषन भनत ऐसो भूमिपति भ्वैसिला है,
जाके द्वार भिच्छुक सदा ही भाइयतु है।
महादानी सिवाजू खुमान या जहान पर
दान के वखान जाके यौ गनाइयतु है।
रजत की हौंस कियैं हेम पाइयतु जासों,
हयन की हौंस कियै हाथी पाइयतु है।

७

चित अनचैन आँसू उमगत नैन देखि,
लोग कहै बैन आजु कहियन काहिनै ?
भूषन कहत बूझे आए दरबार तें,
यौ कंप बार - बार क्यों सँभार तन नाहिनै ?
सीनो धकधकत पसीनो आयौ अंगन में,
हीनो भयौ रूप न चितौत बाएं दाहिनै।
सूबन के जेतवार सिवा पर सूबेदार,
जानियत कीनौ तुम्है अवरग साहिनै।

८

प्रेतिनी पिचास रु निसाचर निसाचरिहु,
मिलि मिलि आपुस मै गावत बधाई है।
भैरों भूत प्रेत भूरि भूधर भयकर से,
जुत्थ जुत्थ जोगिनी जमाति जुरि आई है।
किलकि किलकि कै कुतूहल करति काली,
डिम डिम डमरु दिगंबर बजाई है।
सिवा पूछै सिव सों समाज आजु कहाँ चली,
काहू पै सिवा नरेस भृकुटी चढ़ाई है।

९

उतरि पलंग ते न दियो है धरा पै पग,
तेऊ सगबग निसि दिन चली जाती है।
अति अकुलाती मुरझाती ना छिपाती गात,
बात न सोहाती बोलै अति अनखाती है।
भूषन भनत सिह साहि के सपूत सिवा,
तेरी धाक सुने अरि नारी बिललाती हैं।
कोऊ करै घाती कोऊ रोती पीटि छाती,
घरै तीनि बेर खाती ते वै बीनि बेर खाती है।

कवित्त

१०

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अदर रहाती है।

कंद - मूल भोग करै कंद-मूल भोग करै,
तीनि बेर खातीं ते वै तीनि बेर खाती है।
भूपन सिथिल अंग भूषन, सिथिल अंग,
बिजन डुलाती ते वै बिजन डुलाती है।
भूषन भनत सिवराज बीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती ते वै नगन जडाती है।

११

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार - बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह खरकति है।
बलख बिलात, बिलखात बीजापूर पति,
भिरत फिरगिन की नारी फरकति है।
थर - थर काँपत कुतुबसाही गोलकुंडा,
हहरि हबस - भूप भीर भरकति है।
सिह सिवराज तेरे धौसा की धुकार सुनि,
केते पातसाहन की छाती थरकति है।

१२

डाढी के रखैयन की डाढी सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद जैसी हद्द हिन्दुवाने की।
कढ़ि गई रैयति के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।
भूषन भनत दिल्लीपति - दिल - धकधका,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिनु चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की।

१३

निकसत म्यान ते मयूखै प्रल - भानु कैसी,
फारैं तम - तोम से गयंदन के जाल कों।

लागति लपकि कंठ बैरिन के नागिनि सी,
रुद्रहि रिझावै दै दै मुंडन की माल कों।
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लौ बखान करौ तेरी करबाल कों।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि,
कालिका सी किलकि कलेऊ देति काल कों।

१४

मारे दल मुगल तिहारी तरवारि आगु,
उछलि बिछलि म्यान बाँबी ते निकासती।
तेरी तरवारि लागे दूसरी न माँगै कोऊ,
काटि कै कलेजा शोन पीवत बिनासती।
साहि के सपूत महाराज सिवराज वीर,
तेरी तरवारि स्याह नागिनी सी भासतीं।
ऊँट हय पैदरि सवारन के झुंड काटि,
हाथिन के मुंड तरबूज लौ तरासती।

१५

कूरम कबंध हाड़ा तूँबर बघेला बीर,
प्रबल बुँदेला हुते जेते दलमनी सों।
देवल गिरन लागे मूरति लै बिप्र भागे,
नेकहू न जागे सोइ रहे रजधनी सों।
सबने पुकार करी सुरन मनाइबे को,
सुरने पुकार भारी किन्ही ब्रिस्वधनी सों।
धरम रसातल को बूड़त उबार्यो सिवा,
मारि तुरकान घोर बल्लम की अनी सों।

१६

आपस की फूट ही तें सारे हिन्दुवान टूटे,
टूट्यो कुल रावन अनीति अति करतें।

पैठियो पताल बलि बज्रधर ईरषातें,
टूट्यो हिरनाच्छ अभिमान चित धरतें।
टूट्यो सिसुपाल बासुदेव जू सों बैर करि,
टूट्यो है महिष दैत्य अधम बिचरतें।
राम-कर छुवन तें टूट्यो ज्यो महेस-चाप,
टूटी पातसाही सिवराज-संग लरतें॥

गोरेलाल

जन्म--सं० १७१५

मृत्यु--सं० १७६७ के लगभग

स्थान--मऊ (बुन्देलखंड)

छत्रसाल को शिवाजी का उपदेश

दोहा

सिवा किसा सुनि कै कही, तुम छत्री सिर ताज।
जीत आपनी भूम कौ, करौ देश कौ राज।।

छन्द

करौ देश कौ राज छतारै। हम तुमतै कबहूँ नहि न्यारै।।
दौरि देश मुगलन के मारौ। दबटि दिली के दल संहारौ।।
तुरकन की परतीत न मानौ। तुम केहरि तुरकन गज जानौ।।
तुरकन में न बिवेक बिलोक्यौ। मिलन गये उनकौ उन रौक्यौ।।
हमकौ भई सहाय भवानी। भय नहि मुगलन की मनमानी।।
छलबल निकसि देश मे आये। अब हम पै उमराइ पठाये।।
हम तुरकनि पर कसी कृपानी। मारि करेंगे कीचन घानी।।
तुमहू जाइ देस दल जोरौ। तुरक मारि तरवारनि तोरौ।।

दोहा

राखि हियै ब्रजनाथ कौ, हाथ लेउ करवार।
ये रक्षा करिहै सदा, यह जानौ निरधार।।

छन्द

छत्रनि की यह बृत्त बनाई। सदा तेग की खाइ कमाई।।
गाइ वेद विप्रन प्रतिपाले। घाउ एड़धारिन पै घाले।।
तेगधार में जौ तन छूटै। तै रवि भेद मुकत सुख लूटै।।
जैतपत्र जौ रन में पावै। तौ पुहुमो के नाथ कहावै।।
तुम हौ महावीर मरदानै। करिहौ भूमि भोग हम जानै।।
जौ इतही तुमकौं हम राखै। तौ सब सुजस हमारे भाखें।।
तातै जाइ मुगल दल मारौ। सुनिये श्रवननि सुजस तिहारो।।
यह कहि तेग मँगाइ बँधाई। बीर बदन दूनी दुति आई।।

दोहा

आदर सो कीन्हें बिदा, सिवा भूप सुख पाइ।
मिली मनो डर उमग में, भूमि भावती आइ।।

सूदन

जन्म—सं० १७६० (लगभग)

मृत्यु—अनिश्चित

स्थान—मथुरापुर (मथुरा)

सुजान-सलावत खाँ-युद्धवर्णन

छप्पय

छुट्टन लगे उदंड चंड कोदंड भुसुंडी।
जबर जंग घनघोर मारु गोलन की मंडी।
आस पास ब्रजबीर भीर बहु मीरनु पारतु।
निकसि सकै नहि कोइ रैन दिन जुद्ध बिचारतु।
इह भाँति कछुक बासर गएँ, तब बकसी रोसहि भर्‍यौ।
सरदार मद्धि दरबार जे, तिनहि आयु आइसु कर्‍यौ।। १

दोहा

तुम सवार इस बार हो, निकसौ सबै अगार।
मैं भी साइत देखि कै, एक करौंगा मार।। २
खान सलावत कौ हुकुम, वे अमीर सुनि कान।
अपने अपने मन लगे, जुद्ध हेत ललचान। ३
रुस्तमखाँ सु हकीमखाँ, अरु कुबरा अति चंड।
फतेअली सु अलीकुली साजी सैन उदंड।। ४

छप्पय

उन्नत असित मतंग ललित कंचन अम्बारिय।
घन दामिनि के भेस गजनु घंटनु धुनि धारिय।
रुक्म रजत बर बाजि साजि साजे बहु रंगनि।
तंगन लिए पतंग मनौ इम भरत छलंगनि।
अंगन अनूप कवचनि कसिय, लसिय मनौ फनिधर खरे।
हयनाल हंकि हथनाल हुव सुतनलि सनमुख धरे।। ५
दै दै दिघ्घ निसान बान नीसान अग्ग धरि।
चढ़े गयंदनु पिट्ठि दिट्ठि अति रोस रंग भरि।
चँवर चलत चहुँओर छारु सिप्पर चमकावत।
चलत चमू चतुरंग मनहुँ पावस घन धावत।
ठुक्कत तबल्ल इकगल्ल रव मल्ल भल्ल फेरत भले।
सूरज प्रताप पावक निरखि मनु पतंग आवत चले।। ६

पावकुलक छन्द

जबहीं कटक निकट तै कढ़्ढे । पाँचौ चपल गयदनि चढ़्ढे ।
तबहि अग्र उतपात सुबढ़्ढे । गिद्ध आइ सनमुख रव रढ़्ढे ।
लरत बिलाउ सामुहें आए । ग्रामसिह श्रवननि फटकाए ।
सिवा शृगाल सामुहे रोए । रजकु वस्त्र लायो बिनु धोए ।
अगिन धुंधात मनुज कर लाए । मुकुलित केस जटिल दरसाए ।
आनि उलूक धुजा पर बैठे । पलचर परत चमू मै पैठे ।
चलत गयंद अचानक धुक्कै । अवक्रसमात चाल को चुक्कै ।
आँकुस गिर्‌यौ महावत कर ते । गद गद कठ भए रन डर तें ।
नैनन नीर बहो तिहि बेरे । उठे रोम मानौ जम घेरें ।
भए इते उतपात महा ए । इस परि काल नही मन लाए ।
मानौ जमपुर जात पलाए । पाँचौ चढे गयंदनि आए ।
सहस दोइ दोई हय साजै । पैदल पील बहुत गल गाजै ।
भए आनि रनभूमि इकट्ठे । निकट सिह के ज्यौ मृगपट्ठे ।
कोर बाँधि पाँचो भए ठाढे । आगे धरे जंजालनु गाढ़े ।
हथनाल 'रु हयनाल उदडी । तोर रहकला और भुसडी ।
अपनौ कटक घेरिकै ठाढे । कोस दोइ डेढ़क भुव बाढ़े ।। ७

दोहा

तबही सिह सुजान सों, कही दूत ने धाइ ।
आजु तुरक बाहर कढ़े, सजे सैन बहु भाइ ।। ८
रुस्तमखाँ सु हकीमखाँ, कुबरा अरु बलिधारि ।
फतेअली सु अलीकुली, निकसे जग बिचारि ।। ९

सोरठा

सुनि तहँ सिह सुजान, चार्‌यौ चौकी दृढ़ करी ।
सहस दोइ लै ज्वान, आपु चल्यो पुठवार कौ ।। १०

छन्द अनुगीत

दुहुँ ओर धुंधिय धूरि रुंधिय चमक चुधिय रुद्ध ।
घनपटह बज्जिय गज गरज्जिय भीति भज्जिय कुद्ध ।

हथनाल हकिय तोप डकिय धुनि धमंकिय चंड।
हयनाल छडिय तरु भुमुंडिय धरनि खंडिय खंड।
दुदुभि धमकिय भेरि भंकिय तूर संकिय कूर।
अति घोर सोर भयान बढ्ढिय मारु रढ्ढिय सूर।
लखि दूरि नद्दहि कद बिहद्दहि बदन बद्दहि टेरि।
कुहकत बान चलाइ चंडिय देत गोल बखेरि।
धरधरत देत धवान कौ खरखरत बखतर अंग।
तरतरत तेहमु सौ भरे ढरढरत ढाल निषंग।
करकरत धनुषन कौ खरे झरझरत बीर सुतीर।
धरधरत धद्ध डिहाव सौ नहि टरत एकहुँ बीर।
दुहुँ देखि दपटत हयन झपटत जाइ लपटत धाइ।
फिरि फेरि अहुटत चलत चुहटत दुहूँ पुहटत आइ।
नहि जमनि ठट्ठ अहट्ट खाइय रहिय पाइ रुपाइ।
ब्रज-वीरहू रनधीर रुप्पिय जैति हेत लुभ्याइ ॥ ११

छप्पय

या विधि जुद्धहि करत दिवस बीतन जब लग्गिय।
तुपक तोप जज्जाल चोट इनही की दग्गिय।
यह सुनि सूरज कहिव आज ए जान न पावै।
करिहै श्री हरिदेव सोव करनौ कह तामैं ॥
यो बचन मानि सबही सुभट सनमुख धाइय रोस धरि।
इकबार सिमटि चहुँ ओर ते कहत देव हरिदेव हरि ॥ १२

भुजंगी छन्द

छुटे एक ही बार सो जुद्ध काजै। जुटे जाइकै धाइकै छोह साजै।
खुटे खग्ग हथ्थौ अरब्बीनु चढ्ढे। हटै नाहि कोऊ सबै साथ बढ्ढे।
चहूँ ओर सौ सोर यौ घोर छायौ। मनौ सिन्धु सद्दे हवा को हलायौ।
किहूँ सेल सम्भारि कै हाँक कीनी। बियै तेग सौ काट कै डारि दीनी।
किहूँ बाद कै सेर समसेर बाही। किहूँ लै भुमुंडीन सौ देह दाही।
तहाँ चंड कोदंड ले हथ्य केते। धए सत्रु के सामुहे पग्ग देते।
कहूँ लेहु रे लेहु रे लेहु सद्दै। कहूँ देहु रे देहु रे बीर बद्दै।
अहट्टै भयो सद्दता भूमि माही। तहाँ आपनी आपनी चोट बाही।
कहूँ सेल सन्नाह को फोरि बैठे। मनौ भानुजा में फनी जात पैठे।

कहूँ साँग दुहूँ आँग को भेदि अच्छी। किधौं श्रौन पानी चली भाजि मच्छी।
लगे तीर तीखे कछू भाल दोसै। मनो तीन नैना धरें ईस रीसै।
कहूँ तेग तेगौ भरे झार उट्ठी। मनों जोर ज्वालामुखी जग रुट्ठी।
किते भाल भालेनु सौ लाल कीने। मनो फाग के ख्याल के रग भीने।
भरे बत्थसौ बत्थकै लत्थपत्थै। मुखौ मारुही मारु कौ बीर कत्थै।
पलक एक ऐसे भई मारु भारी। लखें दूरिही तें हँसै रैनचारी।
घए सूर के सूर दै पाइ अग्गें। डराने तही खान के लोग भग्गें।
जिन्है स्वामि के काम की लाज भारी। खड़े खेत खूनी नही संक धारी ॥१३

दोहा

अलीकुली सु फतेअली, कुबरा गए पलाइ।
रुस्तमखाँ 'रु हकीमखाँ, ए पग रहे गड़ाइ॥ १४

हरगीत छन्द

भूपाल पालक भूमिपति, बदनेस नन्द सुजान है।
जाने दिलीदल दक्खिनी, कीने महाकलिकान है॥
ताकौ चरित्र कछूक सूदन, कह्यौ छंद बनाइ कै।
अति दुद जुद्ध बिरुद्ध उद्धत, तृतिय अक सुनाइ कै॥ १५

नीति-काव्य

१. रहीम
२. वृन्द
३. गिरिधर

रहीम

जन्म—सं० १६१०

मृत्यु- सं० १६८३

स्थान— दिल्ली

दोहा

कहि रहीम सम्पति सगे बनत बहुत बहु रीत।
विपति कसौटी जे कसे सोई साँचे मीत ॥ १

जौ लगि वित्त न आपुने, तौ लगि मित्र न कोय।
रहिमन अंबुज अंबु बिनु, रवि नाहिन हित होय ॥ २

जो बड़ेन को लघु कहौ, नहि रहीम घटि जाहि।
गिरिधर मुरलीधर कहे, दुख मानत कछु नाहि ॥ ३

जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगै, बढे अँधेरो होय ॥ ४

जो विषया सन्तन तजी, मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत वमन करि, स्वान स्वाद सों खात ॥ ५

नैन सलोने, अधर मधु, कह रहीम घटि कौन।
मीठो भावै लौन पर, अरु मीठे पर लौन ॥ ६

यह रहीम निज संग लै जनमत जगत न कोय।
बैर, प्रीति, अभ्यास, जस, होत होत ही होय ॥ ७

रहिमन कहत सु पेट सो, क्यो न भयो तू पीठ।
रीते अनरीते करै, भरे बिगारत दीठ ॥ ८

रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइहै, बनत न लगिहै बेर ॥ ९

रहिमन धागा प्रेम का, मत तोडौ छिटकाय।
टूटे से फिर ना मिलै, मिलै गाँठ परि जाय ॥ १०

रहिमन निज मन की बिथा, मन ही राखो गोय।
सुनि अठिलैहै लोग सब, बाँट न लैहैं कोय ॥ ११

समय लाभ सम लाभ नहि, समय चूक सम चूक।
चतुरन चित रहिमन लगी, समय चूक की हूक ॥ १२

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरि जाय ॥ १३

रहिमन अँसुवा नैन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारौ गेह ते, कस न भेद कहि देइ ॥ १४

रहिमन वे नर मरि चुके जे कहुँ माँगन जाहि।
उनते पहिले वे मुये जिन मुख निकसत नाहि॥ १५
धूर धरत नित शीश पर कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि पत्नी तरी तेहि ढूँढत गजराज॥ १६
अच्युत-चरण तरंगिनी शिव सिर मालतिमाल।
हरि न बनाओ सुरसरी कीजे इन्दवभाल॥ १७
ए रहीम दरदर फिरहि, माँगि मधुकरी खाहि।
यारों यारी छोडिये, वे रहीम अब नाहि॥ १८
चित्रकूट मे रमि रहे, रहिमन अवध नरेस।
जापर विपदा परत है, सो आवत इहि देस॥ १९
टूटे सुजन मनाइये, जौ टूटे सो बार।
रहिमन फिरि फिरि पोहिये, टूटे मुक्ताहार॥ २०
रहिमन राज सराहिये ससि सम सुखद जु होइ।
कहा बापुरो भानु है, तपै तरैयन खोइ॥ २१
अमर वेलि बिनु मूल की, प्रतिपालत जो ताहि।
रहिमन ऐसे प्रभुहि तजि खोजत फिरिये काहि॥ २२
रहिमन बात अगम्य कै कहन सुनन कै नाहि।
जो जानत सो कहत नहि, कहत सो जानत नाहि॥ २३
जो रहीम तनु हाथ है, मनसा कहुँ किन जाहि।
जल मे ज्यो छाया परै काया भीजत नाहि॥ २४
रहिमन अपने गोत कँह सबै चहत उत्साह।
मृग उछरत आकाश कँह भूमि खनत बाराह॥ २५
जाल परे जलजात वहि तजि मीनन को मोह।
रहिमन मछरी नीर को तऊ न छाँडत छोह॥ २६
रहिमन चाक कुम्हार कर माँगे दिया न देइ।
छेद मे डडा डारि कै चहै नाँद लेइ लेइ॥ २७
खैर, खून, खाँसी, खुसी, बैर, प्रीति, मदपान।
रहिमन दाबे ना दबै जानत सकल जहान॥ २८
मीन काटि जल धोइये खाये अधिक पियास।
रहिमन प्रीति सराहिये मुये मीत की आस॥ २९

वृन्द

जन्म—सं १७००

मृत्यु—सं १७८०

स्थान—मेड़ता

दोहा

बुरे लगत सिख के बचन हिये बिचारौ आप।
करुवी भेषज बिन पिये मिटै न तन को ताप।। १
फेर न ह्वै है कपट सों, जो कीजै ब्यौपार।
जैसे हाँड़ी काठ की, चढ़ै न दूजी बार।। २
अति परिचय ते होत है, अरुचि अनादर भाय।
मलयागिरि की भीलनी, चंदन देत जराय।। ३
रस अनरस समझे न कछु, पढै प्रेम को गाथ।
बीछू मंत्र न जानहीं, साँप पिटारे हाथ।। ४
रहे समीप बड़ेन के होत बड़ो हित मेल।
सबही जानत बढ़त है वृक्ष बराबर बेल।। ५
नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस शृंगार न सुहात।। ६
फीकी पै नीकी लगै, कहिये समय बिचारि।
सबकों मन हर्षित करै, ज्यों विवाह मे गारि।। ७
जो पावै अति उच्च पद, ताकौ पतन निदान।
ज्यौं तपि तपि मध्याह्न लौ, अस्त होतु है भान।। ८
मूरख गुन समुझै नहीं, तौ न गुनी में चूक।
कहा घट्यो दिन को विभौ, देखै जो न उलूक।। ९
दोषहि को उमहै गहै, गुन न गहै खल लोक।
पियै रुधिर पय ना पियै, लागि पयोधर जोंक।। १०
भले बुरे सब एक सों, जौ लौ बोलत नाहि।
जानि परतु है काक पिक, रितु वसंत के माँहि।। ११
सरसुति के भंडार की बड़ी अपूरब बात।
ज्यों खरचै त्यौ त्यौ बढ़ै, बिन खरचे घटि जात।। १२
भले बस को पुरुष सो निहुरै बहु धन पाय।
नवै धनुष सदबंस को जिहिं द्वै कोटि दबाय।। १३
सेइय नृप गुरु तिय अनल मध्यभाग जग माँहि।
है बिनास अति निकट ते दूर रहे फल नाहि।। १४
भली करत लागत बिलम, बिलम न बुरे बिचार।
भवन बनावत दिन लगै, ढाहत लाग न बार।। १५

कछु कहि नीच न छेडिये, भलो न वाको सग।
पाथर डारे कीच मे उछरि बिगारै अग ॥ १६
बुरौ तऊ लागत भलौ, भली ठौर पर लीन।
तिय नैननि नीको लगै, काजर जदपि मलीन ॥ १७
वह सपति केहि काम की, जिन काहू पै होउ।
नित्य कमावै कष्ट करि, बिलसै औरहि कोउ ॥ १८
ऊपर दरसै सुमिल सी, अन्तर अनमिल आँक।
कपटी जन की प्रीति है, खीरा की सी फाँक ॥ १९
कारज धीरे होतु है, काहे होत अधीर।
समय पाय तरुवर फरै, केतिक सींचो नीर ॥ २०
दुष्ट न छाँडै दुष्टता, कैसे हूँ सुख देत।
धोये हू सौ बेर के, काजर होत न सेत ॥ २१
जो जिहि भावै सो भलौ, गुन को कछु न विचार।
तज गजमुकता भीलनी पहिरत गुंजाहार ॥ २२
जाही ते कछु पाइये, करिये ताकी आस।
रीते सरवर पै गये, कैसे बुझत पियास ॥ २३
करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोइ।
रोपे बिरवा आक को, आम कहाँ ते होइ ॥ २४

गिरिधर कविराय

जन्म—सं० १७७०

मृत्यु—अनिश्चित

स्थान—अज्ञात

कुण्डलिया

गुन के गाहक सहस नर, बिनु गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय।
शब्द सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को एक रंग, काग सब भये अपावन।
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मन के।
बिनु गुन लहै न कोय सहस नर गाहक गुन के॥ १

लाठी मे गुन बहुत है सदा राखिये सग।
गहरी नदि नारा जहाँ तहाँ बचावै अंग।
तहाँ बचावै अंग, झपटि कुत्ता कहँ मारै।
दुश्मन दावहूँगीर होय तिनहूँ को झारै।
कह गिरिधर कविराय सुनो हो धूर के बाठी।
सब हथियारन छाँडि हाथ मँह लीजै लाठी॥ २

बिना बिचारे जो करे सो पीछे पछताय।
काम बिगारै आपनो, जग मे होत हँसाय।
जग में होत हँसाय चित्त में चैन न पावै।
खान पान सम्मान राग रँग मनहि न भावै।
कह गिरिधर कविराय दु.ख कछु टरत न टारे।
खटकत है जिय माहि कियो जो बिना बिचारे॥ ३

पानी बाढो नाव में घर में बाढो दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम।
यही सयानो काम राम को सुमिरन कीजै।
पर स्वारथ के काज सीस आगे धरि दीजै।
कह गिरिधर कविराय बड़ेन की याही बानी।
चलिये चाल सुचाल राखिये अपनो पानी॥ ४

साईं अपने चित्त की भूलि न कहिये कोइ।
तब लगि मन में राखिये जब लगि कारज होइ।
जब लगि कारज होइ भूलि कबहूँ नहिं कहिये।
दुरजन हँसै न कोय आप सियरे ह्वै रहिये।
कह गिरिधर कविराय बात चतुरन के ताईं।
करतूती कहि देत आप कहिये नहि साईं॥ ५

साईं ऐसे पुत्र से बाँझ रहे बरु नारि।
बिगरी बेटे बाप से जाय रहे ससुरारि।
जाय रहे ससुरारि नारि के नाम बिकानो।
कुल को धर्म नसाय और परिवार नसानो।
कह गिरिधर कविराय मातु झंखै वहि ठाईं।
अस कपूत क्यों भया बाँझ रहत्यूँ बरु साईं। ६
साँई बैर न कीजिये गुरु पडित कवि यार।
बेटा बनिता पौरिया यज्ञ करावनहार।
यज्ञ करावनहार राजमन्त्री जो होई।
बिप्र परोसी बैद आपको तपै रसोई।
कह गिरिधर कविराय जुगन ते यहि चलि आई।
इन तेरह सों तरह दिये बनि आवै साईं॥ ७
सोना लादन पिउ गये सूना करि गये देस।
सोना मिले न पिउ फिरे रूपा ह्वैगे केस।
रूपा ह्वैगे केस रोय रँग रूप गँवावा।
सेजन को विश्राम पिया बिनु कबहुँ न पावा।
कह गिरिधर कविराय लोन बिनु सबै अलोना।
बहुरि पिया घर आव कहा करिहौ लै सोना॥ ८
दौलत पाइ न कीजिये सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि को ठाउँ न रहत निदान।
ठाउँ न रहत निदान जियत जग में जस लीजे।
मीठो बचन सुनाय विनय सबही सों कीजे।
कह गिरिधर कविराय अरे यह सब घट तौलत।
पाहुन निशि दिन चार रहत सब ही के दौलत॥ ९
रहिये लटपट काटि दिन बरु घामै मा सोय।
छाँह न वाकी बैठिये जो तरु पतरो होय।
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जड़ते जैहै।
कह गिरिधर कविराय छाँह मोटे को गहिये।
पातौ जो झरि जाय तऊ छाँहै मा रहिये॥ १०

कवि-परिचय

१. कबीर

श्री रामचन्द्र शुक्ल कबीर का जन्म सं० १४५६ मानते है, पर 'कबीर चरित्र-बोध' के अनुसार यह ज्येष्ठ शुक्ल १५ को पड़ता है। उनकी आयु १२० वर्ष का कही जाती है। आधुनिक विद्वान् इतनी बड़ी आयु पर विश्वास नही करते। कबीर ने अपना काशी में प्रकट होना और रामानन्द का शिष्य होना स्वीकार किया है——

तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलहा बूझहु मोर गियाना॥

और

कासी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये॥

श्री हजारीप्रसादजी का यह आग्रह है कि वे जुलाहा है और अपने को मुसलमान नही कहते। अत. उनका अनुमान है कि कबीर का कुल वयनजीवी था, जिसने कुछ समय पूर्व ही इस्लाम ग्रहण कर लिया था। कबीर जुलाहे थे, इसमे कोई मतभेद नही। उनके पूर्वजो का सम्बन्ध हिन्दुओं के 'जोगी' पन्थ से था, यह मात्र अनुमानाश्रित है।

कबीर अपने समय मे प्रसिद्ध सिद्धपुरुष के रूप में स्वीकृत हुए। अध्यात्म-क्षेत्र के सन्तों के समान उन्होने अपने वचनामृत से लोककल्याण किया। उन्होंने वाणी द्वारा अध्यात्म-तत्त्व का प्रकाश किया है। वे साक्षी पुरुष थे——ब्रह्म का साक्षात्कार कर उन्होंने सर्वव्याप्त ब्रह्म का व्याख्यान किया था। उनके उपदेशो को इसी मे 'बानी', 'साखी' आदि नाम दिया जाता है। कबीर की 'बानी' का लोक मे शीघ्र ही प्रचार हो गया, लोककण्ठ में वह अनेक रूपों में मिलती है। कबीर की रचनाओं की अने[illegible] रूपता को देखते हुए, उसके पाठनिर्णय का कार्य कठिन है। डॉ० पारसनाथ [illegible] ने विविध हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों के आधार पर कबीर की रचनाओं के [illegible] शोध के बाद जो पाठ प्रकाशित किया है, उसे ही अब प्रामाणिक माना जा रहा है। इस काव्य-संकलन में डॉ० पारसनाथ द्वारा प्रस्तुत पाठ दिया गया है। इस पाठ-[illegible] उन्हें शोधोपाधि मिली है। इसके प्रकाशन के बाद नागरी प्रचारिणी सभा [illegible] प्रकाशित पाठों का महत्त्व घट गया है।

कबीर की रचनाएँ तीन रूपो मे मिलती हैं—पद, रमैनी और साखी। [illegible] उनके उपदेशों की कुंजी है, अतः वह सर्वाधिक महत्त्व का है। कबीर अध्या[illegible] है; वैदिक अर्थ में द्रष्टा कवि है, ऋषि है। उपनिषदो के ऋषियों के समान [illegible] सत्य और परमतत्त्व के द्रष्टा और साक्षी है। पूरब की लोकभाषा में [illegible] उन्होंने उपदेश किया। उनकी भाषाशैली प्रायः सरल, सुबोध और [illegible] अनुकूल है। किन्तु कुछ स्थलों पर वे संकेतो और प्रतीको की गूढ भाषा [illegible]

रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक अनुभव व्यक्त करते है। ऐसे स्थलों पर सिद्धों की 'सन्ध्या-भाषा' का स्मरण हो जाता है।

कबीर ने योग की सामान्य क्रियाओं की उपयोगिता स्वीकार की है, पर उनका मत है कि सहजयोग अथवा ध्यानयोग ही साधना के लिए आवश्यक है। हठयोग और कृच्छ्रसाधना को वे अपने पूर्ववर्त्ती सिद्धों और नाथो के समान ग्रहण नही करते। वे सहजसमाधि की प्रशसा करते है। प्रेमतत्त्व का ही सर्वाधिक महत्त्व है। बिना प्रेम के भक्ति की सार्थकता नही। शुष्क ज्ञान अथवा पुस्तक-भार ढोने से कोई लाभ नहीं। कबीर मध्यकाल के सबसे बड़े सन्त और सिद्धपुरुष थे। आपके आध्यात्मिक जीवन से अनेक समवर्त्ती और परवर्त्ती सन्त प्रभावित हुए। निर्गुणतत्त्व का इतना महान् वेत्ता और उपदेष्टा मध्यकाल मे कोई दूसरा नही हुआ।

२. रैदास

रैदास स्वामी रामानन्द के शिष्य हैं। कबीर और रैदास दोनो के गुरु एक है, दोनों की साधना-भूमि काशीक्षेत्र है और दोनों समकालीन है। अतः दोनो का परस्पर सम्पर्क स्वाभाविक है। रैदास की आयु भी परम्परानुसार १२० वर्ष की मानी जाती है। रैदास कबीर की श्रेष्ठता और सिद्धता को स्वीकार करते है। इनके भी कुछ पद 'ग्रन्थसाहब' में संकलित है। रामनाम लेकर दोनो ने परमतत्त्व का उपदेश किया। रैदास की कोई रचना ग्रन्थाकार नही मिलती। बानियों का संग्रह मात्र मिलता है। रैदास के महत्त्व को मीरॉबाई, नाभादास और प्रियादास ने भी माना है। कबीर और रैदास की सन्त-समाज में प्रतिष्ठा एव लोकमान्यता इस बात को बताती है कि हिन्दू-समाज सकीर्ण अवश्य है पर अध्यात्म की भूमि पर वह पर्याप्त उदार है। वह सन्तों और महात्माओं के आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व देता है, जाति अथवा मूल को नही।

रैदास के नाम पर एक पन्थ चलता है—रैदासी या रविदासी। उसमें मुख्यतः चमार दीक्षित है। हिन्दू-समाज का यह कैसा अभिशाप है कि प्रायः सन्तो और महात्माओं को भी शिष्य-वर्ग अपने प्रदेश और जाति से ही प्राप्त होता है। कबीर ने भी 'सन्तन मे रविदास सन्त' कहा है। अपने समय में रविदास या रैदास चमार होकर भी पूजित हुए, इससे यह प्रमाणित होता है कि रामानन्द के प्रभाव से हिन्दू-समाज मे जातिहीनता का कलंक धुल रहा था।

३. नानक

सिक्ख पन्थ के प्रवर्त्तक, पंजाब में निर्गुणमत के प्रसिद्ध सन्त नानक का जन्म लाहौर से ३० मील दूर तलवण्डी स्थान में सं १५२६ में हुआ था। इस स्थान को अब

नानक के नाम पर 'ननकानासाहब' भी कहते हैं। नानक की जन्मतिथि कार्तिक पूर्णिमा को मनायी जाती है अत: वही उनकी जन्मतिथि जान पड़ती है।

कबीर के निर्गुणपन्थ से नानक विशेष प्रभावित हुए। आपने अपनी देशभाषा मे सन्तमत के अनुसार उपदेश किया। बचपन से ही आप में आध्यात्मिक प्रवृत्ति थी। जब गुरु नानक को पढाने लगे तो इस बालक मे आध्यात्मिक भाव के सस्कार देखकर वे चकित हो गये। नानक अपना समय ध्यान और सत्संग मे बिताने लगे। आपने विवाह किया, गृहस्थ बने और आपके पुत्र भी हुए। पर घर में रहकर भी आप घर के घेरे में नहीं बँधे। आपने जीविकार्जन-हेतु दौलत खाँ के यहाँ मोदी का काम भी किया। बाद में विरक्ति जगने पर सब-कुछ छोड़कर उपदेश करने लगे और भारत के भिन्न-भिन्न भागों मे अपने मत का प्रचार करते रहे। बाद मे आपने मुस्लिम देशों में मक्का-मदीना आदि मुस्लिम तीर्थस्थानो की धर्मयात्रा की। अपने समय मे विदेश जानेवाले वे प्रथम भारतीय सन्त थे। आपके व्यक्तित्व की एक विशेषता यह है कि आप एक गृहस्थ और विरक्त, राजयोगी, धर्मसुधारक सन्त और भक्त, कवि और संगीतज्ञ भी थे। आपका धार्मिक व्यक्तित्व असाधारण था।

'श्रीगुरुग्रन्थसाहब' मे आपकी रचनाओं का सग्रह है। पर इसमें एक विशेषता यह है कि इसमे पूर्ववर्त्ती सन्तो की अनेक वानियो को भी स्थान मिला है। कबीर और रैदास की वानियो को भी सादर संकलित किया गया है। इसमे नानक की उदारता का परिचय मिलता है। आपकी भाषा पजाबी है, पर हिन्दी के समकालीन रूपों का भी आपको ज्ञान था। फारसी-हिन्दी आदि के शब्द भी आपकी कृतियो में मिलते है।

नानक के आध्यात्मिक विचारो पर सन्तशिरोमणि कबीर और अन्य सन्तों का स्पष्ट प्रभाव है। कबीर की भाँति वे भी निर्गुणभक्ति के प्रचारक है; नामस्मरण, गुरुकृपा आदि में निष्ठा रखते है, बाह्य पूजा और धर्माडम्बर के विरोधी है। नानक पजाब में कबीर को प्रचारित करनेवाले सबसे बडे प्रचारक है। नानक का मत पंजाब में बडे वेग से फैला। यह सिक्खपन्थ (सिक्ख = शिष्य) पहले हिन्दू-धर्म की एक शाखा के रूप मे ही उदित हुआ।

नानकशाह या नानकदेव अन्तिम काल में अपनी गद्दी का भार गुरु अगददेव को सौंपकर परमज्योति मे मिल गये।

४. दादू

दादू जाति के धुनिया थे। सुन्दरदासजी उन्हें पिजारा जाति का बताते है। 'जन्मलीला-परची' के अनुसार दादू अहमदाबाद के लोधीराम के पालित पुत्र थे। कहा जाता है कि लोधीराम ने इन्हें अहमदाबाद में तैरता हुआ पाया था। दादू को वुड्ढन का

शिष्य माना जाता है। दादूपन्थी कहते है कि भगवान ने इन्हे एक बूढ़े महात्मा के रूप में ११ वर्ष की अवस्था मे दर्शन दिया था। कदाचित् बुढ्ढन नामक महात्मा के कारण यह कल्पना की गयी।

दादू ने भी गृहस्थ का जीवन बिताया। ३२ वर्ष की अवस्था मे उन्हे एक पुत्र हुआ जिसका नाम गरीबदास था। दादू ने साँभर में एक 'ब्रह्मसम्प्रदाय' स्थापित किया। यह सम्प्रदाय ही बाद मे दादू-पन्थ के नाम से चला।

इनकी वाणी 'अनभै बानी' (अनुभव-वाणी) मे सग्रहीत है। इधर इनकी बानियों का एक प्रामाणिक पाठ नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है, जिसका सम्पादन श्री परशुराम चतुर्वेदी ने किया है।

दादू को भी कबीर से प्रभावित निर्गुणपन्थी सन्त माना जाता है। कबीर की भाँति ही वे भी परमतत्त्व को अलख, निराकार, निरजन इत्यादि कहते हैं। वैष्णवों की अहिंसा, सूफी फकीरो की प्रेम की पीर, योगियों का ध्यानयोग उनके उपदेशों मे मिलता है। अन्तर्मुखी साधना, आडम्बरहीन उपासना, प्रेममूला भक्ति आदि दादू की विशेषताएँ है। कबीर और दादू के व्यक्तित्व में अन्तर अवश्य है। श्री रामचन्द्र तिवारी के शब्दो मे "कबीर उग्र, प्रचण्ड, उद्धत, तीखे, निर्मम और बेलौस है; दादू सहज, सरल, विनम्र, निर्वैर, दयालु और सर्वभूतहितरत है।" दादू कबीर को सिद्धपुरुष मानते है।

५. सुन्दरदास

निर्गुणधारा के सन्तकवियो में जयपुर-राज्य के सुन्दरदास ही ऐसे थे जिन्होने विधिवत् संस्कृतविद्या का अनुशीलन किया था। वे खण्डेलवाल वैश्य थे। आपने वेदान्त आदि का काशी में अध्ययन किया था और योगाभ्यास भी किया। कुछ काल बाद आप दादू के प्रभाव में आये और उनके शिष्य हो गये।

आपने निर्गुणतत्त्व के प्रतिपादन के लिए विविध छन्दों मे पद्य रचे। आपकी भाषा व्यवस्थित है, अनपढ सन्तों की अनगढ भाषा नही। आपकी शैली प्रसाद और ओज से युक्त है। पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने आपकी रचनाओं को 'सुन्दर-ग्रन्थावली' नाम से सम्पादित किया है।

सन्तमत या निर्गुणधारा को राजस्थान की मरुभूमि में प्रवाहित करने का मुख्य श्रेय दादू और सुन्दरदास को ही है।

६. दरियादास

बिहार में सन्तमत के प्रचारकों में मुसलमान सन्त दरिया साहब का ऊँचा स्थान है। ये बिहार के पूर्वी जिले शाहाबाद के निवासी थे। २० वर्ष की अवस्था में गृहस्थी छोड़कर आपने सन्तजीवन ग्रहण किया। ये भी कबीर से इतने प्रभावित थे कि खुद को

कबीर का अवतार मानने लगे थे। इनके 'दरिया-पन्थ' मे हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्मों के शिष्य मिलते है।

डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी को दरिया साहब को साहित्य-जगत् में स्थापित करने का श्रेय है। आपका 'सन्त दरिया : एक अनुशीलन' नामक ग्रन्थ बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद से निकला है, जिसमें इन सन्त की कृतियों और इनके सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। आपकी कुछ रचनाएँ भोजपुरी में भी है। भोजपुरी के प्राचीन रूप के ज्ञान के लिए उन रचनाओं का महत्त्व है।

प्रेमाख्यान-काव्य

७. जायसी

सूफी फकीर मलिक मुहम्मद जायसी जायसनगर के निवासी थे। कवि का नाम मुहम्मद है, मलिक उपाधि है और जायसी स्थानवाचक। मुस्लिम कवियों में स्थानवाचक अंश नाम के साथ देने की परम्परा है। कवि ने सूफी मत के सिद्धान्तों को प्रकाशित करने के लिए अपनी देशभाषा अवधी मे एक प्रेम-कहानी दोहा-चौपाई में, प्रबन्ध-शैली में लिखी जो प्रेम की पीर को उपासना में महत्त्व देनेवाले सूफी मुस्लिम समाज में और लोककथा के प्रेमियों के बीच बहुत लोकप्रिय हुई। इस जन-भाषा अवधी मे लिखित प्रेमाख्यानक का नाम 'पदमावत' है जो इस प्रकार की अनेक रचनाओ मे सिरमौर है। इसका रचना-काल ९४७ हि० (१५४० ई०) है--यह डॉ० माताप्रसाद गुप्तजी का मत है। 'सन नौ से सैतालिस अहै, कथा अरंभ बैन कवि कहै' उन्हे यह पाठ स्वीकृत है। किन्तु इसके एक बँगला अनुवाद मे इसका रचना-काल ९२७ हि० मिलता है। पदमावत की कुछ प्रतियो में ९२७ पाठ मिलता है। डॉ० गुप्त का तर्क है कि यह लिपिजनित पाठविकृति है और सैतालिस को ही 'सैताइस' पढ़ने की भूल हो गयी है। कवि ने शाहेवक्त के रूप मे शेरशाह का नाम लिया है, जिसका राज्याभिषेक २६ जनवरी, १५४८ को हुआ था।*

प्रसिद्ध है कि कवि एकनयन था, कुरूप था; पर ऐसा गुणी था कि जो भी उसकी रचना सुनता था विमुग्ध हो जाता था—

> एकनैन कवि मुहमद गुनी। सोइ विमोहा जेइ कवि सुनी॥

कवि ने अपनी गुरुपरम्परा का उल्लेख किया है। सूफियो मे एक चिश्तिया सम्प्रदाय है, जिसमें आगे चलकर शेख बुरहानुद्दीन हुए; जायसी ने 'शेख बुरहानू' नाम से जिनका स्मरण किया है। इन सूफियों ने भारतीय धर्म-परम्परा के साथ इस्लामी सूफी मत का

* सेरसाहि दिल्ली सुलतानू। चारिउ खंड तपइ जस भानू॥

यथासम्भव समन्वय करने की उदारता दिखलायी। "काया-साधन, ध्यान, उपवास, व्रत, नाम-जप, गुरु-महिमा, आत्मा की परमात्मा के साथ एकता, पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता, हृदय-कमल या हृदय-गुफा में ईश्वरीय ज्योति के दर्शन, साक्षात्कार द्वारा अनुभव, ईश्वर के प्रति गाढ अनुराग, उसकी प्राप्ति के लिए आतुर साधक की साधना और आत्मा-परमात्मा के बीच स्त्री-पुरुष की प्रेमपद्धति की सर्वात्मना स्वीकृति" इन विषयो पर इन सूफी फकीरों की आस्था थी और इनका प्रचार अवधी में प्रेम-कहानियो की रचना द्वारा इन्होने किया। यह परम्परा जायसी से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व 'चन्दायन' के कवि मुल्ला दाऊद से आरम्भ होती है और अवधी मे १९वी सदी तक निर्बाध चलती है। प्रायः इस परम्परा के ग्रन्थ फारसी लिपि मे पाये जाते है। 'पदमावत' के कई अनुवादो से यह ज्ञात होता है कि यह काव्य किसी समय विशेष आदर से मुस्लिम समाज के एक वर्गविशेष में मान्य था।

प्रेम-कहानी वाले इन काव्यों का, जहाँ तक मेरा विचार है, हिन्दू पाठकों के बीच विशेष प्रचार कभी नही था। हिन्दू कवियों ने मुहम्मद जायसी का स्मरण श्रेष्ठ कवि के रूप में नही किया है। कदाचित् हिन्दुओं मे बहुत कम ऐसी रचनाओं के महत्त्व से अवगत थे। रहीम, रसखान और कबीर के समान वे हिन्दू पाठक-समुदाय द्वारा स्वीकृत नही हुए। इसका एक कारण यह अवश्य है कि जायसी और अन्य सूफी कवि इस्लाम के प्रति भी निष्ठावान् थे और अपने मत को उसी ढाँचे मे रखते थे। भारतीय काव्य की परम्परा को इन सूफी प्रेमाख्यानक कवियों ने पूर्णतः अपनाया नही था।

'पदमावत' की उत्तम समीक्षा प्रस्तुत करते हुए श्री रामचन्द्र शुक्ल ने इसे सम्पादित किया। कवि का समुचित साहित्यिक मूल्यांकन प्रथम बार प्रस्तुत करने का श्रेय शुक्लजी को ही है और हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की प्रथम पक्ति मे इस कवि को प्रतिष्ठित शुक्लजी ने ही किया। पाठशोध के आचार्य डॉ० गुप्त ने 'पदमावत' का प्रामाणिक पाठ कुछ वर्ष पूर्व निकालकर हिन्दी पाठको की बहुमूल्य सेवा की। इसपर डॉ० वासुदेवशरणजी ने 'संजीवनं भाष्य' लिखकर पाठकों का मार्ग सुगम कर दिया है। सन् १९६३ ई० में डॉ० गुप्त ने भी अपना सटीक संस्करण निकाला। अब जायसी के अध्येताओं को राजमार्ग मिल गया। जायसी का अनुशीलन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। अवधी के ग्रामीण रूपों का यह अक्षय्य भाण्डार है। वस्तुत. यह अवध के एक अंचल की जनभाषा है।

कवि की प्रमुख कृतियाँ— (१) पदमावत, (२) अखरावट, (३) आखिरी कलाम, (४) महरी बाईसी, (५) चित्रावत, (६) पोस्तीनामा।

८. मंझन

सूफी काव्यधारा के कवि मंझन की प्रेम-कहानी 'मधुमालती' का भी इस कोटि के

काव्यों में ऊँचा स्थान है। इसका रचना-काल ६५२ हि० (१५४५ ई०) है। मंझन शेरशाह के उत्तराधिकारी सलीमशाह के समकालीन थे। इनका पूरा नाम गुफ्तार मियाँ मंझन था। ये अनूपगढ़ के पास चर्नाढी के निवासी थे। इनका यह काव्य 'पदमावत' की तुलना में सामान्य स्तर का है पर कहानी सूफी सिद्धान्तों के अनुरूप वर्णित है। इसमे स्थान-स्थान पर प्रेमतत्त्व का सुन्दर व्याख्यान किया गया है। कहानी संयोगान्त है।

इस काव्य का सम्पादन डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने किया है।

कृष्ण-काव्य

६. विद्यापति

महामहोपाध्याय कवि विद्यापति ठाकुर का जन्म मिथिला के प्रसिद्ध पण्डितकुल मे हुआ था। इनके पूर्वज सस्कृत के महान् विद्वान थे और विद्या के बल पर मिथिला राज्य के उच्च पदों पर प्रतिष्ठित थे। ये बिसइबार वंश के थे, जिसका वंशवृक्ष मैथिल 'पजीप्रबन्ध' के अनुसार अब भी प्राप्त है। इससे यह ज्ञात होता है कि विद्यापति का वश अब भी चल रहा है। इनका जन्म कमतौल स्टेशन के समीपवर्ती ग्राम बिसफी में हुआ था। यहाँ अब भी एक टीला है, जहाँ कवि का जन्मस्थान है, ऐसी मान्यता है। इसी भूमि पर इस समृद्ध वंश का भवन स्थित था। लगभग सौ वर्ष पूर्व इनके वशज इस स्थान को छोड़कर सौराठ में बस गये थे।

मिथिला के राजा शिवसिंह का सिंहासनारोहण लक्ष्मणाब्द २९३-१४०८ ई० में हुआ था। मिथिला मे यह अनुश्रुति है कि उस समय वे पचास वर्ष के थे और विद्यापति उनसे दो वर्ष बड़े थे। अतः इनका जन्मकाल १३५० ई० होता है। इनका निधन १५०७ वि० की कार्त्तिक शुल्क त्रयोदशी को गंगातट पर हुआ। ये तिथियाँ बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित 'पदावली' के सम्पादकद्वय के मतानुसार है।

विद्यापति संस्कृत, अवहट्ठ और मैथिली भाषाओं के कवि के रूप मे प्रसिद्ध है। इनकी कृतियों का विवरण इस प्रकार है—

१. कीर्तिलता— अवहट्ठभाषा में रचित काव्य जिसमें महाराज कीर्तिसिंह का यशोवर्णन हुआ है।

२. कीर्तिपताका— अवहट्ठ में रचित। महाराज शिवसिंहदेव का यशोवर्णन। बीच-बीच में पद्य। अप्रकाशित।

३. गोरक्षविजय— कथोपकथन संस्कृत-प्राकृत में और गीत मैथिली में।

४. भूपरिक्रमा— तीर्थयात्रा-वर्णन। भूगोलज्ञानविषयक ग्रन्थ।

५. पुरुषपरीक्षा—— ऐतिहासिक पुरुषों की कथा——यथा हरिश्चन्द्र, शिवि, पार्थ आदि के चरित्र ।

६ लिखनावली—— पत्रलेखनविषयक । इसमें नियम और व्यवहार के भी पत्र है ।

७. शैवसर्वस्वसार—— शिवपूजासम्बन्धी विधि-विधान का ग्रन्थ ।

८. शैवसर्वस्वसार—— प्रमाणभूत पुराण-संग्रह । शिवार्चनविषयक प्रमाणों का सग्रह ।

९. गंगावाक्यावली—— गंगाभक्तिविषयक रचना ।

१०. विभागसार—— दायभागविवेचन ।

११. दानवाक्यावली—— दानविषयक ।

१२. दुर्गाभक्तितरगिणी—— दुर्गादेवीभक्तिविषयक ।

१३. गयापत्तलक—— गयाश्राद्धविषयक ।

१४. वर्षकृत्य—— वर्ष के पर्वो का विवेचन ।

१५. मणिमंजरी—— नाटिका ।

१६. पदावली—— मैथिली । यह रचना कवि के पदों का संग्रह है ।

पदावली—— 'पदावली' नाम से कई संग्रह प्रकाशित हुए है, पर उनमे कोई ऐसा नही है जो विद्यापति के समय की या उसके कुछ बाद की प्रति के आधार पर संकलित हो । इन पदावलियों मे पदों के रूप में बहुत भेद है । बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने जो पदावली प्रकाशित की है उसके सम्पादकों ने विभिन्न पाठो के सम्बन्ध मे अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है— "एक ही पद की भाषा मिथिला की पदावलियों में कुछ है तो नेपाल की पदावली मे कुछ । केवल भाषा मे ही पार्थक्य नही है, स्वरूप में भी पार्थक्य है···· किसी मे अधिक पंक्तियाँ है तो किसी में कम । पदान्तर्गत शब्दों में भी एकरूपता नही है । एक ही शब्द विभिन्न पदावलियों में विभिन्न रूप में हैं । कहीं-कही तो टूट-फूटकर शब्द इतने विकृत हो गये है कि किसी एक पदावली के आधार पर अर्थसंगति नही होती । सभी उपलब्ध पदावलियों में प्राप्त पदों को एकत्र करके निरीक्षण-परीक्षण करने के पश्चात् पाठोद्धार होने पर ही अर्थसगति होती है ।"

पुरानी पदावलियों में तीन विशेषतः उल्लेख्य हैं—— नेपाल-पदावली, रामभद्रपुर-पदावली, तरौनी-पदावली । परिषद्-पदावली अद्यतन प्रकाशित संग्रहो में उत्कृष्ट है ।

विद्यापति लौकिक कवि है, कवियशःप्रार्थी और राजसभासेवी । वे सन्त-

महात्मा-कोटि में नही आते । वे कालिदास आदि राजकवियों के समान ऐहिक भावों के श्रृंगारी कवि हैं। राधा-कृष्ण के केलिविलास का ललित वर्णन ही उन्हें इष्ट था। वे मैथिली में अभिनवजयदेव बनकर उदित हुए। 'गीतगोविन्द' की शैली मे मैथिली में श्रृंगारी गीतो की परम्परा चलायी। श्रृंगार का रसराजत्व राधा-कृष्ण को नायिका और नायक के रूप मे स्वीकार कर स्थापित किया। विद्यापति शिवभक्त थे, यह न केवल मिथिला की अनुश्रुति के अनुसार वरन् उनकी 'शैवसर्वस्व-सार', 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' आदि शिवपूजासम्बन्धी ग्रन्थो से भी प्रमाणित है। कवि ने काव्य के हेतु ही राधा-कृष्ण को स्वीकार किया, उनका अपना विश्वास शैवमत में था। उनकी 'पदावली' के आधार पर बॅगला के आलोचकों के समान, उन्हे 'वैष्णव कवि' मानना भ्रामक है। विद्यापति शैव कवि है, उनके स्तोत्रों और 'नचारी' के पदों मे उनका शिवभक्त रूप ही प्रकट होता है। चैतन्यसम्प्रदाय मे राधा-कृष्ण का लीला-गान है, अतः बंगाल मे विद्यापति के पदों का कृष्णभक्तों द्वारा स्वागत हुआ; पर विद्यापति की भक्ति स्पष्ट रूप से कृष्ण के प्रति कही व्यक्त नही हुई है। शिव ही कवि के इष्टदेव है। ऐसे तो मध्ययुग से ही हिन्दू प्रायः पंचदेवोपासक होता है—वह हरि-हर-देवी सबकी उपासना करता है। सामान्य हिन्दू शैव-वैष्णव-शाक्त सब एक साथ होता है। कितने वैष्णव घरों मे रामनवमी के दिन देवीपूजा होती है; एक ही परिवार मे जन्माष्टमी और शिवरात्रि मनायी जाती है। ऐसी स्थिति मे विद्यापति अपने रचित शैवग्रन्थों में शैव है; पर राधा-कृष्ण के लीलागान (मुख्यतः श्रृंगारी लीला) रचनेवाले कवि होने के कारण कृष्णभक्त कवि होने का भ्रम उत्पन्न करते है। विद्यापति हिन्दी के प्रथम श्रृंगारी कवि है—यदि मैथिली को हम हिन्दी की उपभाषा मानते है, अन्यथा वे मैथिली के न केवल प्रथम गीतकार है, वरन् प्रथम महाकवि भी है।

शुद्ध काव्य की कसौटी पर विद्यापति को कसकर परखने पर वे सुवर्ण के समान प्रकाशमान् दिखाई पड़ते है। वैसी ललित-मधुर और व्यवस्थित भाषा लिखनेवाला कोई कवि हिन्दी में नही हुआ। सस्कृत 'गीतगोविन्द' का रस मैथिली जैसी 'देसिल' भाषा के पात्र में विद्यापति ने ही प्रथम पिलाया है। आधुनिक भारतीय भाषा के एक रूप का, मिथिला की देशभाषा की शक्ति और क्षमता का, मधुरता और व्यजना का सुन्दर-तम रूप विद्यापति की पदावली मे मिलता है। विद्यापति जैसा कवि किसी भाषा के साहित्य-मन्दिर में देवतुल्य पूजा जायेगा। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने हिन्दी की एक 'बोली' का सुकवि मानकर अपने इतिहास में गौरव के साथ विद्यापति का स्मरण किया है। अब मैथिली हिन्दी से भिन्न भाषा के रूप में अपनी स्वीकृति चाहती है। अतः विद्यापति को क्या हिन्दीप्रेमी अपने से पृथक् कर देंगे ? विद्यापति निस्सन्देह महाकवि है, श्रेष्ठ गीतकार है, रसिक कवि है, बहुभाषी कवि है और हमारी भाषा के गौरव है। 'पदावली' ही विद्यापति की यशोधरा कृति है।

१०. सूरदास

पुष्टिमार्गीय प्रामाणिक ग्रन्थों के मतानुसार यह माना जाता है कि कृष्णभक्ति-काव्यधारा के महाकवि सूरदास का जन्म स० १५३५ मे वैशाख शुक्ल पंचमी का हुआ था। सूरदास नामधारी कई कवि हुए है और एक-दो का उल्लेख अकबरकालीन फारसी इतिहासो मे हुआ है पर वे प्रसिद्ध सूरदास से भिन्न जान पड़ते है। गोस्वामी हरिराय के 'भावप्रकाश' के अनुसार सूरदास का जन्म दिल्ली के पास सीही ग्राम मे हुआ था। अतः सूर का जन्मस्थान खडीबोली-क्षेत्र में पडता है किन्तु वे ही ब्रजभाषा के प्रथम महाकवि है। सूर के खडीबोलीभाषी होने की ही सम्भावना है, क्योकि सीही के समीपवर्त्ती भाग की वही बोली है। सूर सारस्वत ब्राह्मण थे। उन्हे लोग जमान्ध मानते है। वे सही अर्थ में जमान्ध थे या नही; क्योंकि यह भी हो सकता है कि वे शैशव में ही अन्धे हो गये हों। पर अनुश्रुति उन्हे जमान्ध ही बताती है। बचपन मे ही वे गानविद्या मे प्रवीण थे। १८ वर्ष की अवस्था में वे मथुरा के विश्रामघाट पर आये, कुछ दिनो बाद उस स्थान को छोड़कर यमुनातट पर गऊघाट में रहने लगे। वे कृष्णभक्त थे और कीर्त्तन-भजन करते थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार इन कृष्णभक्त अन्धे कवि को वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग में दीक्षित कर इन्हे दास्यभाव छडाकर कृष्ण की मधुर लीलाओ का रस चखाया और लीलातत्त्व की व्याख्या समझायी। इसके बाद सूर का प्रभु के आगे घिघियाना छूट गया, वे दास्यभाव के विनय के पद छोडकर लीलापद गाने लगे। भागवत का दशम स्कन्ध कृष्णभक्तों को प्रिय है, उसी का आधार लेकर सूर ने सहस्रावधि पदो की रचना की जिनका सग्रह 'सूरसागर' नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्री वल्लभाचार्य ने सूर को श्रीनाथजी के मन्दिर का कीर्त्तनकार नियुक्त किया।

सूरदास ब्रजभाषा के आदिकवि है—उनके और उनके समकालीन कृष्णभक्त कवियो के काव्य के बल पर ही ब्रजभाषा सर्वाधिक समृद्ध भाषा बन गयी। उस समय तक हिन्दी के पूरबी रूप अवधी का महत्त्व कम नहीं था। पर इस सौरमण्डल के कवियों ने ब्रजभाषा को इतना प्रतिष्ठित कर दिया कि लगता है, उसके बाद अवधी प्रबन्धकाव्यों से समृद्ध होने के बावजूद ब्रजभाषा के समान लोकप्रिय नही हो सकी। ब्रजभूमि को वल्लभाचार्य ने कृष्णभक्ति का गढ़ बना दिया और कृष्ण की लीलाभूमि पदकार भक्त कवियों की पदावली की गूँज से झकृत हो गयी। सूरदास आजीवन लीलापद गाते हुए ब्रज में मधुवर्षा करते थे। उनका गोलोकवास स० १६४० मे हुआ, ऐसा डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का मत है।

अनुश्रुति है कि सूरदास ने एक लाख पद रचे। 'सूरसागर' में लगभग ६ हजार पद ही मिलते है। मेरे मत में एक लाख पद की अनुश्रुति गलत नहीं है। सूररचित

'पद' (पद्य के चरण) एक लाख के लगभग होने हैं। पद का अर्थ इस प्रसंग में चरण लेने से इस अनुश्रुति की संगति बैठ जाती है। 'पद' का 'पदावली' मे जो प्रचलित अर्थ है, वह अर्थ संस्कृत में प्रसिद्ध नही है। 'सूरसागर' कृष्णलीला के पदो का विशाल संग्रह है। इन पदों की पदसंख्या (चरणसख्या) लगभग एक लाख है। प्रायः सूरदास के पदों मे 'सूर' की छाप है। कतिपय पदों में 'सूरस्याम', 'सूरदास स्वामी', 'सूरप्रभु', 'सूरदासप्रभु' आया है, उन्हें 'छाप' न समझकर समस्त पद मानना चाहिए। हाँ, 'सूरज' या 'सूरजदास' छापवाले पद सूरदास के नही जान पड़ते।

कवि का प्रामाणिक ग्रन्थ 'सूरसागर' ही है। 'साहित्य-लहरी' और 'सूरसागर-सारावली' प्रामाणिक नहीं जान पडते। 'सूरसागर' का अच्छा पाठ नागरी प्रचारिणी सभा से निकला है। आजकल डॉ० माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन मे हिन्दी विद्यापीठ आगरा में 'सूरसागर' का पाठशोध वैज्ञानिक रीति से हो रहा है। इसके प्रकाशन से 'सूरसागर' के प्रामाणिक रूप से हम परिचित हो सकेंगे।

प्राचीन काव्यमर्मज्ञो ने 'सूर सूर तुलसी शशि' की उक्ति द्वारा सूरदास को काव्याकाश का सूर्य कहकर अधिक गौरव दिया था। शुक्लजी और कुछ आधुनिक विद्वानों ने इस दोहाश से असहमति प्रकट करते हुए इसके अज्ञात रचयिता को अलंकार-मोह से ग्रस्त माना है, जिसने सूर के भिन्नार्थ में प्रयोग द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की चेष्टा की थी। सूर से तुलसी श्रेष्ठ है, ऐसा मत जिन विद्वानो का है वे काव्य को शुद्ध काव्य की कसौटी पर ही नही परखते, वे काव्य मे शिवत्व को, लोककल्याण को, धर्म और नीति को ही कदाचित् अधिक महत्त्व देते है। शुद्ध काव्य की खोज करनेवाले कुछ काव्यमर्मज्ञ सूरदास को श्रेष्ठतर मानते थे, यह 'सूर सूर, तुलसी शशी' की उक्ति से प्रकट है। सूर को सूर्य और तुलसी को शशि कहनेवाले का दृष्टिकोण उदारतापूर्वक विचारणीय है। कृष्णभक्त कवियों की सख्या अधिक थी--सूर उन कवियों के ब्रजमण्डलरूपी सौरमण्डल मे केन्द्रस्थ सूरवत् प्रकाशमान है। द्वादशादित्यों में प्रमुख सूर्य है। कृष्णभक्त कवियों में अष्टछाप के अतिरिक्त भी अनेक बड़े कवि हो चुके थे। रामभक्तिधारा के कवियो में तुलसीदास एक चन्द्रमा के समान प्रकाशमान् है। उनका कोई न मण्डल बन सका और न अयोध्या में उनके समय तक कोई सुदृढ़ केन्द्र संगठित हो सका। सूरदास कृष्णभक्ति-आन्दोलन के पुरस्कर्ता अधिकृत कवि थे--वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के कवि, अष्टछापरूपी माला के सुमेरु। तुलसीदास रामभक्तिधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि है, पर उनके पीछे सगठन का बल नही था। 'मानस' का आरम्भ मात्र अयोध्या में करके तुलसी शिवपुरी काशी चले आये, जहाँ उन्होंने मानस को पूर्ण किया। रामभक्ति के संगठन की पृष्ठभूमि में वल्लभाचार्य जैसा महापुरुष तुलसीदास के समय नहीं था।

अतः सूर और तुलसी दोनों में कौन श्रेष्ठ है, इस प्रश्न का उत्तर इसपर निर्भर

करता है कि काव्यमन्दिर में 'सुन्दरम्' को प्रतिष्ठित किया जाय या 'शिवम्' को ! लोकजीवन के हेतु धर्म का आदर्श आवश्यक है। धर्म के साक्षात् विग्रह भगवान राम के चरित को अंकित कर तुलसीदास ने हिन्दू-जाति को नवजीवन दिया, उसके आगे मर्यादापुरुषोत्तम राम का आदर्श उपस्थित किया; अत. हिन्दू समाज के उद्धारक और त्राता के रूप मे भी गोस्वामी तुलसीदास का महत्त्व है। तुलसी 'शिव' काव्य के कवि, सूर 'सुन्दर' काव्य के। शिव के भाल पर शशि विराजित है। अत: तुलसी का 'मानस' अमृत से पूर्ण है; सूर का 'सागर' भावरत्नाकर है। हिन्दी के तीन दास-कवि-- कबीरदास, सूरदास और तुलसीदास--सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के कवि है। कबीर हिन्दी के सत्यम् तुलसी शिवम् और सूर सुन्दरम् के कवि है। हिन्दी-मन्दिर की यह त्रिमूर्त्ति नित्य वन्दनीय है !

११. परमानन्ददास

'अष्टछाप' के कवियो मे ब्रजवासी परमानन्ददास का जन्मस्थान कन्नौज है। सौरमण्डल के प्रतिभाशाली कवियो मे परमानन्ददास श्रेष्ठ पदकार और कीर्त्तनकार के रूप मे प्रसिद्ध हुए। बाद मे स्वामी परमानन्द ने अरैल जाकर महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ली। आचार्य ने आपको भी श्रीनाथजी के मन्दिर मे कीर्तन-सेवा पर नियुक्त कर दिया। सूरदास के बाद परमान्ददास का ही नाम लिया जाता है और आपके पदो का विशाल सग्रह भी 'परमानन्द-सागर' नाम से प्रकाशित हुआ है। दोनो एक ही गुरु से दीक्षित है, एक ही मार्ग के यात्री है, एक ही ढग की रचना मे प्रवृत्त हुए और एक ही रुचि और प्रवृत्ति के है। दोनों मे बाललीला के पद प्रचुर मात्रा मे है। दोनो का काव्यविषय समान है। वल्लभसम्प्रदाय में पदकीर्तन का अधिक महत्त्व होने के कारण कृष्णभक्ति की व्यंजना मुक्तक पदों के माध्यम से हुई। रामभक्त तुलसी को इस पद्धति पर 'गीतावली' की रचना करनी पडी, यद्यपि उन्हे अधिक सुयश प्रबन्धकार के रूप मे मिला। संगीतशास्त्रियो के अनुसार सूरदास गेय पदो की रचना मे विशेष कुशल है। ऐसी प्रसिद्धि है कि वे और परमानन्ददास सगीतशास्त्र मे प्रवीण थे। इन दोनो कवियों का मूल ग्रन्थ 'भागवत' ही है। ऐसे तो भागवत सम्पूर्ण कृष्णकाव्य का उपजीव्य ग्रन्थ है, पर इन दोनों पर इसका विशेष प्रभाव लक्षित होता है। सूर के सुयश के आगे परमानन्द मन्द पड गये है, अन्यथा ये भी उच्चस्तर के कवि है।

१२. मीराँबाई

मीराँ मेवाड की मरुभूमि मे भक्तिमन्दाकिनी के रूप मे प्रकट हुईं। वे राजरानी थीं। बालापन से वे कृष्ण की भक्ति में लीन रहती थी। विधि के दुर्विधान से जब वे विधवा हो गयीं, तब से अपने 'गिरिधरगोपाल' की भक्ति में ऐसी दीवानी

हो गयी कि उन्होंने अपने को कृष्ण को ही पूर्णतः समर्पित कर दिया। मध्ययुग मे एक महिला का, वह भी राजवधू का, घर त्याग कर, लोकलाज खोकर साधु-समाज मे कीर्तन करना बहुत बड़े सामाजिक विद्रोह और साहस का कार्य समझा गया और उन्हे गुरुजनों की ताडना लाछना और भर्त्सना सहनी पड़ी। व्रजभूमि त्यागकर मीराँ द्वारका चली गयी, जहाँ शेष जीवन अपने प्रियतम कृष्ण की आराधना और कीर्तन-सेवा मे ही उन्होने व्यतीत किया। मीराँ ने किसी सम्प्रदाय में दीक्षा नहीं ली, अत. वे देश के सभी कृष्णभक्तों के बीच समान रूप से पूजी जाती है। कहा जाता है कि राधा स्वयं मीराँ के रूप मे अवतरित हुई थीं। कृष्णभक्ति के लिए अपने गुरुजनो मे, कुल मे और समाज मे इस प्रकार किसी को पीडित नही होना पड़ा और न किसी को संघर्ष करना पडा। नारी होने के कारण मीराँ को राणा के कोप को क्रूरतम रूप में सहना पडा।

मीराँ के पदों मे अपूर्व मार्मिकता, तन्मयता और तरलता है। उनका जीवन ही कृष्णमय हो गया था। सुकुमारी मीराँ कृष्ण की उपासिका हैं, वे प्रेमा भक्ति की प्रतिमा है, वे मध्ययुग की राधा हैं। आरम्भ मे वे निर्गुण सन्तमत के प्रभाव मे आयी थीं, ऐसा उनके कुछ पदों से प्रकट होता है; पर बाद मे वे कृष्ण को ही इष्टदेव मानकर, उन्ही को अपना सर्वस्व मानकर, आमरण कृष्णभक्ति मे रंगी हुई अपने आराध्य को पूजती रही।

मीराँ के पद रागरागनियो में बँधे हुए है। उनके कृष्णप्रेम की धारा सरल-सहज भूमि पर उमडती-बहती है। सरलता, तरलता और स्वच्छता उनके हृदय की भक्तिधारा के पावन जल की विशेषता है। मीराँ के पद तीन भाषाओं मे मिलते हैं—मातृभाषा मेवाडी में, कृष्णभक्ति की काव्यभाषा व्रजभाषा मे और अपनी प्रवासभूमि की भाषा गुजराती मे। अत. इन तीनो भाषाओं को मीराँ पर गर्व है।

१३. नन्ददास

नन्ददास भी अष्टछाप के कवि है। 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार वे रामपुरग्राम-निवासी और तुलसीदास के भाई थे। 'दोहारत्नावली' के अनुसार वे चचेरे भाई थे। हो सकता है कि नन्ददास तुलसीदास के ही वंश की भिन्न शाखा के हों और उनके भाई लगते हों। वे कृष्णभक्त कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। आरम्भ में वे किसी खतरानी की रूपछवि पर आसक्त थे और यह आसक्ति तब छूटी जब उन्हें बोध हुआ। इस बोध के मूल में कारण यह बताया जाता है कि नन्ददास को कृष्ण की रूपछवि देखकर अपनी प्रिया की रूपछवि भूल गयी। किवदन्तियाँ सदा अतिरंजना और मिथ्या से युक्त हो जाती है, पर उनका कोई आधार अवश्य होता है। सत्य यह जान पड़ता है कि नन्ददास पहले कामुक और विलासी थे, बाद में वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में दीक्षा लेने के बाद उनके जीवन की दिशा बदल गयी। वे भी परमभक्त के

रूप में प्रसिद्ध हैं।

नन्ददास की एक विशेषता है कि उन्होंने पदरचना को कम महत्त्व दिया। उन्हें काव्यशास्त्र का उचित ज्ञान था और उन्होने शास्त्रीय रीति से काव्य और पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्त का अनुशीलन किया था।

इनके 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवर-गीत' ये छोटे खण्डकाव्यतुल्य काव्य बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रथम मे रास का ललित-मधुर शब्दावली में वर्णन है, द्वितीय में संवादात्मक शैली में ऊधो-गोपी-सवाद के माध्यम से गोपियों के विरह और ज्ञान-योग-मार्ग पर भक्ति की सरलता और श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। 'पंचाध्यायी' में रासलीला का बडा हृदयग्राही वर्णन मधुर भाषा में हुआ है। ब्रजभाषा के रसिक 'गीतगोविन्द' के समान इसकी भाषा-माधुरी के प्रशंसक है। 'भँवर-गीत' संवादात्मक रूप में होने के कारण नाटकीयता, वाग्विलास और वाक्चातुरी से युक्त है। इसमे गोपियाँ ऊधो के कथनों का मुँहतोड उत्तर देकर ऊधो को वाग्युद्ध में हराने की चेष्टा करती है। ये पुस्तकें लीलाधारियों में विशेष प्रसिद्ध हैं।

नन्ददास की एक अन्य रचना 'रसमंजरी' में रसिकशिरोमणि कृष्ण और रसिक-प्रिया राधा की शृंगारी लीलाओं के भेद को जानने के लिए रसराज शृंगार के तत्त्व को जानना आवश्यक माना गया है। इन्होने 'अनेकार्थमंजरी' नामक कोश की भी रचना की थी। आपकी अन्य रचनाओं में विरहमंजरी, मानमंजरी और रूपमंजरी है। इन सब नामों के साथ 'मंजरी' का योग दर्शनीय है। कवि की 'नाममाला' भी कोश ही है।

नन्ददास एक शब्दशिल्पी या कलाकार के रूप मे स्मरण किये जाते है। 'और सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया' यह उक्ति प्रसिद्ध है।

'नन्ददास' नाम से श्री उमाशंकर शुक्ल ने कवि की कृतियों को सुसम्पादित रूप में निकाला है।

१४. रसखान

प्रसिद्ध कृष्णभक्त मुसलमान कवि रसखान दिल्ली के पठान थे, जिन्होंने बिट्ठल-नाथ से दीक्षा लेकर कृष्णभक्तिमय जीवन व्यतीत किया। 'प्रेम-वाटिका' (सं० १६७१) में कवि का आत्मोल्लेख इस प्रकार है—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान,
छिनहि बादसा बंस की ठसक छोरि रसखान।

प्रेम निकेतन श्रीबनहि आइ गोवर्धन धाम,
लह्यो सरन चित चाहिकै जुगल सरूप ललाम।

तोरि मानिनी ते हियो, फोरि मानिनी मान,
प्रेमदेव की छविहि लखि भये मियाँ रसखान।

इससे ज्ञात होता है कि जब दिल्ली नगर गदर के कारण श्मशान बन गया तब

बादशाह-वंश की ठसक छोडकर मियाँ रसखान कृष्णभक्त होकर व्रजभूमि में बस गये। वहाँ प्रेमनिकेतन श्रीवन के गोवर्धनधाम में बसकर 'जुगल सरूप' की शरण में आये.। किसी प्रिया के मान करने पर, उसका मान तोडकर, भग्नहृदय ये कवि प्रेमदेव कृष्ण की छवि पर मुग्ध होकर कृष्ण के परमभक्त हो गये। ऐसी अनुश्रुति है कि मियाँ रसखान को बिट्ठलनाथ ने स्वयं दीक्षा दी थी।

उक्त आत्मोल्लेख के आधार पर किसी बनिये के लड़के पर उनके आसक्त होने की किवदन्ती निराधार जान पडती है। रसखान किस बादशाह-वंश के थे, यह ज्ञात नही है। हो सकता है कि वे पठान-वंश के ही हों।

रसखान के सवैये अपनी माधुरी, पदयोजना और छन्दभगिमा में अपूर्व हैं। अपने रसीले सवैयों के बल पर ही वे असख्य पाठकों के कण्ठहार बने है। ब्रजभाषा का ऐसा सरल, तरल, स्वच्छ और गतिशील रूप बिरले हिन्दू कवियों के काव्य में सुलभ है। यह भाषा उनकी अपनी भाषा जान पड़ती है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय तक मुसलमान लोकभाषा के रूप में इस देश की बोलियों के महत्त्व को स्वीकार करते थे और तब तक उर्दू का उदय काव्यभाषा के रूप में नहीं हुआ था। ब्रजभाषा कृष्णभक्ति की भाषा थी, अतः यह भी उनके ब्रजभाषा में ही लिखने का कारण हो सकता है।

१५. हलधरदास

'सुदामाचरित्र' के रचयिता कवि हलधरदास मुजफ्फरपुर के पदमौल गाँव के श्रीवास्तव (कायस्थ)-कुल में उत्पन्न हुए थे, जिनके जन्म संवत् का ठीक पता नही है। पर हमें 'सुदामाचरित्र' का रचना-काल सं० १६२२ ज्ञात है। यह प्रौढ़वय की कृति जान पडती है, अतः कवि का जन्म सं० १५८२ के लगभग अनुमानित किया जा सकता है।

हलधरदास का 'सुदामाचरित्र' ईसा की १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक बिहार में जनता में बहुपठित ग्रन्थ था। देश के पश्चिमी भाग में नरोत्तमदास का 'सुदामाचरित' बहु-मान्य है, पर पूर्वीय भाग में पहले हलधरदास का 'सुदामाचरित्र' ही अधिक चलता था। नरोत्तमदास-कृत सुदामाचरित' के अनेक संस्करण उत्तरप्रदेश से निकले और इस काव्य को पाठ्यक्रम में भी स्थान मिला। इसकी लोकप्रियता के कारण हलधरदास के काव्य का प्रचार कम हो गया, पर उनका 'सुदामा-चरित्र' काव्य-गुण की दृष्टि से किसी प्रकार हीन नहीं है। बिहार में रचित इस पुराने काव्य की उपेक्षा नही होनी चाहिए। हल-धरदार-कृत 'सुदामा-चरित्र' को डॉ० सियाराम तिवारी ने सम्पादित कर भारती भवन, पटना से प्रकाशित कराया है। प्रस्तुत पुस्तक के इस संस्करण मे सकलित अश उसी पाठ के अनुसार है। प्रथम संस्करण का पाठ अन्य पाठ पर आश्रित था।

राम-काव्य

१६. तुलसीदास

महाकवि और परम रामभक्त तुलसीदासजी ने अपने काव्यो में अपने सम्बन्ध में इतना कम उल्लेख किया है कि उसके आधार पर कवि के जन्मसवत् और जन्मभूमि पर प्रकाश नही पडता तथा हमे अन्य स्रोतो से प्राप्त सामग्री पर अवलम्बित होना पड़ता है। पर इन विविध स्रोतो से प्राप्त सामग्री मे परस्पर इतना मतभेद है कि उनके जीवन के विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक कहा नही जा सकता।

'मूल गोसाई चरित' के अनुसार तुलसीदासजी की जन्मतिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी सं० १५५४ है—

पन्द्रह सौ चौवन बिसै कालिन्दी के तीर।
श्रावन शुक्ला सप्तमी तुलसी धरेउ सरीर॥

पर आधुनिक विद्वान् इस तिथि को मानने के पक्ष में नही है। तुलसी का निधन-वर्ष स० १६८० प्रसिद्ध है, अतः १५५४ को जन्मसवत् मान लेने पर उनकी आयु १२६ वर्ष होनी है। यह दीर्घायु आधुनिक विद्वानो को विश्वसनीय नही जान पडती। हाथ-रस के तुलसी साहब ने तुलसी का जन्म स० १५८९ भादो सुदी ११ माना है। वे अपने को तुलसीदास का अवतार बताते है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त इस तिथि को मान्य ठहराते है। पर 'घटरामायण' का यह प्रमाण इस वैज्ञानिक युग मे ऐसा नही है जिसे विशेष महत्त्व दिया जा सके। अतः जब तक स० १५५४ के पक्ष की पुष्टि अन्य साक्ष्य से नही होती, तब तक १५८९ को जन्मसवत् मान लिया जा सकता है।

जन्मस्थान के सम्बन्ध मे भी विवाद है। बहुमत राजापुर के पक्ष मे है, पर सोरों के पक्ष में प्राप्त प्रमाण पुष्ट है और सर्वथा उपेक्षणीय नही। इस सम्बन्ध में तुलसी के अनुसन्धायक डॉ० गुप्त के शब्दो मे, "इनमें से भी किसी पक्ष में इस प्रकार के साक्ष्य प्राप्त नही है, जो सर्वथा निर्णयात्मक हों। यह अवश्य है कि प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार अन्य समस्त स्थानो की अपेक्षा राजापुर के पक्ष मे सम्भावना अधिक है।"

'कवितावली' मे कवि ने अपनी जीवन-यात्रा के सम्बन्ध में कुछ सकेत दिये है जिनसे मात्र इतना ज्ञात होता है कि माता-पिता ने शिशु तुलसी को जनमते ही त्याग दिया था। अतः कवि का शैशव घोर दारिद्र्य में बीता। द्वार-द्वार ललाते-बिललाते और चार चनों को ही चार फल (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) जानते हुए कवि जीवन बिताने को विवश हुआ। घर घर और दर-दर की ठोकर खानेवाले भावी कवि को जीवन के कटु-तिक्त अनुभव हुए। अन्त में किसी हनुमानमन्दिर में खोची माँगकर उनके खाने की व्यवस्था हो गयी। अंजनीकुमार हनुमान ने उनकी सार-सँभार की। इस प्रकार दरि-द्रता का दंश सहते हुए कवि का बचपन रामभक्तों के बीच बीता। उसी अवस्था में

गुरुदीक्षा मिली, गुरुमुख से शूकर क्षेत्र मे रामकथा सुनने का सौभाग्य मिला। उनके गुरु नरहरिदास या नरहर्यानन्द नामक कोई महात्मा थे, ऐसा संकेत उनके 'कृपासिन्धु नर रूप हरि' जैसे श्लिष्ट पद से मिलता है। बाद मे संस्कृत और शास्त्रों का विधिवत् ज्ञान प्राप्त कर तुलसी ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया तथा सुखी दाम्पत्य-जीवन बिताने लगे। नव गृहस्थ तुलसी की पत्नी मे इतनी अधिक आसक्ति थी कि वे अपनी राम-भक्ति से विचलित हो गये। संयोगवश एक दिन अपनी प्रिया पत्नी के व्यग्यबाण से आहत तुलसी के हृदय में वैराग्य और भक्ति का उदय हुआ। सात्त्विक ग्लानि का उदय होते ही वे विषयसेवन से विमुख होकर, विरक्त होकर घर से निकल पड़े। वे कामदास से रामदास हुए। गृहस्थ तुलसी की परिणति भक्त तुलसी के रूप मे हुई। जीवन मे नया मोड़ आया। भक्तिपथ पर चलते हुए वे चित्रकूट, अयोध्या और काशी तक आये। इन स्थानों पर उनके भक्तिद्रवित मानस मे 'मानस', 'विनयपत्रिका', 'कवितावली' इत्यादि का प्रणयन हुआ। शीघ्र ही भक्तशिरोमणि के रूप मे इन राम-भक्त महाकवि की ख्याति साधुसमाज और पण्डितसमाज मे तीव्रवेग से बढ़ने लगी। 'मानस' की रचना के बाद इनका यश बढने लगा। इन्हे काशी के शिवभक्तो और राम-भक्तो के बीच प्रतिष्ठा मिली। ज्ञात होता है कि कुछ काल तक ये तुलसीमठ के 'गोसाई' भी बने। जीवन के अन्तिम भाग मे ये बाहुपीडा से ग्रस्त हुए। ये रामभक्त तो थे ही, रामदास हनुमान के भी परमभक्त थे। पीडा की इस स्थिति मे इन्होंने संकटमोचन हनुमान की आराधना में 'हनुमानबाहुक' रचा। काशी के 'सकटमोचन' और असीघाट' के बीच इनका अधिकांश जीवन व्यतीत हुआ।

तुलसी ने 'मानस' को वाल्मीकीय रामायण और अध्यात्म रामायण के आधार पर रचा। प्रबन्धकाव्य की उस समय तक प्रचलित दोहा-चौपाई-शैली मे इस भक्तिपूर्ण राम-काव्य को उन्होंने ऐसा रूप दिया कि वह काव्य के साथ ही 'नानापुराणनिगमागम-सम्मत', शास्त्र-तुल्य महत्त्व का धर्मग्रन्थ भी बन गया। मूर्च्छित हिन्दू जाति को सजी-वनी देने के लिए ही तुलसी के मानस से यह रामचरितामृत प्रवाहित हुआ। एक ओर यह उत्कृष्ट काव्य है तो दूसरी ओर अभूतपूर्व भक्तिमूलक धर्मग्रन्थ भी। भाषा मे यह अपूर्व धार्मिक काव्य प्राप्त कर जनसमुदाय उत्फुल्ल हो उठा। प्रबन्ध-काव्य के रूप में 'रामचरितमानस' रचने के बाद इस भक्त कवि ने मुक्तक शैली मे पद, दोहे, कवित्त, सवैये, बरवै इत्यादि रचकर रामभक्ति की मन्दाकिनी बहा दी। भाषा का क्षेत्र इस काव्यधारा से उर्वर और समृद्ध हो गया। 'मानस' का आरम्भकाल सं० १६३१ है और लगभग तीन वर्ष इसकी रचना में लगे। रचना पूर्ण होते ही इसकी सैकड़ों प्रतिलिपियाँ होने लगीं—सर्वत्र हिन्दी क्षेत्र में इसका स्वागत हुआ। आर्यावर्त्त के मध्यभाग में, मध्यदेश में, इसका जैसा व्यापक प्रचार हुआ है, वह अभूतपूर्व ही कहा जा सकता है। तुलसी ने अपने इस श्रव्यकाव्य को दृश्यकाव्य का रूप देने की

पूर्ण चेष्टा की। उस समय हिन्दी में नाटकों का अभाव था। तुलसी के 'मानस' के आधार पर काशी में रामलीला का आयोजन सगठित किया गया। रामलीला के माध्यम से इस ग्रन्थरत्न का काशी में प्रचार हुआ और इस प्रकार तुलसी की इस कृति को, जो 'भाषा रामायण' के नाम से प्रसिद्ध हुई, सर्वत्र लोकप्रियता मिली। धर्मप्राण हिन्दुओं के लिए 'मानस' अक्षय्य अमृतकोष बन गया। 'मानस' के बाद भक्तसमाज ने 'विनयपत्रिका' को आदर दिया। तुलसी ने रामभक्ति का प्रचार करने के उद्देश्य से ही लेखनी उठायी थी, वे कवियश:प्रार्थी नही थे। वे लौकिक या ऐहिक कवि नही थे। कविता उनके लिए सन्देश और आदर्श उपस्थित करने के लिए माध्यम बनी। 'कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।' 'रामचरितमानस' चरित काव्यों मे शिरोमणि है। तुलसीदास के काव्य को चाहे काव्य की कसौटी पर कसा जाय अथवा धर्मग्रन्थ या नैतिक काव्य के रूप में जाँचा जाय, यह शुद्ध कंचन है। काल की कसौटी पर तो वह कसा ही जा चुका है। यह हिन्दी काव्यमाला का सुमेरु है।

तुलसीदास की रचनाएँ

काव्य	रचनाकाल
१. रामललानहछू	सं० १६१६ (अनुमित)
२. रामाज्ञाप्रश्न	१६२१
३. जातकीमंगल	१६२५
४. रामचरितमानस	१६३१ (आरम्भकाल)
५. पार्वतीमंगल	१६४१
६. गीतावली	१६६६ (लगभग)
७. कृष्णगीतावली	१६५८
८. विनयपत्रिका	१६५८ (लगभग)
९. बरवै	
१०. दोहावली	
११. कवितावली	
१२. हनुमानबाहुक	

इनके अतिरिक्त, कुछ और पुस्तकें भी तुलसी के नाम पर चलती है, पर आधुनिक विद्वानो के अनुसार उपर्युक्त कृतियाँ ही प्रामाणिक हैं।

१७. नाभादास

अग्रदास के शिष्य नाभादास 'भक्तमाल' के रचयिता के रूप मे प्रसिद्ध है। प्रियादास ने इसपर टीका लिखी है। 'भक्तमाल' में अनेक प्राचीन और तत्कालीन भक्तों का

चरित वर्णित है। इससे अनेक भक्तो के जीवन पर प्रकाश पडा है। 'भक्तमाल'-शैली की अनेक रचनाएँ मिलती है। रामानन्दी सम्प्रदाय के भक्तों का चरित 'भक्तमाल' में विशेष रूप से वर्णित है। नाभादास ने 'भक्तमाल' की रचना गुरु के आदेश से की थी।

नाभादास की दूसरी रचना है 'रामाष्टयाम'। यह दोहा-चौपाई में रचा गया है। इसमें सीता-राम की शृंगारी लीलाओं का वर्णन है। इसी 'रामाष्टयाम' से इस सकलन में अंश लिये गये है।

रीति-काव्य

१८. केशवदास

केशव के जन्मकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर मतभेद है। शुक्लजी और 'मिश्रबन्धुविनोद' के अनुसार कवि का जन्म स० १६१२ में हुआ था। लाला भगवानदीन सं० १६१८ मानने के पक्ष में हैं। केशव तुलसी के समकालीन थे। इनकी मृत्यु शुक्लजी के अनुसार स० १६७४ मे और लालाजी के अनुसार सं० १६८० मे हुई थी। केशवदास संस्कृत के विद्वानों के कुल में उत्पन्न हुए थे और उनमे अपने पण्डितकुल का बड़ा अभिमान था। केशव ने भाषा में काव्य रचकर सुयश प्राप्त किया। किसी अज्ञातनामा कवि की उक्ति 'सूर सूर तुलसी शशी, उडुगन केसवदास' बहुत प्रसिद्ध है। काव्याकाश के नक्षत्र के रूप में केशव का यह मूल्याकन महत्त्वपूर्ण है। सूरदास कृष्णभक्तिधारा के, तुलसीदास रामभक्तिधारा के और केशवदास काव्यशास्त्रीय शृंगारधारा के सुकवि के रूप मे स्मरण किये जाते है।

केशव की 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया', 'रामचन्द्रिका' ये तीन पुस्तके बहुत प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त 'विरसिहदेव-चरित्र', 'विज्ञानगीता' और 'जहाँगीर-जसचन्द्रिका' भी इनकी कृतियाँ है। केशव रसिकत्व के लिए प्रसिद्ध है। कदाचित् इस प्रसिद्धि का कारण है 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया'। ये शृगाररस के नायिका-भेद की रीति पर रचे काव्य है। 'कविप्रिया' मे अलंकार को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। रसराज शृंगार, नायिकाभेद, अलंकार आदि के लक्षण और उदाहरण आदि देने के कारण केशव लौकिक काव्य के कवि माने जाते है। केशव ने अपने अनेक मुक्तक छन्दों में खुद को 'केशवराय' भी कहा है। इससे जान पड़ता है कि प्रारम्भ में वे इसी नाम से प्रसिद्ध रहे। वृद्धावस्था में भक्ति का उन्मेष होने पर उन्हें 'केशव-दास' कहा जाने लगा। कहा जाता है कि तुलसीदास से साक्षात्कार होने के बाद आपने 'रामचन्द्रिका' की रचना की। क्लिष्टता और अर्थगाम्भीर्य के लिए यह काव्य प्रसिद्ध है। नाना प्रकार के छन्दों में रचा यह काव्य अपने सवादों और छन्दोयोजना के लिए प्रसिद्ध

है । केशव की कृतियों मे काव्य का सहज-सुन्दर रूप 'रसिकप्रिया' में उपलब्ध है । केशव आचार्य और महाकवि दोनो है । रीतिग्रन्थ या काव्यशास्त्र रचने की प्रवृत्ति के कारण केशव आचार्य के रूप मे प्रतिष्ठित है । 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' कविशिक्षा के लिए उत्कृष्ट कृतियाँ मानी जाती रही है । सस्कृत के शब्दो के अप्रचलित अर्थ में प्रयोग द्वारा केशव ने अपने काव्य को दुर्बोध बना दिया है । रीतिपरम्परा के कवियों ने केशव को बडा आदर दिया और उनके ग्रन्थों का पठन-पाठन कवियो के लिए आवश्यक समझा जाता है । केशव का महत्त्व इसमे है कि वे हिन्दी मे प्रथम शास्त्रीय कवि है और पाण्डित्य का प्रदर्शन उन्हे अभीष्ट है । उनकी कविता का बहुत कम अश ऐसा है जो आज के पाठक को सहज मुग्ध कर ले । उनकी कविताओ के गूढार्थ को समझना कठिन है; अतः कवियो की परीक्षा के लिए उनकी कविताओ का अर्थ करने को कहा जाता था और यह उक्ति उस युग के समय प्रसिद्ध थी––"कवि को दैन न चहै बिदाई । पूछै केशव की कविताई ।" केशव के मुक्तक सवैयों और कवित्तों मे रस की कमी नही है; पर जान पडता है कि प्रौढावस्था मे उनकी रसिकता दब गयी और पाण्डित्य के प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ गयी, जिसका फल यह हुआ कि उनका काव्य सामान्य पाठको का काव्य नही रह गया । साहित्यशास्त्र और पिगल का ज्ञाता, सस्कृत काव्यपरम्परा से सुपरिचित विद्वान् पाठक ही केशव का प्रशसक रह गया । आधुनिक समीक्षक केशवको महाकवियो की श्रेणी में तृतीय स्थान देने के पक्ष मे नहीं है । केशव रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य-कवि के रूप मे ही ब्रजभाषा के सुकवियों मे स्मृत किये जायेगे ।

१९. सेनापति

सेनापति का जन्म कब हुआ, यह निश्चितरूपेण ज्ञात नही है; पर अनुमानतः उनका जन्म सवत् १६८६ मे हुआ था। इनका प्रसिद्ध काव्य 'कवित्त-रत्नाकर' (स० १७०६) है। इनका जन्म-स्थान अनूप शहर था। 'कवित्तरत्नाकर' के आरम्भिक छन्दो से ये रामभक्त जान पडते है, पर बाद मे ये कृष्णभक्ति के रंग मे रँग गये और वृन्दावन मे ही बस गये ।

सेनापति चाहत है सकल जनम भरि
वृन्दावन सीमा तें न बाहर निकसिबो ।
राधा-मन रंजन की सोभा नैन-कंजन की
माल गरे गु जन की कुंजन कौ बसिबो ।

इनके काव्य में रीति की परम्परा के साथ भक्ति का भी मेल है । श्रृंगार और भक्ति मूलक छन्दों में कवि को प्रायः बराबर सफलता मिली है । अलकारप्रियता और शैली रीतिकाल के अन्य कवियों से मिलती है । सेनापति अपने ऋतुवर्णन के लिए प्रसिद्ध है । प्रकृति में ऋतुओं के बदलने के साथ होनेवाले परिवर्तनों पर

कवि की दृष्टि गयी है और उनका ऋतुवर्णन भाषा, भाव, सूक्ष्म निरीक्षण, वर्णन-कौशल सभी दृष्टियों से प्रभावपूर्ण है। ब्रजभाषा पर कवि का अधिकार है और उसने सस्कृत की तत्सम शब्दावली से अधिक लाभ नही उठाया। सेनापति रीतिकाल के प्रभाव को ग्रहण करते हुए अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय देते है। सेनापति अपने समय के श्रेष्ठ कवियों मे माने जाते है। 'कवित्तरत्नाकर' ही आपका उत्कृष्ट काव्य है।

२०. बिहारी

बिहारी का जन्म स० १६५२ में ग्वालियर मे हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराय था। ये केशवराय उन केशवराय से भिन्न थे जो कवि केशवदास के रूप मे प्रसिद्ध हुए। बिहारी की 'सतसई' (७१३ दोहो का सग्रह) रीतिकाल की कृतियों मे सर्वाधिक प्रसिद्ध है। शृगाररस के विविध अगो को लक्ष्य मे रखकर इसके मुक्तक दोहो की रचना हुई और यह काव्य रचनाकाल से लेकर आज तक शृगारी काव्य के सहृदय पाठकों का प्रिय बना हुआ है।

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगे घाव करे गम्भीर॥

कवि अपने दोहो के इस गुण से परिचित था। दोहा जैसे लघु छन्द मे भाषा, भाव और शिल्प का ऐसा योग अन्यत्र नही मिलता। सस्कृत के आर्याछन्द और प्राकृत के गाथाछन्द की सरणि पर चलकर ही कवि ने अपने शृगारी दोहों की रचना की। मुक्तककाव्य के सभी गुण इन दोहों मे विद्यमान है। जिस दोहा छन्द मे तुलसी, जायसी और रहीम ने रचनाएँ कर यश अर्जित किया था, जिसमे कबीर की साखियाँ रची गयी थीं, उसी दोहा छन्द में बिहारी ने शृगाररस की स्वयंपूर्ण इकाई के रूप मे अपने इस मुक्तककाव्यसग्रह की रचना की। भावपक्ष और कलापक्ष दोनो का चरमोत्कर्ष सतसई के दोहो मे देखते ही बनता है। इस सतसई को सहृदय-समाज ने शीघ्र ही अपना लिया। इसके अनुकरण पर कई सतसइयो की रचना हुई। इसके भावो का पल्लवन करते हुए अनेक कवियो ने अनेक छन्दों मे रचना की; पर इसकी कसावट, सजावट और लालित्य के पास तक वे पहुँच नहीं सके। इस सतसई की अनेक टीकाएँ निकलीं और गद्यकाल मे भी इसके दोहों के काव्यगुणो को प्रकाशित करनेवाली व्याख्याएँ निकली। बिहारी और देव की तुलना करते हुए ही हिन्दी मे तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ हुआ। आधुनिक युग मे भी बिहारी के काव्य के प्रशंसको की कमी नही है। बिहारी कलाकार कवि है। उनका शिल्प-विधान पाठक को मोह लेता है। नायिकाभेद, नखशिख, नायिका के हाव-भाव, शृगारी चेष्टाओ और विरह के चमत्कृत वर्णनो से बिहारी पाठकों को विस्मयविमुग्ध कर देते हैं। बिहारी चमत्कार-

वादी, वक्रोक्तिवादी, रसवादी और मूलतः शृंगारवादी कवि के रूप में ब्रजभाषा के लौकिक कवियों में शीर्षस्थान के अधिकारी माने जाते है। बिहारी अपने ढग के एक ही कवि है-- उनके पहले हिन्दी मे ऐसा कोई कवि नही हुआ। उनके बाद इस शैली का अनुकरण करनेवाले अनेक हुए, परन्तु उनकी उच्चता तक कोई उठ नहीं सका।

२१. मतिराम

रीतिकाव्यधारा के प्रमुख कवियों में मतिराम का नाम लिया जाता है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने मतिराम नाम के दो कवियों की चर्चा की है। जो मतिराम चिन्तामणि और भूषण के भाई प्रसिद्ध हैं, उनके चार ग्रन्थों को--फूलमंजरी, रसराज, ललित- ललाम, सतसई--मिश्रजी ने प्रामाणिक माना है। दूसरे मतिराम 'अलंकार-पचाशिका', 'छन्दसारसग्रह' या 'वृत्तकौमुदी', 'साहित्यसार' और 'लक्षणशृंगार' रचयिता है। प्रथम और हमारे इष्ट मतिराम का जन्म सं० १६६० के आसपास माना जाता है और 'वृत्तकौमुदी' का रचनाकाल स० १७५८ है; अतः यह सन्देहास्पद है कि वृद्धावस्था में मतिराम ने ऐसा ग्रन्थ रचा होगा। मतिराम का ग्राम त्रिविक्रमपुर (=तिकवाँपुर, जि० कानपुर) है। कवि की प्रथम कृति 'फूलमंजरी' है। यह १८ वर्ष की अवस्था की कृति है। 'ललितललाम' दीवान भावसिंह के आश्रय में रचा गया है। मतिराम सतसई किसी अब तक अज्ञात राजा भोगनाथ के लिए लिखी गयी।

मतिराम की कविकीर्त्ति के आधार 'रसराज', 'सतसई' और 'ललितललाम' है। रसराज में नायक-नायिका-भेद, हाव-भाव और शृंगार के पोषक तत्त्वों का अत्यन्त मधुर वर्णन है। डॉ० भगीरथ मिश्र की शब्दावली में, "रसराज के नायक-नायिका अधिक चतुर और क्रियाविदग्ध न होकर अल्हड़, शिष्ट, सुकुमार एवं भावुक व्यक्ति है जिनकी भावनाओं में प्रभावशीलता तथा सहानुभूति जाग्रत करने की विशेषता है।" 'ललित-ललाम' में अलकारों के लक्षण और उदाहरण हैं। मतिराम के शृंगारी दोहों का सकलन ('सतसई') वि० १७४० के लगभग किया गया। यह 'बिहारी सतसई' के अनुकरण पर रचा गया है। दोहों के प्रमुख विषय नायिकाभेद, शृंगारी चेष्टाएँ और विरह हैं। बिहारी के बाद इस सरणि पर चलनेवाले कवियों में मतिराम को ही सुयश मिला। ब्रजभाषा का परिमार्जित रूप इनकी रचनाओं की विशेषता है। भाववैभव की दृष्टि से भी मतिराम रीतिकाव्यधारा के उच्चस्तरीय सुकवि है।

२२. देव

रीतिकाल के कवियों में देवदत्त (देव) बिहारी के समकक्ष प्रसिद्ध शृंगारी कवि हैं। इनके पिता का नाम बिहारीलाल था। ये बिहारीलाल 'सतसई' के रचयिता से

भिन्न थे। देव-रचित 'भावविलास' की कुछ प्रतियों में देव के जीवन के सम्बन्ध में यह जानकारी मिलती है।

शुभ सत्रहसै छियालिस, पढत सोरही वर्ष।
कढी देव मुख देवता, भावविलास सहर्ष।
द्योसरिया कवि देव को, नगर इटायो वास।
जोवन नवल सुभाव रस, कीन्हो भावविलास ॥

इन दोहों की बात को प्रामाणिक मानें तो देव का जन्म सं० १७३० मे हुआ था। डॉ० नगेन्द्र ने 'द्योसरिया' शब्द से उन्हे कान्यकुब्ज ब्राह्मण माना है जबकि अन्य विद्वान् उन्हें सनाढ्य मानते है। देव के वशज अब इटावा से ३० मील दूर कुसमरा गॉव में रहते है। देव के 'भावविलास' की सराहना दिल्ली-राजवंश के आजमशाह ने की थी। बाद मे भवानीदत्त वैश्य के आश्रय में 'भवानीविलास' और राजकुशल सिह के आश्रय मे 'कुशलविलास' इन्होने रचा। इसके पश्चात् भोगीलाल के आश्रय मे रहकर बहुत धन कमाया और उन्हें 'रसविलास' और 'जातिविलास' समर्पित किये। आपने अनेक राजाओं और सामन्तों के आश्रय मे रहकर धन और यश कमाया। अन्त में आपने अकबरअली खॉ के राजाश्रय मे रहकर उन्हे 'सुखतरग' समर्पित किया। रीतिकाल में हिन्दी के श्रेष्ठ कवियो को मुसलमान राजाओं ने भी आश्रय दिया, यह उनकी साहित्यिक और राजनीतिक उदारता का परिचायक है।

उक्त पुस्तको के अतिरिक्त कवि के ये ग्रन्थ प्रसिद्ध है—अष्टयाम, काव्यरसायन, सुजानविनोद, सुमिलविनोद, प्रेमचन्द्रिका, देवचरित्र और देवमायाप्रपंच नाटक।

देव ने शृंगार के रसराजत्व को पूर्णतः स्थापित किया। नायिका-भेद को आधार बनाकर कवि ने अपने प्रमुख काव्यो की रचना की है। शृगार के पर्याप्त विशद सागोपाग विवेचन और उसके सभी भेदों के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करने में देव को अभूतपूर्व सफलता मिली। हिन्दी मे देव को महाकवि के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रथम श्रेय मिश्रबन्धुओं को है और बाद डॉ० नगेन्द्र ने रीतिकाल की पृष्ठभूमि में देव के काव्य का समुचित और सन्तुलित मूल्यांकन किया। हिन्दी में देव और बिहारी की तुलना के क्षेत्र में अनेक विद्वानो ने कार्य किया। यह निर्विवाद है कि देव बहुमुखी प्रतिभा के कवि थे जिनका काव्य अपनी प्रौढता, मार्मिकता और कवित्व के कारण अत्यन्त प्रभावशाली है। यदि 'भावविलास' सचमुच १६ वर्ष के कवि की रचना है तो यह मानना ही होगा कि उनकी काव्य-प्रतिभा का उन्मेष यौवन के सोपान पर प्रथम चरण रखते ही हो चुका था। उनका 'सुखसागरतरग' डॉ० नगेन्द्र के अनुसार 'नायिका-भेद का विश्वकोश' ही है। 'जातिविलास' भी अपने ढंग की एक ही रचना है। मध्यकाल के राजकीय वैभवयुक्त विलासपूर्ण वातावरण के बीच शृंगारलीलाओं के वर्णन में कवि देव प्रवीण हैं। कवि का काव्यादर्श है—

बानी को सार बखान्यो सिंगार, सिंगार को सार किशोर-किशोरी।

देव का कविरूप अधिक विकसित और प्रौढ है। युग की प्रवृत्ति से प्रभावित होकर उन्होंने लक्षणग्रन्थों की रचना भी की; पर वे प्रकृत्या कवि है, रसिकों और सहृदयों के कवि। उनका आचार्यत्व कवित्वप्रधान माना गया है।

२२. घनानन्द

घनानन्द के जन्मसंवत् और चरित के विषय मे भी विद्वानों मे मतभेद है। इनकी रचनाओ में एक अन्य जैन कवि आनन्दघन कवि के छन्दो का मिश्रण भी हो गया है। इनके जीवन के विषय में अनेक किवदन्तियाँ प्रचलित है, जिनके आधार पर यह ज्ञात होता है कि किसी सुजान नामक 'तुरकिनी' वेश्या पर ये आसक्त थे। बाद मे भग्नप्रणय घनानन्द कृष्णभक्त कवि हो गये। शुक्लजी घनानन्द का जन्म सं० १७४६ के और प० विश्वनाथ मिश्र सं० १७३० के आसपास मानते है। घनानन्द जाति के कायस्थ थे, बुलन्दशहर के रहनेवाले थे और दिल्ली के बादशाह के दरबार मे नियुक्त थे। दिल्लीश्वर ने उनसे एक ध्रुपद सुनाने का आग्रह किया, पर कवि ने नही सुनाया। बाद मे अपनी प्रेमिका सुजान वेश्या के कहने पर ही सभा मे ध्रुपद सुनाया। इसपर वे सभा से निकाल दिये गये और बादशाह के कोपभाजन बने। वहाँ से वे वृन्दावन आये और सुजान की छाप देकर कवित्त और पद बनाकर कृष्ण की भक्ति के रंग मे रँग गये। गोस्वामी राधाचरण ने उनसे सम्बद्ध घटनाओं पर इंगित करते हुए लिखा है—

दिल्लीश्वर नृप निमित एक ध्रुपद नहिं गायौ।
पै निजधारी कहे सभा कौ रीझि रिझायौ॥
कुपित हो नृप दिये निकास वृन्दावन आये।
परम सुजान सुजान छाप पद कवित बनाये।
नादिरशाही ब्रजरज मिले किय न नेक उच्चाट मन।
हरिभक्त बेलि सिंचन करी घनआनँद आनन्दघन॥

घनानन्द का वेश्यासक्त होना प्रसिद्ध है। सुजान के प्रति लौकिक प्रेम ही बाद में कृष्ण प्रेम मे परिणत हो गया। वे रसिक जीव थे। सुजान को ही अपना हृदय-सर्वस्व मानते थे। ऐसा लगता है कि सुजान ने इस प्रेमी कवि का साथ नही दिया और उन्हें भग्नहृदय होकर दिल्ली-दरबार से निकलना पडा। कहा जाता है कि वे बादशाह के मुन्शी थे।

व्रज में बसने के कुछ काल बाद मथुरापुरी को म्लेच्छों ने घेर लिया। इसी आक्रमण में वंशीवट के नीचे भक्ति में तल्लीन घनानन्द पर तलवार का प्रहार हुआ, जिससे उनकी मृत्यु हो गयी।

कवि ने अपनी प्रकृति का स्वयं परिचय इस प्रकार दिया है—

नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै।
जोग-वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद स्वरूप को जानै।
चाह के रंग में भाज्यौ हियो बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै।
भाषाप्रवीन सुछन्द सदा रहे सो घनजी के कवित्त बखानै।

घनानन्द प्रेम के कवि है, ब्रजभाषा मे प्रवीण है और स्वछन्द स्वभाव के है; प्रेम की पीर या विरह की व्यजना में बेजोड है। लाक्षणिक मुहावरे द्वारा प्रयोगो से पुष्ट उनकी काव्यभाषा बहुत उत्कृष्ट है। उनकी कविता का मर्म प्रेम की पीर का अनुभव करनेवाला ही समझ सकता है। वे रीतिकाल के अन्य कवियों के समान आचार्य बनने और लक्षणग्रन्थ रचने के प्रलोभन मे नही पडे। विशुद्ध प्रेम की मार्मिक व्यंजना मे ही उनकी रुचि थी। अपनी प्रेमिका के नाम को उन्होने अपने आराध्य कृष्ण का नाम मानकर कृष्णप्रेम को ही परवर्ती जीवन मे महत्त्व दिया। वे सच्चे प्रेमपथिक थे, जिन्होने प्रेम को ही भक्ति के रूप में व्यक्त किया।

२४. पद्माकर

रीतिकाल के अन्तिम महाकवि पद्माकर भट्ट का जन्मस्थान सागर है। ये मूलतः तैलंग ब्राह्मण थे, पर इनके पिता मोहनलाल भट्ट बाँदा के निवासी थे। अनेक विद्वानों के अनुसार इनका जन्म संवत् १८१० में हुआ और इनकी आयु ८० वर्ष रही। उस समय कम्पनी का राजत्व सुदृढ रूप में स्थापित हो चुका था। इन्होंने अनेक राजाओं के दरबारों में कवित्व के बल पर प्रचुर धन और सुयश कमाया। सरस्वती के इन कृपापात्र पर लक्ष्मी ने भी कृपा की। ये समृद्ध सामन्त के समान जीवन व्यतीत करते थे। हरिश्चन्द्र ने इनको महाकवि माना है और आरम्भ में इनसे वे प्रभावित दिखाई पडते है। पद्माकर के काव्यों में 'जगद्विनोद', 'पद्माभरण' और 'गंगालहरी' की बडी प्रसिद्धि है। 'हिम्मतबहादुरबिरुदावली' वीररस की उत्कृष्ट रचना है। 'जगद्विनोद' मे रसविवेचन और 'पद्माभरण' में अलङ्कारविवेचन हुआ है। 'पद्माभरण' में इनके स्वयंसृष्ट उदाहरण इतने सरस, सजीव और उत्कृष्ट है कि पाठक को ये कविरूप में ही अधिक प्रभावित करते हैं। पद्माकर ने प्रबन्धशैली में भी 'रामरसायन' नाम का एक काव्य वाल्मीकीय रामायण के आधार पर प्रस्तुत किया। मुक्तक काव्य–सवैया और कवित्त रचने में पद्माकर विशेष सफल हुए। अपने जीवनकाल में कवि को जैसा सुयश मिला वैसा किसी अन्य कवि को प्राप्त नही हुआ। रामचन्द्र शुक्ल ने ब्रजभाषा पर इनके अधिकार की बडी प्रशंसा की है। पद्माकर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि शृंगारी छन्दों के अतिरिक्त इनके भक्तिपूर्ण छन्दो में भी वैसी ही सजीवता, सरसता और हृदयस्पर्शिता विद्यमान है। शृंगार और भक्ति के भावों को चित्रात्मक भाषा में, चमत्कृत शब्दावली में व्यक्त करने में ये बड़े कुशल हैं। इनकी भाषा में अनुप्रास की छटा है,

वर्णन मे चित्रात्मकता है, शैली में वक्रता है और अलंकरण में मोहकता है। कुछ स्थानों मे शब्दों को तोडने या विकृत करने की प्रवृत्ति भी इनमें मिलती है, पर यह दुर्बलता या दोष तो सभी मध्यकालीन कवियों में वर्त्तमान है। शुक्लजी ने इनकी भाषा की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध-मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भाव-भरी प्रेममूर्त्ति खडी करती है, कही भाव या रस की धारा बहाती है, कही अनुप्रासों की मिश्रित झंकार उत्पन्न करती है, कही वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकडती और कड़कती हुई चलती है और कही प्रशान्त सरोवर के समान स्थिर और गम्भीर होकर मनुष्य-जीवन की विश्रान्ति की छाया दिखाती है।"

शब्द और अर्थ दोनों की युगपत् रमणीयता से ही कोई काव्य उत्तम माना जाता है। पद्माकर के काव्य मे दोनों गुण वर्त्तमान है। अनुप्रास-यमकादि से पुष्ट भाषा और भाव की दृष्टि से समृद्ध उनके काव्य मे पाठकों को विस्मयविमुग्ध करने की शक्ति है। उनकी भक्तिपूर्ण रचनाओं में भी शब्दालंकार और कलात्मकता की छटा देखते ही बनती है। वर्णन की कला और वक्रोक्ति के कारण उनके छन्द पाठकों को प्रिय लगते है। रीतिकालीन प्रवृत्तियों का पूर्ण उत्कर्ष पद्माकर के काव्य का प्रधान गुण है।

२५. हरिश्चन्द्र

काशी के एक समृद्ध वैश्य-परिवार में हरिश्चन्द्र का जन्म सं० १९०७ मे हुआ। २०वी शताब्दी का आरम्भ हिन्दी-क्षेत्र के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो के साथ हुआ। हिन्दी-प्रदेश के विद्यालयों में हिन्दी का प्रवेश, समाचारपत्रों का प्रकाशन, नवयुग के आगमन का बोध, पूर्व और पश्चिम का सांस्कृतिक आदान-प्रदान यह सब स० १९०० के बाद ही आरम्भ हुआ। हरिश्चन्द्र के पिता श्री गोपाल चन्द्र स्वय सुकवि थे। उन्होंने 'नहुष' नामक एक नाटक भी रचा था। पिता के संस्कार बचपन मे ही हरिश्चन्द्र में अंकुरित हुए। कविता और कलाओं से प्रेम हरिश्चन्द्र को बीजरूप में पिता मे ही प्राप्त हुए थे। हरिश्चन्द्र ने विद्यालय में विधिवत् पढ़ने में उत्साह नहीं दिखलाया और उनकी शिक्षा बाधित हो गयी, पर बाद में कुशाग्रबुद्धि बालक हरिश्चन्द्र ने स्वाध्याय द्वारा संस्कृत और अनेक भारतीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। अपने समय के सबसे प्रगतिशील उच्चाधिकारी श्री शिवप्रसाद सितारेहिन्द से सम्पर्क स्थापित कर आपने अँगरेजी भी सीख ली। हरिश्चन्द्र ने किशोर वय में ही काव्यमन्दिर में प्रवेश किया और अपनी प्रतिभा से काशी के पण्डितों और समकालीन कवियों को चमत्कृत कर दिया। हरिश्चन्द्र ने रीतिकालीन काव्य के वातावरण में ही आँखें खोली थीं, शृंगारी सवैयों और कवित्तों के रसपूर्ण परिवेश में ही कविता-रचना आरम्भ किया था, पद्माकर-ठाकुर आदि प्रेमी रसिक

कवियों की लीक पर उन्होने चलने का निश्चय किया था। कवि हरिश्चन्द्र का प्रवेश इसी रूप में रसिकों अथवा सुकवि-समाज के बीच हुआ था। पर हरिश्चन्द्र का कुल वल्लभ के पुष्टिमार्ग में दीक्षित था, अतः उनमें प्रेममूला कृष्णभक्ति की ओर झुकाव स्वाभाविक था। हरिश्चन्द्र की आरम्भिक कविताधारा दो क्षेत्रों मे बहती है, शृंगार और भक्ति के क्षेत्र को वह सरस बनाती है। युवाकाल में कवि में रसिकता, मनोरंजनप्रियता और विलासिता प्रबल मात्रा में थी, अतः कवि ने प्रेम के मुक्तकछन्दों की धारा बहायी। कवि ने कवितादेवी की उपासना शुद्ध हृदय से की और सुकिवयों के पोषण और संवर्द्धन के हेतु अपनी सम्पदा का यथेष्ट उपयोग किया। हरिश्चन्द्र रसिक कवि के रूप में उदित हुए और अपने सरस सवैयों द्वारा शीघ्र ही सुकवि के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

हरिश्चन्द्र के उदय के कुछ काल बाद ही हिन्दी-प्रदेश में प्राचीन और नवीन के संघर्ष का नाद गूँजने लगा। भारत का पूर्वाचल बंगाल नवीन जागरण से बदल रहा था, उसका साहित्य करवट ले रहा था, वहाँ नया प्रकाश फैल रहा था; पर हिन्दी-क्षेत्र अभी पुराने ढर्रे पर ही चल रहा था। इसके साहित्य में नवागत परिवर्तनों का कोई चिह्न प्रकट नही हो रहा था। हरिश्चन्द्र प्रथम व्यक्ति थे, जिन्हें इन परिवर्तनों का आभास हुआ, नवजाग्रत बंगाल के सुधारवादी आन्दोलनों का परिचय हुआ और वहाँ के नये साहित्य से प्रेरणा मिली। हरिश्चन्द्र के मानस में नवीन देशबोध और समाजबोध का भाव उठने लगा और उन्होंने अपने साहित्य द्वारा देश को जगाने और उठाने का निश्चय किया। समाज और धर्म के ह्रास को देखकर वे क्षुब्ध हो उठे, देश के नैतिक और राष्ट्रीय पतन की व्यथा से वे कराहने लगे, उनकी मानसी व्यथा उनके नवीन काव्य और नाटकों के माध्यम से उमड़ पड़ी। शृंगारी और वैष्णव हरिश्चन्द्र अब भारतेन्दु के रूप में हिन्दी साहित्याकाश में उदित हुए। युगबोध से प्रेरित भारतेन्दु का प्रगतिशील साहित्य हिन्दी-भाषी समाज के लिए नवजीवनदाता हो गया। वे साहित्य में आधुनिकता के पिता और नवयुग के सन्देशवाहक हो गये।

हरिश्चन्द्र के दो रूप हैं—कभी वे पद्माकर आदि रीतिकवियों या कृष्णभक्त कवियों के साथ एक ही मंच पर खड़े दिखाई देते है और कभी वे सुधारवादी देशात्मकबोध की वाणी में अपने समाज को जगाते है। हरिश्चन्द्र नवीन और प्राचीन दोनों के सन्धिस्थल पर उदित होते हैं और उनके काव्य में राज्यभक्ति और देशभक्ति, धर्मनिष्ठा और सुधारप्रियता का मिश्रण है। उनके काव्य में प्राचीन रीति और नवीन चेतना दोनों की अभिव्यक्ति हुई है। वे हिन्दी में साहित्य की सभी विधाओ के प्रवर्त्तक हैं—नाटक, उपन्यास, कहानी, साहित्यिक पत्रकारिता सबके आरम्भकर्त्ता हरिश्चन्द्र ही है।

हरिश्चन्द्र हिन्दी के दुर्भाग्य से अल्पायु हुए। ऐसी बहुमुखी प्रतिभा का साहित्यिक विरले ही जन्म लेता है। जीवन के अन्तिम भाग में वे देश और समाज के प्रति इतने निष्ठावान हो गये थे कि ऐसा लगता था, मानो हिन्दी-क्षेत्र के नेता के रूप में वे ही स्वीकृत होंगे। यह कैसा संयोग कि जब कांग्रेस की स्थापना का प्रयत्न चल रहा था, उसके पूर्व ही हिन्दी-प्रदेश का यह महाकवि अस्तंगत हो गया।

वीर-काव्य

२६. भूषण

भूषण तिकवाँपुर (=त्रिविक्रमपुर, जिला कानपुर) के निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे। आपके मूल नाम का पता नहीं—'भूषण' नाम से ही प्रसिद्ध हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि आपके ही भाई थे सुकवि मतिराम और चिन्तामणि। आरम्भ में आप चित्रकूटपति रुद्र सोलकी के राजाश्रय में रहे और उन्होने ही आपको 'भूषण' उपाधि दी। बाद में आपने इतिहासप्रसिद्ध हिन्दू-वीर महाराज छत्रसाल और शिवाजी के आश्रय में अपने काव्य रचकर यश अर्जित किया।

आपके अब तक तीन ही काव्यग्रन्थ प्राप्त हुए है—१. शिवराजभूषण (रचनाकाल ज्येष्ठ कृ० १३, सं० १७३०)। यह अलंकारग्रन्थ है, जिसमें लक्षण दोहा में और उदाहरण प्रायः कवित्त और सवैयों मे रचित हैं। २. शिवाबावनी (५२ छन्दों में शिवाजी के विक्रम का यशोगान)। ३. छत्रसालदशक (१० छन्दों में छत्रसाल के शौर्य का यशोगान)।

रीतिकाल में वीररस के कवि भूषण शृंगारपरम्परा का त्याग कर, काव्य-शास्त्र के आधार पर वीररस की प्रशस्त रचना करनेवाले प्रथम कवि है। भूषण की विशेषता यह है कि कवि ने अपने चरितनायक छत्रपति शिवाजी को युद्धवीर, धर्म-वीर और दयावीर सभी रूपों में चित्रित किया है। आपने हिन्दूधर्म और 'हिन्दुवाना' के रक्षक शिवाजी को शिव का अवतार माना है। आप अपने इन वीर नायक को राम-कृष्ण के समान अवतारी पुरुष मानते हैं। आपकी भाषा में ओजगुण एवं परुष शब्दावली का चमत्कार है। ऐसा तेजस्वी और ओजस्वी कवि रीतिकाल में अन्य नही हुआ। आपके काव्य में कहीं-कहीं शृंगार एवं वीररस का मिश्रण भी हुआ; पर वीररस का सांगोपांग रूप आपकी रचनाओं में ही सुलभ है। वीररस के आप सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

२७. गोरेलाल

ये लाल कवि के नाम से भी प्रसिद्ध है। छत्रसाल के आश्रय में रहकर इन्होंने 'छत्र-प्रकाश' की रचना की। इन्हें छत्रसाल से कई गाँव मिले थे, जिनमें एक गाँव दुग्धा

है, जहाँ अब भी इनके वंशज बसते है ।

'लाल' कवि की एक ही रचना प्राप्त है—'छत्रप्रकाश' । यह दोहा-चौपाई मे रचित एक प्रबन्ध काव्य है । इसी पुस्तक से इस संग्रह में 'शिवाजी का उपदेश' अंश लिया गया है । शिवाजी और छत्रसाल को हिन्दू राज्य के रक्षक और उद्धारक के रूप में सर्वदा स्मरण किया जायगा । भूषण का काव्य इन दोनों हिन्दू वीरों के चरितगान से पावन हुआ है । 'छत्रप्रकाश' से ज्ञात होता है कि छत्रसाल शिवाजी को अपना नेता और राजनीति-गुरु मानते थे ।

'छत्रप्रकाश' इतिहास और काव्य दोनों दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है । इसकी ब्रजभाषा पर बुन्देली का प्रभाव भी स्पष्ट है ।

२८. सूदन

कवि सूदन ने अपने 'सुजान-चरित' में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

मथुरा पुर सुरधाम, माथुर कुल उत्पत्ति वर ।
पिता बसन्त सुनाम, सूदन जानहु सकल कवि ।।

इस सोरठे के अनुसार इनका जन्मस्थान मथुरापुरी, कुल माथुर और पिता बसन्त थे ।

कवि ने भरतपुराधीश सुजानसिंह का आश्रय ग्रहण किया । सुजानसिंह के जीवन की १८०२ से १८०० वि० के बीच की घटनाओं का उल्लेख 'सुजान-चरित' में हुआ है । अतः इनका जन्म अनुमानतः १७६० वि० के लगभग हो सकता है ।

सूदन में इतिहासनिष्ठा है—उनके वर्णन इतिहासविरुद्ध नहो है । अतिशयोक्ति करना कवि का स्वभाव होता है, अतः वर्णन में अतिरंजना स्वाभाविक है; पर सूदन ने इतिहास के तथ्यों में उलट-फेर नहीं किया है । वीरकाव्यप्रणेताओं में सूदन का स्थान उच्च है ।

नीति-काव्य

२६. रहीम

बादशाह अकबर के अभिभावक बैरम खाँ के सुपुत्र अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहीम' नाम से हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध हैं। अकबरी शासन के अनेक उच्चपदो पर आसीन होकर आपने राजसेवा की एवं राजकीय उलट-फेर के साथ आपके भाग्यचक्र ने कई परिवर्तन देखे । आप बहुभाषाविद् थे, अरबी-फारसी आदि के साथ आपने संस्कृत और हिन्दी में भी निपुणता प्राप्त की । आप ज्ञानवृद्ध और अनुभववृद्ध कवि थे । आप अपने समय में उदार साहित्यसेवी और कवियो के आश्रयदातारूप में प्रसिद्ध थे । अनेक

समकालीन कवियों ने इस सम्पन्न सामन्त की दानशीलता और गुणग्राहकता की प्रशंसा की है। आप स्वयं कवियों के आश्रयदाता और पुरस्कर्त्ता थे।

हिन्दी-संस्कृत-साहित्य के प्रभाव और समकालीन हिन्दी-कवियों के सम्पर्क के कारण आप पर हिन्दू विचारधारा का प्रभाव पड़ा और आप हिन्दू धार्मिक भावनाओं से पूर्णतः परिचित हो गये। अपनी कृतियों में आपने पौराणिक आख्यानो और प्रसंगो का ऐसा सुन्दर उपयोग किया है कि यह आभास भी नही होता कि आप इस्लामी संस्कृति के एक स्तम्भ और अकबरी दरबार के सामन्त थे। आप मुस्लिमदेशीय भाषाओं के पण्डित थे तथा भारतीय भाषाओं का भी आपको प्रचुर ज्ञान था। अपने समय में आप बहुभाषाविद् के रूप में प्रसिद्ध थे।

अनुश्रुति यह है कि रहीम कृष्णभक्त थे। आपकी रचनाओं में पौराणिक प्रसंगों को देखकर हिन्दू पाठक विस्मित हो जाता है।

धूर धरत निज शीश पर, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि पत्नी तरी; तेहि ढूँढ़त गजराज।
अच्युत चरण तरंगिणी, शिव सिर मालतिमाल।
हरि न बनाओ सुरसरी, कीजै इन्दव भाल।

इस प्रकार के दोहों को पढ़कर कौन पाठक यह जान सकेगा कि यह एक 'खान-खाना' की रचना है, किसी हिन्दू भक्तकवि की नही।

रहीम संस्कृत-काव्य की सूक्तिशैली से विशेष प्रभावित जान पड़ते है। आपके नीति के दोहों में सूक्ति के गुण विद्यमान है। स्वच्छ-सरल भाषा में भावों की अभिव्यक्ति के कारण आपके दोहों का विशेष प्रचार है। आपके दोहों में वचनवक्रता और स्वानुभव की छाप है। सस्कृत में भर्तृहरि के 'नीतिशतक', 'चाणक्यशातक' और भक्ति की सूक्तियों से रहीम विशेष प्रभावित जान पड़ते हैं। रचना अल्प होने पर भी आप भर्तृहरि के समान लोकप्रिय है। हिन्दू देवविधान से आप सुपरिचित हैं और विष्णु, शिव, गंगा इत्यादि आपके द्वारा वर्णित अनेक आख्यानों और प्रसंगों से ऐसा भ्रम होता है कि कवि हिन्दू रंग से रँगा हुआ है। रहीम और रसखान दो ही ऐसे मुसलमान कवि हैं जो अपनी रचनाओं से पकड़ में ही नहीं आते कि वे मुसलमान हैं। तुलसी से रहीम की बन्धुता, इनके उदार स्वभाव और गुण का परिचायक है। रहीम ने ही बरवै छन्द को सर्वप्रथम सर्वप्रिय बनाया और कहा जाता है कि इनके बरवै से प्रभावित होकर तुलसी ने 'बरवै रामायण' की रचना की थी। शुक्लजी के शब्दों में—"तुलसी के वचनों के समान रहीम के वचन भी हिन्दीभाषी भूभाग में सर्वसाधारण के मुँह पर रहते हैं। इसका कारण है जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव। रहीम के दोहे वृन्द और गिरिधर के पद्यों के समान कोरे नीति के पद्य नहीं हैं। उनमें मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है...रहीम का हृदय द्रवीभूत होने के लिए

कल्पना की उड़ान की अपेक्षा नही रखता था। वह संसार के सच्चे और प्रत्यक्ष व्यवहारों में ही अपने द्रवीभूत होने के लिए पर्याप्त स्वरूप पा जाता था।"

रहीम की कविताओं का संकलन 'रहीम-रत्नावली' (सम्पादक श्री मायाशंकर याज्ञिक) और 'रहीमविलास' (सं० श्री ब्रजरत्न दास) नाम से प्रकाशित हुआ है।

३०. वृन्द

वृन्द मेडता (जोधपुर) के निवासी थे। दस वर्ष की अवस्था में आप काशी में विद्याध्ययन के लिए आये। घर लौटने पर राजा जसवन्तसिह ने आपका सम्मान किया। बाद में आप औरंगजेब के पौत्र अजीमुश्शान के शिक्षक नियुक्त हुए। जीवन के अन्तिम भाग में आप किशनगढ़ के राजा किशनसिह के आश्रय में रहते थे।

वृन्द अपने नीति के दोहों के लिए प्रसिद्ध है। 'वृन्दसतसई' नीति की सतसई (सात सौ दोहों का संग्रह) है। कवि की अन्य रचनाएँ प्रसिद्ध नहीं है। इन रचनाओं में कुछ श्रृंगाररस और नायिकाभेद की भी है। कवि की ११ रचनाएँ प्राप्त है, जिनमें मुख्य है-- वृन्दसतसई, भावपंचाशिका, श्रृंगारशिक्षा, हितोपदेशसन्धि, हितोपदेशाष्टक और पवनपचीसी। इनमें अनेक अप्रकाशित है।

३१. गिरधर कविराय

कवि गिरिधर या गिरधर के जीवन-विवरण का प्रामाणिक ज्ञान हमे नही है। ये अवधवासी जान पड़ते है। 'शिवसिह सरोज' में इनका जन्म सं० १७७० दिया गया है। इनकी रचनाएं पूरब की ओर (अवधी,और भोजपुरी क्षेत्र में) अधिक प्रचलित हैं। गिरधर 'कविराय' कहलाते हैं, अतः अनुमान है कि ये जाति के भाट थे। इन कवि को कुंडलिया लिखने में ऐसी लोकाख्याति मिली कि कुंडलिया की चर्चा चलते ही जबान पर इनका नाम आ जाता है। काव्यगुण की दृष्टि से गिरधर सामान्य स्तर के कवि है और इनकी रचनाएँ ग्रामीण जनता के बीच अधिक प्रचलित हैं।
